कबीर-ग्रंथावली

भाग १

साखी

[विवृति—व्याख्यासहित]

भाष्यकार

डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त

भाषा-साहित्य-संस्थान
७/२६४ त्रिवेणी रोड, इलाहाबाद
फोन 602892

कबीर-ग्रंथावली

भाग 1

साखी

पाठ : कबीर-ग्रंथावली, श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

सहायक ग्रंथ—कबीर-ग्रंथावली, माता प्रसाद गुप्त, 1969

भाष्यकार

डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त

[भूतपूर्व अध्यक्ष, हिंदी विभाग—]

रचयिता

* वैष्णव कबीर (पुरस्कृत)
* कबीर-काव्य : प्रतिभा-संरचना

भाषा-साहित्य-संस्थान

147/249 त्रिवेणी रोड, बाई का बाग, इलाहाबाद—3

फोन 602892

प्रकाशक :
भाषा-साहित्य-संस्थान
147/249 त्रिवेणी रोड, बाई का बाग, इलाहाबाद—03

प्रथम संस्करण—2 अगस्त 1992 (आनन्द का जन्म दिन)

मूल्य— 45—00
पक्की जिल्द 70--00

वितरक : जयभारती प्रकाशन, कीडगंज, इलाहाबाद

मुद्रक :
उत्तम प्रिंटिंग प्रेस
94-खरकोनी, नैनी, इलाहाबाद

KABIR-GRANTHAWALI
PART I—SAKHI
by. Dr. Gupta, HARIHAR PRSAD

पाठ—सूची

साखी

पुण्यश्लोक धर्मात्मा

बाबा—श्री नारायणदास साहु

पिता—श्री मोहन लाल गुप्त

जन्म—ज्येष्ठ कृष्ण 8 सं० 1944 वि०

निधन—सावन सुदी 12 सं० 2010 वि०

माता—यशोदा देवी

निधन—कातिक बदी 5, संवत् 2023 वि०

पत्नी—लक्ष्मी देवी

निधन—31 मार्च 1985 ई०

अग्रज—डॉ० माता प्रसाद गुप्त

जन्म—3 जून 1909 ई०

निधन—10 अक्टूबर 1969 ई०

अनुज—श्रीराम गुप्त

निधन—23 जनवरी 1987 ई०

छोटा पुत्र—आनन्द प्रकाश गुप्त

जन्म—2 अगस्त 1945 ई०

निधन—27 मई 1991 ई०

को

सश्रद्ध समर्पित

जन्म—माघ सुदी 1 सं० 1968 वि०

[20 जनवरी 1912 ई०]

जन्मस्थान-मुँगरा बादशाहपुर (जौनपुर, उ० प्र०)

हरिहर प्रसाद गुप्त

147 त्रिवेणी रोड, इलाहाबाद—03

2 अगस्त 1992

शब्द-सूची

[साखी-संख्या के अंतर्गत विवृति-व्याख्या देखें]

अ

आ

छ

ज

झ

ट

ठ

ड

ढ

त

थ

द

ध

य

र

ल

व

स

माई

यशोदा

1/ कबीर की संवेदना : सामाजिक और धार्मिक यथार्थ

कबीर का काल धार्मिक सामाजिक पुनुरुत्थान अथवा नव जागरण का था । कबीर-काल दो संस्कृतियाँ के मिलन से उत्पन्न तनाव का था । दो संस्कृतियों के संगम से हर क्षेत्र में परिवर्तन एक सहज परिणाम था । जीवनदृष्टि, जीवनपद्धति और विचारों में एक क्रांति अपेक्षित थी । मूल्यों में बदलाव स्वाभाविक था । जिस प्रकार आज विज्ञान और धर्म में तनाव है—न हम विज्ञान को छोड़ सकते हैं और न धर्म (आचरण) को—एक ओर जड़ जगत् के परमाणु को तोड़कर हमने अद्भुत आणविक शक्ति अर्जित कर ली है दूसरी ओर चेतना-विवक-धर्म-आस्था-सदाचार-पारस्परिक प्रेम, समता, संवेदना से हम कटते जा रहे हैं । हम विज्ञान-विवेक के समन्वय की खोज में तत्पर हैं । विज्ञान ने हमें सारी सुविधाएँ दी हैं—विनाश और निर्माण दोनों की कुंजी हमारे पास है और धर्म ने सम्यक् आचरण, विश्व बंधुत्व, सर्व भूतहित की चेतना जगाई है ।

कबीर-युग में विज्ञान और धर्म के बीच तनाव नहीं था । उस समय परंपरागत रूढ़िवादी जीवन, शास्त्रवादी चिंतन, निष्प्राण धर्म, सेवा-समतारहित आदर्श और सर्वधर्मसमभाव, अभेद दृष्टि, आंतरिक पवित्रता, सहज स्वानुभूति, विवेकपूर्ण चेतना के बीच तनाव था । वेद-उपनिषद के पंडित शास्त्रार्थ करना जानते थे जीवन जीना नहीं; ब्रह्म को सत्य मानकर भी, अद्वैतवाद की बात करके भी, वे अज्ञानी-असाधु थे । परस्पर घृणा के वे पोषक थे प्रेम के नहीं ।

मुसलमान विदेशी थे, उनकी संस्कृति सर्वथा भिन्न थी, वे तलवार के बलपर अपने धर्म को फैलाने के लिए कृतसंकल्प थे, अपने मजहब के आगे किसी मजहब की अच्छाई स्वीकार करना उनके स्वभाव में न था । उनकी दृष्टि में उदारता, करुणा, दया, मैत्री, समता, सहिष्णुता, सहयोग का अभाव था । धर्म के प्रति कट्टरता उनका स्वभाव था । धर्म और जीवन में कोई संतुलन न था । ईश्वर में विश्वास करके भी वे हिन्दुओं को हेय दृष्टि से देखते थे । ईमान-सच्चाई पर उनके धर्म में बल था पर वे घृणा भाव से भरपूर थे—अपना धर्म फैलाने अथवा हिन्दुओं को जबरन मुसलमान बनाने के लिए वे क्रूर थे । मानवी मूल्यों के प्रति वे अंधे थे—स्वतंत्रता, समता, सहिष्णुता, धार्मिक-सामाजिक उदारता के प्रति वे उदासीन थे । शारीरिक बल और अस्त्र-शस्त्र से अत्याचार करना ही उनका लक्ष्य था । मंदिरों को ध्वस्त करना, महिलाओं का सतीत्व नष्ट करना, धर्मप्रसार के लिए अपढ़-निर्धन-असहाय को मजबूर करना उनके धर्म का अंग था । हृदय की शुद्धता और विवेक महत्वहीन थे उनके लिए । हाँ, उनकी संकीर्णता के विरोध में सूफी हुए ।

कबीर ने हिन्दुओं मुसलमानों दोनों की जीवन पद्धति देखी, दोनों के खोखलेपन को समझा, दोनों को सत्य से दूर पाया । दोनों ईश्वरवादी होते हुए ईश्वर की संतान को

अभेद दृष्टि से नहीं देखते थे। एक के लिए मंदिर महत्वपूर्ण था दूसरे के लिए मस-जिद। धर्म और जीवन-प्रक्रिया में समन्वय नहीं था। दोनों ज्ञान छाँटते थे; पर वह शास्त्र-कुरान के पन्नों तक ही सीमित था। धर्म गुरुओं की कट्टरता से हिन्दू-मुसलमानों के बीच खाई बढ़ती जा रही थी। कबीर को इस धार्मिक-सामाजिक यथार्थ से जूझना था। एक ऐसा मार्ग चाहिए था जो ईश्वर में विश्वास रखकर दोनों धर्मों के बाहरी झगड़े का उन्मूलन करे। पण्डित काजी सब को सचाई की ओर मोड़ा उन्होंने।

कबीर प्रतिभासम्पन्न थे, विचारक थे, चिंतक थे, जागरूक थे, संवेदनशील थे। उन्होंने अनुभव किया दो सभ्यतायें टकरा रही हैं, दो संस्कृतियों में तनाव है। इस तनाव से मानव-निर्माण की जो संभावनाएँ हैं उनका उपयोग होना चाहिए। उन्होंने देखा हिन्दू-मुसलमान दोनों को मिलकर रहना है पर यह संभव तभी है जब दोनों रूढ़िवादिता और धार्मिक अंधता को त्यागकर समता और अभेद दृष्टि को अपनावें; जब दोनों घृणा-द्वेष-अविश्वास का परित्याग कर एकता को अपनावें। कबीर ने समझ लिया कि भेद पैदा करनेवाले विनाशकारी भावों से मुक्ति पाना ही एकमात्र उपाय है शांति और सद्भाव से रहने का, किसी जीवन पद्धति को हठपूर्वक श्रेष्ठ कहना पारस्परिक भेदभाव को बढ़ाना है। मुसलमानों को यह हठ छोड़ना होगा कि उनका धर्म ही एक मात्र धर्म है और सबको मुसलमान बन जाना चाहिए। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि हिंदुओं को इस सांस्कृतिक संगम को स्वीकार कर अपनी रूढ़िवादिता को छोड़ना होगा। हिंदू, हिन्दू को ही भेद दृष्टि से देखता है यह कैसा अद्वैतवाद है। यह धर्म का पतन है। व्यावहारिक जीवन में शुद्ध होना पहली अपेक्षा है। धर्म में कोई नीच नहीं, कोई ऊँच नहीं। सारे मनुष्य ईश्वर के यहाँ समान हैं। प्रकृति सब को एक ही ढंग से जन्म देती है, भेद मनुष्य की देन है, कोई धर्म भेद नहीं सिखाता, कोई भी धर्म घृणा को बढ़ावा नहीं देता, कोई भी धर्म यह नहीं कहता कि ईश्वर केवल मंदिर-मसजिद में है। वही राम है वही अल्लाह है। वही गुरु है। वही पार लगाने वाला है। वही मुक्तिदाता है। वही सब कुछ है। वही निराकार है। वही सत्य। वही निरंकार है। वही केशव, वही गोविन्द। नाम-भेद का कोई अर्थ नहीं। सत्य एक है। सत्य को पहचानने के लिए प्रेम, दया, समभाव को अपनाना होगा। माला, तिलक, नमाज, पूजा-अरचा बाह्य उपकरण हैं। हृदय की निर्मलता जीवन और धर्म का मूल है। कबीर कहते हैं बाहर नहीं भीतर देखो—बाह्य शुचिता नहीं भीतरी पावनता अपेक्षित है। कबीर ने धर्म के मूल को पकड़ा। जीवन का मूल सत्य है, आडंबर नहीं। ईश्वरभक्त वीर होता है, भय नहीं जानता वह। वह पतिव्रता की भाँति एक ही धर्म जानता है, ईश्वर के प्रति समर्पण। कबीर सग्रह में नहीं दान में आस्था रखते हैं। कबीर मानते हैं कि ये महल, ये मंदिर, ये मसजिद, यह दौलत, यह अहंकार साथ नहीं देता है। अपना साथी सत्य है, ईमानदारी है, जनजन की सेवा है। कबीर ने घृणा को प्रेम से, अविश्वास को विश्वास से, नास्तिकता को आस्तिकता से, स्व को पर से परिशुद्ध किया।

कबीर को मैं युगचेता, युगस्रष्टा मानता हूँ। कबीर ने समय के चैलेंज को बहादुरी और समझदारी से स्वीकारा—महान् वही है जो यथार्थ को पहचानकर जीवन मूल्यों की रक्षा कर सके। कबीर सच्चे प्रगतिवादी थे। उनके युग का यथार्थ था दो सांस्कृतिक जीवन शैलियों का संघर्ष। संघर्ष ही धर्म संस्थापक, चिंतक अथवा नेता को जन्म देता है। कबीर, सूर-तुलसी से इस दृष्टि से महान् हैं कि उन्होंने समय को पहचाना और तत्कालीन यथार्थ से वे भरपूर जूझे। सूर-तुलसी, अपेक्षाकृत, शांत युग की देन है। कबीर कृष्ण काव्य नहीं रच सकते थे और न मर्यादा रक्षक राम का ही स्तवन कर सकते थे। कबीर यथार्थ के कवि हैं—यथार्थ के प्रति अत्यधिक संवेदनशील। कबीर ने प्रकृति का चित्रण नहीं किया, कबीर ने महाकाव्य नहीं रचा, कबीर ने तत्कालीन गरीब-शोषित जनता की कविता नहीं रची—यह समय की माँग न थी। कबीर के समय कारखाने न थे, मजदूर-मालिक का वर्गसंघर्ष न था और न आर्थिक समानता की अपेक्षा थी। अपेक्षा थी उस मानसिक तैयारी की जिससे दो विपरीत धर्मावलम्बी परस्पर सहयोग-अहिंसा भाव से रह सकें। कबीर धर्म-वर्गों में घृणा उत्पन्न करने के पक्षधर न थे—उनका बल अभेद भाव पर था। बाह्य संघर्ष की जगह उन्होंने आंतरिक संघर्ष की यथार्थता को समझा और साखी के माध्यम से समता, स्नेह, सद्भाव, त्याग, अपरिग्रह आदि सर्जनात्मक मूल्यों की स्थापना की।

कबीर सच्चे अर्थों में धर्मसंस्थापक थे। जीवन मूल्यों का जब-जब ह्रास हुआ है समय ने, जनता को जागरूक बनाने के लिए, किसी महान् को जन्म दिया है। कबीर तत्कालीन समय की देन हैं। कबीर रचनात्मक धर्म के प्रतिष्ठाता हैं। कबीर-काव्य की महत्ता रस-छंद-अलंकार-गुण में नहीं, वे रसात्मक काव्य के कवि नहीं, औचित्य भी उनकी कसौटी नहीं, उनके काव्य का अंगीरस न श्रृङ्गार है, न वीर, न शांत और न करुण। कबीर भावों के कवि हैं—उन भावों के जो जीवन जीने के लिए अनिवार्य हैं। कबीर उस यथार्थ का अंकन नहीं करते जो आज का प्रगतिवादी करता है। कबीर उस भाव का संप्रेषण करते हैं जिसको वे आस्थावादी धार्मिक सदाचारी व्यक्ति के लिए अपेक्षित मानते हैं। कबीर एक ओर समाज से जूझते हैं दूसरी ओर अपने भीतर के शत्रुओं—कामक्रोध-लोभ-मोह—से। उनके लिए काशी मगहर समान हैं यदि आंतरिक शुद्धि हो। उनका बल सच्ची अनुभूति पर है। उनका सबद प्रेम से, रमैनी आस्था से, साखी संवेदना से भरी है। उनका एक ही उपदेश है अपने भीतर के चोरों से जूझो, मन्दिर-मसजिद वेद-कुरान के लिए न लड़ो।

कबीर मोमिन थे, जुलाहे थे। वे जानते थे कि मुसलमान में भी कोई ऊँच माना जाता है कोई कमीन—जुलाहा-धुनिया निम्न वर्ग में हैं। कबीर को यह भेद खटकता था। उनकी मान्यता थी कि ईश्वर के यहाँ सब बराबर हैं—जन्म से कोई

ऊँच या नीच नहीं। हिन्दू-मुसलमान तो इस धरती की देन हैं। ब्राह्मण-शूद्र पारिवारिक जन्म से कहे जाते हैं। ईश्वर के लिए हृदय की पवित्रता चाहिए—हृदय जितना ही निर्मल होगा उसमें दिव्य गुणों की छाया उतनी ही स्पष्ट होगी। कबीर मुसलमान थे इसलिए वे मुसलमानों को, उनकी कमजोरियों के लिए फटकार सके। कबीर अद्वैतवाद के समर्थक थे—वे हिन्दुओं को भी उनके भेदभाव की नीति के लिए तिरस्कृत करते रहे। पंडित-मौलवी होने से बढ़कर मनुष्य होना है, यह कबीर की मान्यता थी। जो आचरणभ्रष्ट है वह आस्तिक होते हुए भी नास्तिक से गया गुजरा है। हिन्दुओं में धर्म कर्मकाण्ड के रूप से रह गया था। इससे वह निष्प्राण हो चुका था। नामदेव, रामानंद सभी ने कर्मकाण्ड का, जाति-पाँति का खुलकर विरोध किया था—कबीर ने उसी की पुष्टि की। कबीर मानते थे कि मुक्ति जाति विशेष के लिए नहीं सब के लिए है। वे पंडितों, जैनियों, बौद्धों सभी को मानव बनने की पर सीख देते थे। तीर्थाटन, यज्ञ, पूजा, शास्त्र गौण है, मुख्य है भीतरी शुद्धि। लोभ-मोह मत्सर न छोड़ सकनेवाला रामजन नहीं। कबीर का सारा साहित्य समता पर बल देता है। कबीर के समय की सबसे बड़ी अपेक्षा यही थी।

एकता के लिए सदा प्रयास हुए हैं, आज भी हो रहे हैं क्योंकि मनुष्य-मनुष्य को मिलकर रहना है। मानव सम्बन्धों का सुख इस धरती का सब से बड़ा सुख है। कबीर ने इस सहज सम्बन्ध को छिन्न-भिन्न होते देखा। इसकी सुरक्षा उनके जीवन का मिशन बन गया। कबीर ने जन-जन के मन को छोटे-मोटे सांसारिक झगड़ों से हटाकर अध्यात्म की ओर मोड़ा यही, उनकी सफलता है। कबीर ने हिन्दुओं-मुसलमानों को समझाया—सत्य के लिए परम यथार्थ का अनुभव करना होगा, सांसारिक स्वार्थों में समय नष्ट न कर विवेकयुक्त विचार धारा की ओर मुड़ना होगा। उन्होंने दोनों वर्गों को यह ज्ञान दिया कि ईश्वर के नाम पर लड़ने में धर्म और अध्यात्म नहीं है, अध्यात्म है ईश्वर को समर्पित कर उसका सच्चा भक्त बनने में। ईश्वर परस्पर लड़ना नहीं सिखाता, ईश्वर घृणा-हिंसा नहीं सिखाता। ईश्वर प्रेम है, सत्यानुभूति है, सेवा है, समत्व है। भक्त का धर्म है आत्म शुद्धि, चारित्रिक शुद्धि और उदात्त जीवन। कबीर का ब्रह्मज्ञान आचरणपरक था। कबीर का ज्ञानमार्ग हृदय की पवित्रता से सम्बन्धित था हठयोग से नहीं; वह प्रेम और उदारता के आधार पर खड़ा था शास्त्र पर नहीं। वस्तुतः, कबीर को ज्ञानमार्गी न मानकर लोकधर्मी मानना चाहिए—उनकी दृष्टि ईश्वर और लोक के समन्वय पर थी। कबीर धर्म सुधारक नहीं थे—उन्होंने धर्म के मूल को पकड़कर सच्चे मानव धर्म को स्थापित करने के प्रयत्न किए।

कबीर का विरोध सगुण राम से नहीं—कबीर मानते थे कि परस्पर प्रेम-सद्भाव के लिए राम, केशव, गोविंद, सिरजनहार को नहीं छोड़ा जा सकता। प्रेम के लिए ईश्वर को पति, सखा, प्रेमी मानना होगा। कबीर अपना सादृश्य पातिव्रत धर्म पालन

करने वाली नारी से देते हैं। वे राम के साथ रमण करते हैं—उनसे एक होते हैं। यही ऐक्य आदर्श है जीवन का। भेद, ज्ञान से नहीं प्रेम से विनष्ट हो सकता है। व्यावहारिक जीवन आशा, उत्साह, आनंद, प्रेम से ही सम्भव है, शास्त्र ज्ञान से नहीं। यथार्थ जीवन में ज्ञान धरा रह जाता है प्रेम ही काम आता है। कबीर की वाणी में जो कटुता है, जो तीखापन है, जो व्यंग्य है, जो स्पष्टवादिता है वह कबीर की सच्चाई का प्रमाण है; वह इसका प्रमाण है कि कबीर कितने व्यग्र थे जन-जन में सद्भाव, प्रेम, सहिष्णुता के लिए। कबीर समर्पित थे मानवीय अथवा दिव्य गुणों के लिए। कबीर का लक्ष्य पंथ चलाना नहीं था, कबीर का लक्ष्य था आध्यात्मिक क्रांति। कबीर आभिजात्य और उपेक्षित वर्ग की खाईं को समाप्त करना चाहते थे चाहे वह हिन्दुओं में हो अथवा मुसलमानों में। कबीर "संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी" के आडंबर से दूर रहना चाहते थे। वे सहज थे और सहजता में उनकी आस्था थी।

शुक्ल जी ने निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी शाखा में कबीर की गणना की है। उनका मत है, "इस शाखा की रचनाएँ साहित्यिक नहीं है—फुटकल दोहों या पदों के रूप में हैं जिनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटांग हैं।...भक्ति रस में मग्न करनेवाली सरसता भी बहुत कम पाई जाती है।...संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं जो शिक्षित समाज को आकर्षित करता।" पर कबीर मस्तिष्क से संस्कृत व्यक्ति को नहीं हृदय से संस्कृत व्यक्ति को ऊंचा मानते थे, कबीर का बल लोक-कल्याण पर था। कबीर लोक रक्षक, लोक रंजक राम का ही गीत गाते तो यथार्थ से कट जाते। कबीर आत्म सुधार के लिए सब को प्रेरित करना चाहते थे—राम भरोसे बैठने के पक्षधर नहीं थे। कबीर आदर्शवादी-मर्यादावादी नहीं, यथार्थवादी थे। कबीर की भक्ति 'श्रद्धा या पूज्य बुद्धि' पर आधारित नहीं थी, वह समाजपरक थी। 'श्रद्धा और पूज्य बुद्धि' से वे समाज को क्रांति की ओर नहीं अग्रसर कर सकते थे। 'पूज्य बुद्धि' उन्हें पंडितों-ब्राह्मणों के कोरे शास्त्रज्ञान का मखौल उड़ाने से रोकती; वे मुल्लाओं को आड़े हाथ नहीं ले सकते थे; कबीर तब विवश होते बादशाह की स्तुति के लिए। कबीर मानवता-समता के प्रति पूज्य भाव रखते थे—किसी ऊँची जाति, ऊँचे विद्वान् के प्रति नहीं। कबीर की संवेदना पिछड़े समाज अथवा उपेक्षित वर्ग के प्रति थी। कबीर 'मर्यादा' को नहीं तत्कालीन समाज की समस्याओं को महत्व देते थे। वे समाज के कल्याण और जागरण के लिए व्यग्र थे। वे परिवर्तन में विश्वास करते थे, रूढ़ि में नहीं। अतः मर्यादावादी दृष्टिकोण से कबीर का मूल्यांकन नहीं हो सकता।

कबीर की वाणी 'संस्कृत' नहीं। कबीर की 'संस्कृत बुद्धि' की धारणा विद्या-बुद्धि-सम्पत्ति-बड़प्पन पर नहीं आधारित थी। कबीर को महावीर-बुद्ध की भाँति 'संस्कृत वाणी' को छोड़कर जनभाषा को अपनाना पड़ा। कबीर की रचनाएँ रस-अलंकार

से युक्त 'साहित्यिक' नहीं, वे समाज हित की हैं, वे प्रेरणा के स्रोत हैं, मानव को सम्यक् दृष्टि देनेवाली हैं। कबीर साधक थे—अपने हृदय-दर्पण को सतत माँजते थे। अहंकार, गर्व को निर्मूल करने के लिए कबीर से बढ़कर दूसरा कवि नहीं। तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' का पूर्व रूप कबीर के पद हैं। सूर के विनय के पद आत्मशुद्धि से ही सम्बन्धित हैं। इस दृष्टि से सन्त कबीर-सूर-तुलसी समान धरातल पर हैं।

कबीर के सम्यक् मूल्यांकन के लिए साहित्य की घिसी-पिटी परिभाषा को अस्वीकार करना होगा—साहित्य वही नहीं जो नौ रस और अलंकार की सीमा में आता हो। साहित्य वही नहीं जो 'लोकरक्षक' का चरित काव्य हो, साहित्य को जन-जन के मनोभावों से जोड़ना होगा। साहित्य वह है जो संवेदनायुक्त हो—जिसमें यथार्थ को नकारा न जाय, जिसमें मानव जीवन के तनावों-संघर्षों का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण हो। साहित्य वही है जो 'आत्म-गौरव', आत्म-विश्वास और संघर्ष की शक्ति को विकसित करे। साहित्य 'रागात्मक तत्त्व'—मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम सम्बन्ध—का पोषक है। जो ईश्वर से प्रेम करता है पर मनुष्य से नहीं वह भक्त नहीं, 'संस्कृति हृदय' नहीं। रागात्मक तत्त्व कबीर काव्य में भरपूर है। सच्चाई तो यह है मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए जितनी सामग्री कबीर-काव्य में है उतनी अन्यत्र नहीं। कबीर-वाणी हिन्दू मुसलमान सबको समान रूप से प्रेरक है, यह बात सूर-तुलसी के काव्य में नहीं। इस दृष्टि से कबीर मानवता के अधिक निकट हैं। अभेदभाव कबीर-काव्य का केन्द्र है। संसार में जहाँ-जहाँ जिस स्तर पर भेद है उसे कबीर-वाणी से मिटाया जा सकता है। कबीर मानवमात्र की मूलभूत एकता के पक्षधर हैं—वे विश्व बंधुत्व के कवि हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर के प्रेरणा स्रोत संत कबीर हैं।

कबीर ने लोकरक्षक राम के स्तवन से अधिक लोक को महत्व दिया—लोक की समस्याओं पर ध्यान दिया। उन्होंने 'श्रद्धा या पूज्य बुद्धि' को धर्म का आधार न मानकर, 'मर्यादा' की रक्षा को जीवन के विकास का आधार न मानकर, पांडित्य के प्रति पूज्यभाव न रखकर उस मर्यादा को तोड़ा जो ऊँच-नीच का भेद पैदा करती है, जो मानवता के सहज विकास में बाधक है। शुक्ल जी, मर्यादावादी दृष्टि के कारण, कबीर को कवि न स्वीकार कर सके। उनके मत में कबीर का ईश्वर 'धर्मस्वरूप' नहीं, तुलसी का है।

कबीर-काव्य का सबसे बड़ा गुण है उसका श्रेयस् होना। कबीर 'रहस्य और गुह्य भावना' के कवि नहीं, वे 'सहज' हैं और सहजता उनकी भक्ति की कसौटी है। रहस्यानुभूति, आत्मानुभूति, प्रेमानुभूति, एवं नैतिकता के लिए सहजता-उदारता अनिवार्य है। कबीर की साखियाँ एकदम सीधी-सुस्पष्ट, दो टूक। आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से वे भरपूर हैं। वे साक्षी हैं कबीर की सहज अनुभूति की। कबीर को आध्यात्मिक पुनर्जागरण का श्रेय है। कबीर ने ईश्वर को, धर्म को, ज्ञान को, भक्ति को जीवन से जोड़ा, भले ही उन्हें 'मर्यादा', 'पूज्यबुद्धि' और 'संस्कृत वाणी' की उपेक्षा करनी पड़ी।

2/कबीर का सर्जनात्मक दृष्टिकोण

डॉ० एस० राधा कृष्णन् दर्शन पर विचार करते हुए लिखते हैं "दर्शन शास्त्र सर्जनात्मक कार्य के लिए प्रतिबद्ध है । यद्यपि एक अर्थ में दर्शन शास्त्र आत्मा की एकान्तिक यात्रा है परन्तु दूसरे अर्थ में यह जीवन का कार्य है ।" कबीर का दर्शन उनकी आत्मा की एकान्तिक यात्रा है साथ ही वह सर्जनात्मक भी है । कबीर ने युग समस्याओं को पहचाना उनके समाधान में उनके दर्शन-धर्म का विकास हुआ उन्होंने धर्म को जीवन से, यथार्थ से जोड़ा यही सर्जनात्मक स्वरूप कबीर को कबीर बनाता है । कबीर-काव्य में परम्परा है पर नए प्रयोग भी हैं । उन्होंने परम्परा से बहुत कुछ लिया पर, युगानुकूल उसे एक नया रूप दिया । यही उनकी प्रतिभा है । प्रत्येक महान् व्यक्तित्व यही करता है । तीर्थंकर, बुद्ध, ईसा, तिलक, अरविन्द, गांधी सब ने शाश्वत सत्यों को स्वीकारा, पर उनका युगानुरूप प्रयोग किया । भगवान् महावीर की अहिंसा, भगवान् बुद्ध की करुणा, ईसा का प्रेम, तिलक का कर्मयोग, अरविन्द का आत्मतत्व और गांधी का सत्य-प्रयोग युगधर्म के रूप में विकसित हुआ । कोई भी सर्जनात्मक व्यक्तित्व युग को पहचानने से इन्कार नहीं कर सकता । सर्जन-निर्माण जीवनपरक होता है । जीवन को गतिशील बनाना ही सर्जन है और गतिशीलता तभी सम्भव है जब जीवन की समस्याओं, समाज की आवश्यकताओं की अवहेलना न की जाय । यथार्थ को छोड़कर सर्जन संभव ही नहीं । दर्शन और जीवन-दर्शन इसी दृष्टि से यथार्थ से जुड़ा होता है । मानवता के विकास में इसीलिए युगीन सत्य अथवा सामयिक मूल्यों का महत्व है । शाश्वत सत्य को सामयिक सत्य से सम्बन्धित करना ही सर्जन, निर्माण और प्रगति है ।

कबीर-युग में हिन्दू-तुरुक का परस्पर विरोध, उनमें एक दूसरे के प्रति घृणा-भाव अपनी चरम सीमा पर था । तुरुक प्रबल थे । नृशंसता में वे विश्वास करते थे । उनके धार्मिक विश्वास सर्वथा भिन्न थे हिन्दुओं से । जिस गाय को हिन्दू माता मानते थे उसी का वध उनका धार्मिक कृत्य था भले ही गोमाता के दूध से उतना ही लाभ वे भी उठाते थे जितना हिन्दू । कबीर भले ही मुसलमान रहे हों पर उन्होंने तुरुकों के इस कार्य को जघन्य अपराध माना । उन्होंने तुरुकों से कहा :

तुरुकी धरम बहुत हम खोजा, बहु बजगार करैं ए बोधा ।
गाफिल गरब करैं अधिकाई, स्वारथ अरथि बधैं ए गाई ।
[illegible] कीजे ? रमैणी

इसी प्रकार पवित्रता के मूल भाव पर कबीर बल देते हैं। कबीर उन पंडितों पर व्यंग्य करते हैं जो चौका देकर पवित्रता की इति मान लेते हैं—

एकै पवन एकही पानी, करी रसोई न्यारी जानी।
माटी सूं माटी ले पोती, लागी कहौ कहाँ धूं छोती।
धरती लीपि पवित्र कीन्हीं, छोति उपाय लीक बिचि दीन्हीं।
याका हम सूं कहौ बिचारा, क्यूं भव तिरिहौ इहि आचारा।
ए पाषंड जीव के भरमां, मांनि अमांनि जीव के करमां।।

कबीर का कथन है लीपना, चौका देना व्यर्थ है यदि आन्तरिक निर्मलता के साथ सत्य-शीलमय व्यवहार नहीं है :

साच सील का चौका दीजै भाव भगति की सेवा कीजै। रमैणी

कबीर का दर्शन सर्जन पर बल देता है, उस जीवन दृष्टि और उस जीवन-पद्धति पर बल देता है जिससे मनुष्य आडंबर-पाषंड-दिखावा से दूर होकर सच्चा बन सके। प्रत्येक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व में परंपरा और रूढ़ि के प्रति विद्रोह होता है क्योंकि वे जीवंत नहीं रह जाते। समाज में 'ऊँच-नीच' का भेद इन रूढ़ियों से स्थायी हो रहा था। कबीर व्यग्र थे मानव को सत्याग्रही बनाने के लिए। बाह्य कर्मकाण्ड निष्प्राण हो चुका था। उसके कारण जाति-कुल के अहंकार को बढ़ावा मिल रहा था। मनुष्य का ध्यान बाह्य कर्मकाण्ड पर केन्द्रित हो रहा था न कि मानव मूल्यों पर। कबीर हिन्दू धर्म के 'आचार' के प्रति चिंतित हैं। उनका कथन है वेद-शास्त्र, गायत्री, संध्या-तर्पण, षटकरम में पंडित भूले हैं—उन्हें इसी का अभिमान है। वे यह नहीं अनुभव करते कि सर्वत्र वही राम है। उसकी भावपूर्ण अनुभूति ही ध्यान और भक्ति है। ब्राह्मणों को कुल का अभिमान छोड़ना होगा तभी वे सुख-संतोष-अमरपद प्राप्त कर सकेंगे :—

पंडित भूले पढ़ि गुनि बेदा, आप न पावैं नाना भेदा।
संध्या तरपन अरु षटकरमा, लागि रहे इनके आश्रमां।
गायत्री जुग चारि पढ़ाई, पूछौ जाइ मुकुति किनि पाई।
सबमें राम रहै ल्यौ सींचा, इनथैं और कहौ को नीचा।
अति गुन गरब करै अधिकाई, अधिकै गरबि न होइ भलाई।।

कुल अभिमान बिचार तजि, खोजौ पद निरबान।
अंकुर बीज नसाइगा, तब मिलै बिदेही थान।। रमैणी

कबीर कहते हैं 'कुल अभिमान' के कारण जो ऊँच-नीच का भेद है वह परमार्थ में बाधक है। सत्य का साक्षात्कार जीवन की रहनि से जुड़ा है। स्पष्ट है कबीर का लक्ष्य 'सामान्य भक्ति पद्धति का प्रचार' नहीं वरन् जीवन-सुधार था, आचरण था।

जैनों के प्रति भी उनके मन में पीड़ा है—वे भी शास्त्र में उलझे हैं अहिंसा के बाह्य रूप ही उनके आचार का अंग है; बौद्ध भी भगवान बुद्ध के सम्यक् मार्ग को छोड़ चुके हैं। कबीर अनीश्वरवादियों के सम्बन्ध में कहते हैं :

जैन बौध अरु साकत सैनाँ, चारिवाक चतुरंग बिहुना।
जैन जीव की सुधि न जानै, पाती तोरि देहुरे आनै।

कबीर सर्जनात्मक क्रान्ति चाहते थे समझौता नहीं। उनके ज्ञान की कसौटी मनुष्य की सत के प्रति प्रतिबद्धता थी - समता-अभेद पर उनका बल था :

जब थै आतम तत बिचारा।
तब निरबैर भया सबहिन थै, काम क्रोध गहि डारा।
व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै, को पण्डित को जोगी। 33 रामकली

तथा, असतुति निन्दा आशा छोड़ै, तजै मान अभिमाना।
लोहा कंचन समिकरि देखै, ते मूरति भगवाना। 31 रामकली

जहाँ अभिमान है वहीं भेद है इसलिए कबीर समदृष्टि पर जोर देते हैं। जाति-संप्रदाय-धर्म एवं बाह्याचार से उत्पन्न भेद समाज को दरिद्र बना रहे थे। कबीर कहते हैं घड़े का भेद ऊपर से है। सचाई यह है कि सभी घट में उसी सूर्य का बिंब है—

नाना भाँति घड़े सब भाँड़ै, रूप धरे धरि मेलै। 33 रामकली

सब में एक ही ब्रह्म, एक ही राम, एक ही ज्योति तब भेद क्यों? कबीर समता-अभेद के मनीषी थे। उन्होंने देखा कि नास्तिक और आस्तिक सभी सत्य और ज्ञान से विमुख हैं इसीलिए उन्होंने आन्तरिक शुद्धता पर बल दिया—मन की शुद्धि से ही मन की चंचलता और अहंकार आदि विनाशक भाव दूर होंगे। कबीर की अपेक्षा आज भी है। आज भी हिंदू माला-तिलक-संध्या-गायत्री-षट्करम अपनाकर मूल सत्य की अवहेलना कर रहा है।

कबीर ने स्थान-भेद भी समाप्त किया—कासी-मगहर में भेद नहीं क्योंकि सर्वत्र वही राम व्याप्त है। कबीर काया को ही कासी-मसीति मानते हैं —

कहै कबीर सुनहु रे संतौ, भ्रमि परे जिनि कोई
जस कासी तस मगहर, हिरदै राम सति होई। 5 धनाश्री

लोग कासी-वास के लिए आते हैं ऐसा मानकर कि कासी में मुक्ति मिलती है। कबीर का कथन है मुक्ति कासी से नहीं, राम से लौ लगाने में है, रामचरित के ध्यान से है भाव-भगति-सेवा में है। कासीबासियों के आचरण पर कबीर क्षुब्ध होकर

जोगी जती तपी सन्यान्सी, मठ देवल बसि परसैं कासी ।
तीन बार जे नितप्रति न्हावैं, काया भीतर खबरि न पावैं ।
देवल-देवल फेरी देहीं, नाव निरंजन कबहुँ न लेहीं ।
चरन विरद कासी कू न देहूँ, कहै कबीर भल नरकहि जैहूँ । 28 सोरठि

कबीर आभ्यंतरिक राम-रहिमान पर राम बल देते हैं देवल-पूजा पर नहीं :

मालातिलक पहरि मन माना, लोगनि राम खिलौना जाना ।
थोरी भगति बहुत अहंकारा, ऐसे भगता मिलै अपारा । 18 भैरू

अहंकार-पाषंड-आचरणहीनता और कठोर हृदय के विरोधी थे कबीर—

मन में मैला तीरथि न्हावै, तिनि वैकुंठ न जाना ।
पाषंड करि करि जगत भुलाना, नाहिन राम अयाना ।
हिरदै कठोर मरै बानारसि, नरक न बंच्या जाई ।
हरि कौ दास मरै जे मगहरि, सेन्या सकल तिराई । 20 भैरू

कबीर यहाँ 'मुसलमानी जोश' के साथ हिन्दुओं के प्रति और उनके धर्म के प्रति विरोध भाव नहीं प्रकट कर रहे हैं जैसा शुक्ल जी मानते हैं । कबीर का विरोध जीवन के विनाशक तत्वों से है । कबीर मानव को ईश्वरत्व की ओर, सच्चे सुख की ओर, विपन्नता से सम्पन्नता की ओर, शास्त्र से जीवन की ओर, अन्ध श्रद्धा से तर्क की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने के लिए कृतसंकल्प हैं ।

कबीर का विरोध उस संस्कृत बुद्धि से है जो हठधर्मिता से प्रभावित है । कबीर का विरोध उस 'संस्कृत हृदय' से है जिसमें उदारता-प्रेम-समता का अभाव है । कबीर का विरोध उस 'संस्कृत वाणी' से है जो अहंकार-कपट-पाषंड और स्वार्थ से प्रेरित है । कबीर का विरोध उस मूर्ति पूजा से है जो पत्थर को ईश्वर मानता है पर मनुष्य के प्रति ममता नहीं । मूर्ति-पूजक की निस्सारता को बताकर हृदय में बसे राम की पूजा की ओर ध्यान दिलाना था कबीर को । कबीर का बल था भीतर में बैठे राम-खुदा पर ।

कबीर ने काजी से कहा 'काजी, कौन कतेब बखानै । पढ़त-पढ़त, केते दिन बीते, गति एकौ नहि जानै ।' तथा, 'पढ़ि ले काजी बंग निवाजा एक मसीति दसों दरवाजा ।' तथा, 'उहाँ न दोजग भिस्त मुकामा, इहाँ ही राम इहाँ रहिमाना ।'

□□

3/साहित्यकार कबीर : आत्मिक मूल्यों की स्थापना

महादेवी ने कहा है, "साहित्य मूलतः निर्माण है—व्यक्ति के लिए भी और समष्टि के लिए भी।......अपने सृजन से साहित्यकार स्वयं भी बनता है, क्योंकि उसमें नए संवेदन जन्म लेते हैं, नया सौंदर्य-बोध उदय होता है और नये जीवन-दर्शन की उपलब्धि होती है। सारांश यह है कि वह जीवन की दृष्टि से समृद्ध होता जाता है।"—साहित्य और साहित्यकार।

कबीर, उक्त निकष के आधार पर, निर्माण के कवि हैं व्यक्ति और समष्टि दोनों के लिए। उनका काव्य उन्हें तो विकसित करता ही है साथ ही वह समष्टि को सम्यक् मार्ग का बोध कराता है। कबीर संवेदनशील कवि हैं—उन्हें समता, अभेद, सहज एकता से प्रेम हैं। वे भेद में अभेद का, रूप में अरूप का, समष्टि में स्व का, अनंतकला में अकल का, प्रकट में निरंजन का, जगत् मे ब्रह्म का अनुभव करते हैं। कबीर का 'अल्लह', 'राम' एक है। 'करतार' 'खालिक' मे नाम भेद है। कबीर का राम ही केशव, गोविन्द, गोपाल, निरंजन, निराकार, शरणागत रक्षक, दीनबंधु भक्तों की पुकार को सुननेवाला है। वही ध्रुव, प्रहलाद, गणिका, गज का उद्धारक है; वही व्यास, शुक, नारद, सनक सनंदन, गोरख, भरथरी, गोपी चन्द, नामदेव, जैदेव-शंकर-ब्रह्मा का इष्ट है। वही समाधि में, वही हृदय में और वही घट-घट में है। घट-घट में उसकी अनुभूति ही परमानन्द है, परम ज्ञान उस निराकार से ऐक्य है। यही परम मिलन है। यही व्यक्ति का समष्टि में लय है।

कबीर की दृष्टि में गृहस्थ रहना अथवा वैरागी बनना महत्वपूर्ण नहीं यदि व्यक्ति विषयों से उदास रहे—उनकी अपेक्षा न रखे। विषयों से आसक्ति ही मैं-पर और अहकार का मूल है। अभिमान भेदकारक है—यही नीच-ऊंच की दृष्टि विकसित करता है। अभेद-भाव चाहे ज्ञान से प्राप्त करे चाहे भक्ति-भजन से, चाहे 'जोग जुगुति' से। सर्वत्र उस परमदेव का अनुभव करे। भीतरी ज्योति अथवा भावभगति से समता-अभेद-एकता का बोध ही आत्मबोध है। आत्मबोध में संयम अपेक्षित है—मान की इच्छा विनाशक है :

> जागि रे जीव जागि रे।
> चोरन कौं डर बहुत कहत हैं उठि-उठि पहरै लागि रे।

काम-क्रोध-लोभ-ईर्ष्या-मत्सर आदि विध्वंसात्मक विचारों से मुक्ति पाना ही भगवान में मिलना है। जब तक अहंकार और विषयों से लगाव है तब तक उससे

ऐक्य संभव ही नहीं। हृदय की निर्मलता अनिवार्य है। मन दर्पण की भाँति माँजता रहे, यही ज्ञान-कर्म-भक्ति का पथ है। हरि का सुहाग सतत जागरूक आत्मा को ही मिलता है :

ऐसी जागणी जे को जागै, ता हरि देइ सुहाग रे।
कहै कबीर जाग्या ही चहिए, क्या ग्रिह क्या बैराग रे ।। 25 भैरू

यह जागरण गीत व्यक्ति समष्टि सब के लिए है—मानव मात्र के लिए यह 'चितावणी' है। अध्यात्म पथ अथवा संत पथ पर चलना मानव मात्र का धर्म है।

मनोवैज्ञानिक युंग के अनुसार प्रत्येक मानव में आध्यात्मिक भूख होती है। यही भूख मनुष्य को उदात्त बनाती है। कबीर-काव्य इसी भूख को प्रबल करता है। इसी क्षुधापूर्ति के लिए साखी-सबद हैं। रमैनी में आर्त पुकार है राम से मिलन की। मन विषयों से मदमाता होकर मदमत्त हाथी की तरह निरंकुश हो जाता है। इसके लिए एक ही उपाय है कि मन को नकारात्मक विचारों-भावों-आवेगों से मोड़कर सकारात्मक भावों की ओर ले जाय—यही अंधकार से प्रकाश की ओर प्रयाण है। यही ऊर्ध्वमुखी यात्रा है। सारा मनोविज्ञान आज इस तथ्य का पोषक है कि मनुष्य के सम्यक् विकास के लिए मन को सतत सद्भावों से भरते रहना चाहिए। अपनी आंतरिक शक्ति का बोध ही आत्म बोध है। देह-बुद्धि छोड़कर तत्वमसि का अनुभव ही ज्ञान है। सर्वत्र राम का पसार है—सब उसी के हैं, यही अद्वैतभाव भक्ति का मूल है। इस आत्मबोध के लिए भगवत्कृपा की अपेक्षा है। गुरुकृपा से मनुष्य अंतर्मुखी बनता है—सत्य की खोज करता है।

कबीर-काव्य सत्य की, परमार्थ की, चेतना की खोज है। कबीर उन साहित्यकारों में हैं जिनके एक-एक सबद में निर्माण का राग है। कबीर विह्वल हैं सबको सचेत करने के लिए। कबीर ने जिस आनन्द के दिव्य लोक और अभेद भाव को प्राप्त किया है उसे ही सिखाते हैं अपनी साखी में। हिन्दू हो या मुसलमान कबीर की दृष्टि में जाति भेद नहीं, रंगभेद नहीं, वर्णभेद नहीं। भेद तो संसार-समाज की देन है। जब तक अभेद दृष्टि नहीं होगी तब तक द्वन्द्व बना रहेगा और हिंसा का बोलबाला रहेगा। राजा या रंक सभी को अभेदभाव स्वीकारना होगा तभी कल्याण होगा।

कबीर कपट-छल छोड़ने को कहते हैं भगवद्भक्ति अथवा समष्टि से एकता प्राप्त करने में। कपट अर्थात् भेद। भेद अर्थात् द्वैत। द्वैत अर्थात् संवेदनशीलता का अभाव, सहृदयता की कमी। सौहार्द में भेद नहीं होता। कबीर नारद, हनुमान, ध्रुव, प्रह्लाद का नाम लेते हैं—ये कपट छोड़कर एकमएक हैं राम से। 'नामा जैदेव' भी। सत्य से समरसता तभी सम्भव है जब हम निष्कपट हों। समष्टि से ऐक्य की अनुभूति

तभी सम्भव है जब अहंकार-कपट रहित बनें। कबीर 'अनहद' को तभी महत्व देते हैं जब आचरण निर्मल हो अन्यथा जोग एक पाखंड है—

हिरदै कपट सूं नहीं सांचौ। कहा भयौ जे अनहद नाच्यौ। 17 सोरठि

कबीर मुखौटा में नहीं विश्वास करते। करनी-कथनी की एकता ही परमार्थ है। परस्पर प्रीति तभी होगी जब कपटहीन आचरण हो। कलि में कपट वेश, कपट वचन, कपट सम्बन्ध का बोलबाला है। कबीर का विरोध कपटी साधुओं से है। आज अर्थ के लिए सभी कपटपटु बनने की होड़ में है। कबीर इस कपट जीवन से लड़ पड़े—'कलियुग हम सूं लड़ि पड़्या।' कबीर ने सारे अवरोधों का सामना करके अपने को परिशुद्ध किया—ज्ञान-ध्यान-जप-कीर्तन से। शरणागति से उन्हें शान्ति मिली—राम की शरण में जाने का आशय है निर्मल-निष्कपट-अहकारहीन व्यक्तित्व। संसार को सुखी देखना है तो कपटाचार को त्यागना होगा। केवल आर्थिक सुधार एकांगी है। अर्थ के साथ धर्म का योग, अधिकार के साथ कर्त्तव्य का बोध—यही मानवता को प्रेम सूत्र में बाँध सकता है। आज की राजनीति समष्टि की बात करती है पर कपटयुक्त : एक देश दूसरे की सहायता करता है—अविकसित को विकसित बनने में सहयोग देता है पर उसकी दृष्टि में अपना हित-स्वार्थ प्रमुख रहता है यही कपट भाव है। कबीर व्यक्ति और समष्टि दोनों की कपटहीन होने को प्रेरित करते हैं। उनके साहित्य का यह धन पक्ष है। कबीर का साहित्य केवल स्वांतः सुखाय नहीं। कपट व्यक्ति और समष्टि दोनों के लिए अभिशाप है। कबीर जीवन-मूल्यों के कवि हैं। 'कबीर को स्वामी घटि घाट रह्यो समाइ' तो कपट-छल अन्तर-भेद किससे ? यही जीवन दर्शन, यही आध्यात्मिक चिंतन हमें सच्चा मानव बना सकता है और इसी से मानवतावाद का विकास सम्भव है। धर्म की यहीं अपेक्षा है—समाजवाद तभी सम्भव है जब जन-जन मुक्त हो आडंबर-छद्म से।

कबीर के समय में भेदभाव सर्वत्र था। कबीर दु:खी होकर क्या हिंदू, क्या मुसलमान, क्या जोगी, क्या गोरखपंथी, क्या संन्यासी सभी से कहते हैं कि ईश्वर एक है वह सब में है फिर हम एक दूसरे के विपरीत क्यों—क्यों मुसलमान हिंदू को धर्म परिवर्तन के लिए बाध्य करता है और हिंदू मुसलमान से घृणा करता है हम एक हों क्योंकि हम सब मूलतः एक हैं—

जोगी गोरख गोरख करै, हिंदू राम नाम उच्चरै।
मुसलमान कहै एक खुदाइ, कबीरा को स्वामी घटि घटि रह्यौ समाइ। 6 भैरू

धार्मिक सहिष्णुता और धार्मिक समन्वय समय की माँग थी कबीर ने उसे पूरी की। कबीर का कथ्य है द्वन्द्व मिटाओ, भेद मिटाओ, तभी परमानद और परम सुन्दर का साक्षात्कार :

है हजूरि क्या दूरि बतावै।
दुन्दर बाँधै सुन्दर पावै। 6 भैरू

कबीर का दर्शन मानवपरक है मानव से परे नहीं। 'झूठे फोकट' के व्यवहार से कबीर त्रस्त-व्याकुल हैं। उनकी अनुभूति है कि ब्रह्मज्ञान से ही समत्व बुद्धि विकसित होगी—'सो तत चीन्हि जहाँ थैं आया।' मानवता की एकता उस तत्व के अनुभव से ही संभव है। कबीर ने हिंदू मुसलमान को धर्म का मूल बताया : सभी आस्तिकों का भगवान एक है—नाम भेद से क्या? उस ब्रह्म का प्रतीक है 'राम नाम'। ब्रह्माग्नि में ही ममता-अहंकार और अधिकार की भावना जल सकती है :—

ब्रह्म अगनि मैं जरौ जु ममिता पाखंड अरु अभिमाना।

माया सारे संसार को लील रही है। भोग की लालसा, संग्रह का मोह ब्रह्मज्ञान से ही विनष्ट होगा—

ऊभर थाते सूभर भरिया त्रिस्ना गागरि फूटी। 20 सोरठि

कबीर देख रहे हैं कि मनुष्य और समाज भाग रहा है संग्रह-हिंसा-हत्या के पीछे। न हिंदुओं में समझ है और न मुसलमानों में—सभी अज्ञान-लोभ-जड़ता-संकीर्णता के शिकार हैं—

अपनैं-अपनैं रंग के राजा मांनत नाहीं कोइ।
अति अभिमान लोभ के घाले चले अपनपौ खोइ॥ 19 केदारौ

अपनपौ खोना, मानव मूल्यों को खोना है। आतमा का स्वरूप सत्य है, प्रकाश पूर्ण है अंधकार पूर्ण नहीं। मैं-मेरी का भाव अपनपौ के विरोध में है। जहाँ आत्म-बोध है वहीं समता है, सहजता है, कपटहीनता है, वहीं आनंद है। जहाँ अहंकार है वहाँ समष्टि और व्यक्ति में रागात्मक सम्बन्ध सम्भव ही नहीं। प्राणी मात्र से रागात्मक एकता के लिए ब्रह्म-ईश्वर-राम-खालिक को मानना अपेक्षित है। आस्थावादी जगत् की एकता के मूल आधार पर बल देता है। आज हमें इस ज्ञान की सर्वाधिक अपेक्षा है। संसार एक हो चुका है पर रागात्मक संबंध की कमी है। शोषण रागात्मक अभाव का परिणाम है। कालाधन, चोरबाजारी, आतंकवाद प्रमाण हैं प्रीति-प्यार के अभाव के। हमें आज कबीर के दर्शन की अपेक्षा है। हम ब्रह्म-राम-निरंजन को न स्वीकारें, राम भगति के समर्थक न हों, पर हमें सूत्र चाहिए जो हम सब को बाँध दे। मानव की एकता स्वयं सिद्ध है फिर भी हम भेद-अलगाव-घृणा में जी रहे हैं। आधुनिक सभ्यता की देन है तनावपूर्ण जीवन और तनाव का मूल है स्वार्थ—मैं-मेरी की भावना। विश्वास-घात-धोखा हमारे दैनिक जीवन का अंग बन चुका है क्योंकि हमें न कर्त्ता में श्रद्धा है और न मानवता में। कबीर का आग्रह है अपने भीतर झाँको—सभी के भीतर वही एक तत्व।

कबीर-काल में हिन्दू-तुरुक का वैमनस्य था—तुरुक तलवार के बल पर धर्म-प्रसार में जुटे थे। उन्हें हिंदू नाम से चिढ़ थी—मन्दिरों को ढहाया जा रहा था। स्त्रियों के पातिव्रत-धर्म पर संकट था। सर्वत्र अविश्वास और आतंक। कबीर कहते हैं—"अलह पाक तूं नापाक क्यूं, अब दूसर नाहीं कोइ। करनी करै जानै सोइ।" 50 आसावरी। कोई नापाक (काफिर) नहीं। घृणा-वैमनस्य-द्वन्द्व का स्थान नहीं मानवता में। कबीर-साहित्य सच्चे मानव मूल्यों का, आत्मसुधार का, समष्टि की एकता का भंडार है। सत् साहित्य की यही उपलब्धि है।

व्यक्ति यदि निर्मल-पाक बनने का सतत प्रयत्न करता रहे तो उसकी ज्योति समष्टि को आलोकित करेगी और लोग सत्य की ओर चलने का यत्न करेंगे। संत चाहता है कि कोई भी परम प्रकाश से वंचित न रहे—सब शांति-सुख प्राप्त करे। मनुष्यमात्र समान है तो सब को स्वतन्त्रता चाहिए परमार्थ पर चलने की—सामाजिक सुख, समता, सद्व्यवहार, निष्कपट जीवन की ओर कबीर ऐसे महान् संत का ध्यान जाना सहज था। कबीर समाज सुधारक नहीं थे—समाज के अंधकार पक्ष से वे भयभीत थे। उनकी अमृतवाणी उसे दूर करने के लिए बराबर तत्पर रही है। साहित्यकार वही है जो अपने परिवेश के प्रति संवेदनशील हो—लोगों की शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक उन्नति-अवनति से अछूता न रहे। कबीर को सब से अधिक पीड़ा थी लोगों के अहंकार से। वेदशास्त्र पढकर भी पंडित मतिहीन थे—अपने को उच्च और दूसरों को हीन मानते थे। विद्या, वैभव जाति-सम्प्रदाय के अभिमान से सर्वत्र असमानता। सामान्य जन वंचित था संस्कृत के ज्ञान से—उसकी शिक्षा-दीक्षा की कोई सुनवाई न थी। उसकी भाषा-बोली का महत्व न था। उसके लिए ईश्वर का दरवाजा भी ब्राह्मणों ने बन्द कर रक्खा था। मुल्ला लोग खुदा को मानते हुए भी उसके बन्दे से भेदभाव रखते। वे बादशाह की इच्छा के गुलाम थे। कबीर की भेद निवारक विचारधारा से उन्हें चिढ़ थी। फलतः हिन्दू पंडित और काजी सभी 'निंदक' थे कबीर की क्रांतिपरक-समतापरक-सहिष्णुतापरक-त्यागपरक विचारधारा के। उन्हें बादशाह-काजी-पंडित सभी ने पीड़ित किया। लेकिन, कबीर अकेले चलते रहे विनम्र होकर—'पाऊं तलि घास' की भाँति। उन्हें ठोकरें खानी पड़ीं एक 'रोड़े' की तरह, पर वे अडिग रहे भगवान-सत्य-न्याय-परमार्थ में। उनका उपदेश था—

कबीर रोड़ा ह्वै रहु बाट का तजि पाषंड अभिमान
ऐसा जे जन ह्वै रहै ताहि मिलै भगवान। 41.14

कबीर के सारे जीवनमूल्य व्यक्ति-समष्टि से सम्बन्धित हैं। वस्तुतः, व्यक्ति को न समष्टि से और न समष्टि को व्यक्ति से अलग करके देखा समझा जा सकता है। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है जैसे शरीर और प्राण का। व्यक्ति समष्टि के भीतर है आत्मा की भाँति—व्यक्ति की पवित्रता सारे समाज की पवित्रता है।

व्यक्ति समाज से अभिन्न है। मन यदि विषयों और विषयजन्य विकारों की ओर भागना छोड़ दे तो समष्टि से व्यक्ति का सहज सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसीलिए कबीर कहते हैं—

कबीर निरबैरी निहकामता साईं सेती नेह
विषिया सूं न्यारा रहै संतनि का अंग एह। 29.1

संत, कबीर की दृष्टि में, निरवैरी हो, और निष्काम हो विषयों से विमुख हो। ये सारे गुण समष्टि से सम्बन्धित हैं। प्रीति और बैर, त्याग और लोभ, परसुख और स्वसुख ये सभी भाव व्यक्ति-समष्टि दोनों से जुड़े हैं। व्यक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया समाज सापेक्ष है। कबीर के बैरी थे, निंदक थे पर कबीर का प्रयास यही था कि उनकी अज्ञानता की ओर ध्यान न देकर, विनम्र बनकर सत्य की प्रतिष्ठा की जाय। कबीर के 'समता' सिद्धान्त और 'राम भगति' और 'राम सनेह' के बैरी अनगिनत थे। कबीर को कष्ट देनेवालों की भी कमी न थी पर कबीर तो 'जीवत मृतक'—जीते हुए भी मृतक—थे। कोई आसक्ति नहीं देह से न दैहिक विषयों से :

कबीर जेते तारे रैणि के तेते बैरी मुझ,
धड़ सूली सिर कंगूरै तऊ न बिसरौं तुझ। 45.29

कबीर की एक ही धुन थी—

पारब्रह्म कूं सेवता जे सिर जाइ त जाव। 45-30

कबीर का कथ्य है शरीर से मोह करनेवाला समष्टि-सेवक और रामदास नहीं बन सकता —

जब लग आस सरीर की तब लग दास न होइ। 45-40

तथा, सीस उतारि पग तलि धरै तब निकट प्रेम का स्वाद। 45-20

कबीर निर्भय हैं—उन्हें देहकष्ट के परेशानी नहीं। वे मानते हैं 'परमानन्द' तभी प्राप्त होगा जब मृत्यु-भय से मुक्त हो —

कबीर जिस मरने थैं जग डरै सो मेरे आनंद। 45-13

कबीर 'जग' के प्रति जागरूक हैं। वे सामान्य मानव दुर्बलताओं को जानते हैं और उससे उद्धार पाने की मुक्ति भी जानते हैं। भगवत् प्रीति ही व्यक्ति को निष्काम बना सकती है। कबीर दृढ़ थे समाज भले ही विरोध करे और शाहशाह उन्हें सूली पर चढ़ा दे अथवा प्राण दण्ड दे (प्रसिद्ध है कि सिकंदर लोदी ने कबीर को दो बार मरवाने का प्रयास किया था)। वे सत्य को, राम को, प्रेम-नम्रता-अहिंसा-सेवा को नहीं छोड़े। कबीर के राम मानव मूल्यों से जुड़े हैं। वे सतत विकल थे राम के लिए—'राम वियोगी तन बिकल, ताहि न चीन्है कोइ।' 29-9 कबीर मानते थे स्वारथ के वश सारे अन्याय हो रहे हैं 'स्वारथ को सबको सगा।' बिन स्वारथ आदर करनेवाला हरिदास है—'बिना स्वारथ आदर करै वो हरि का प्रीति पिछांणि।' 29-15। कबीर की भक्ति सामाजिक मूल्यों से जुड़ी है।

□□

4/ कबीर : भक्ति की परंपरा

कबीर का व्यक्तित्व महान् है इसलिए नहीं कि वे निर्गुणोपासक थे, इसलिए नहीं कि वे समाजसुधारक थे, इसलिए नहीं कि वे हठयोगी थे, इसलिए भी नहीं कि वे न हिंदू थे और न मुसलमान—बल्कि वे विशिष्ट थे अपने सतत संघर्षशील और विकासशील व्यक्तित्व के कारण उनका काव्य प्रमाण है विषय-विकारों से, हीन भावनाओं से, निराशात्मक विचारों से जूझने का। वे शूरवीर थे—जिस सत्य को उन्होंने समझा उसका खुलकर निर्भय समर्थन किया ? उनके वैरी थे, निंदक थे, यातना पहुँचाने वाले अज्ञानी शासक थे पर कबीर ने सब का डटकर सामना किया—भागे नहीं सत्यपथ से। कबीर ने मुँह नहीं मोड़ा कठिनाइयों-यातनाओं के कारण। **'साधू अंग न मोड़ही'** यही उनका दृढ़ निश्चय था। कबीर ने किसी बवंडर की परवाह न की अपने आत्म विश्वास और संयम के आगे। कबीर का आदर्श वह शूरवीर था जो संग्राम से मुख न मोड़े वार पर वार सहे—घायल हो। घायल होना बहादुरी का चिह्न है: **घाइल ही घाइल मिले तब राम भगति विढ़ होइ।** 43-11 राम भगति में बाधाओं की कमी नहीं—असंतों, कठमुल्लाओं से झगड़ना आसान नहीं, साखित (अनीश्वरवादी) के तर्क के लड़ना सहज नहीं, विषयों-सुखों के प्रलोभन से मुक्ति पाना खेलवाड़ नहीं। कबीर के समय में संन्यासी, हठयोगी, शाक्त, दिखावटी साधु, तांत्रिक, बौद्ध, पानी छानकर पीने वाले जैन, चार्वाक सभी थे। कबीर ने देखा आडंबर का बोलबाला है। संन्यासी का मन भी भोग की ओर भागता है। धन-धंधे के सभी लोभी हैं—कहीं प्रेम-प्रीति नहीं। कही सेवा भाव नहीं। कबीर निश्छल प्रेम के पैगंबर थे—

> कबीर स्वामी सेवक एक मत मत ही मैं मिलि जाइ।
> चतुराई रीझै नहीं रीझै मन के भाइ। 44-4

चतुरता छल का रूप है। कबीर दंभ के विरोधी थे। भगति का तिलक लगाए, जपमाला में हाथ डाले लोग कपटाचार में पटु थे—ऐसे लोगों के विरोध में खड़े थे कबीर। कबीर का बल मन के भाव पर था। दिखावा वेशभूषा पर नहीं। वे उन अनहदवादियों के समर्थक नहीं थे जिनका मन उज्ज्वल न हो। कबीर का धर्म सम्यक् आचरण, सम्यक् विचार था। कबीर मानते थे जिसने भगवान के चरणों में अपने को समर्पित कर दिया वह माया की ओर क्यों देखे—छल-कपट के धंधे में क्यों पड़े ? सेवक का एक ही धर्म है स्वामी का सामीप्य, स्वामी-सेवक की एकता—**'जाकौं तन मन सौंपिया सो कबहूँ छाड़ि न जाइ।'** (44-3) यह था कबीर का धर्म।

कबीर का संघर्ष दोतरफा था—समाज की अनैतिकता से और अपने भीतर के अंधकार से। कबीर मानते थे जब हृदय पवित्र-निर्मल नहीं है तब सारे धार्मिक कर्म बेकार हैं—शास्त्र ज्ञान व्यर्थ है; पाण्डित्य केवल दिखावा है यदि मन में काम-क्रोध-लोभ का आधिपत्य हो। ऊँच-नीच का भाव जब तक है तब तक भक्ति संभव ही नहीं। धन का, वर्ण का, विद्या का, देह का अभिमान करनेवाला राम का नहीं हो सकता।

कबीर मानते हैं कि एक बार सतगुरु की शरण में गया तो सतत संघर्ष करे आत्मशुद्धि के लिए—

> कबीर गुर बसै बनारसी सिष समंदा तीरि
> बिसार्या नहीं बीसरे जे गुण होइ सरीरि। 44-2

कबीर के गुरु वाराणसी के ही थे इससे यह इंगित होता है—रामानंद वाराणसी के थे और कबीर उन्हीं के शिष्य इससे यह संकेत मिलता है। घुमक्कड़ कबीर जहाँ भी रहे गुरु सुमिरन उनके जीवन का अंग था। गुरु के 'सबद' का पालन ही उनका लक्ष्य था क्योंकि वही उन्हें सत्पथ पर अडिग रखता था। गुरु के 'सबद' से ही वे 'मनुष्य से देवता' हुए—मायामुक्त हुए। सतगुरु कृपा से ही वे समर्थ हुए कलियुग से लड़ने के लिए—ईर्ष्या, द्वेष, पाखंड, अनीति से जूझने के लिए। गुरु ने 'जाति पाँति कुल' की सीमा से उन्हें ऊपर उठाया था और सारे संशय-भ्रम गुरु ने ही दूर किए थे। गुरु के वचन पर चलकर वे अपने को कंचन सदृश खरा बना सके थे—'**कसणी दे कंचन कीया।**' गुरु के माध्यम से—

> पूरे सों परचा भया सब दुख मेल्ह्या दूरि
> निर्मल कीन्हीं आतमा, तार्थै सदा हजूरि। 1-35

कबीर 'आतमाराम' बने गुरु-प्रेम से ही—

> कबीर बादल प्रेम का हम पर बरष्या आइ
> अंतरि भीगी आतमा हरी भई बणराइ। 1-34

निर्मल मन का आशय है प्रेम से भरपूर मन, कटुता-कपट से रहित मन, कायरता से मुक्त मन; निराशा की जगह आशा, हीनता की जगह शूरता, चंचलता की जगह दृढ़ता और पक्षपात की जगह निरपख। जहाँ निर्मलता है वहाँ ही अभय है—'**कबीर निर्भय राम जपि।**' निर्मल मन सत्याग्रही होता है—वह 'माया' में नहीं 'राम' में रमता है।

कबीर सतत आतमसंघर्ष में जुटे रहे यही उनके ऊँचे उठने का गुरु है। वे जागने में विश्वास करते थे सोने में नहीं। वे मानते थे '**जब लगि सिर सौंपे नहीं,**

कारिज सिधि न होइ।' इतनी थी दृढ़ता-तत्परता और निष्ठा। कबीर की भगति कायर की नहीं—

कबीर भगति दुहेली राम की नहीं कायर का काम
सीस उतारै हाथि करि सो लेसी हरिनाम। 45-24

भक्तियोग ज्ञान-कर्म से कठिनतर है इसमें पूर्ण समर्पण है। भक्ति सुहेल नहीं दुहेल है। यह केवल रामनाम का जप मात्र नहीं बल्कि राममय होना है—राम हो जाना है। कबीर का राम निरपेक्ष है—कृपालु है, क्षमा का भांडार है, उदार है, कष्टों से उबारने वाला है। वह निरंजन-निराकार है पर गज, गणिका, अजामिल, प्रह्लाद का रक्षक भी है। वह लीलामय है। वह 'अनंत गुण' वाला है। वह भक्तों का रखवाला है। एक ओर वह कर्त्ता, सिरजनहार, खालिक पारब्रह्म है दूसरी ओर वह प्यार-प्रेम-प्रीति की सीमा है। इसीलिए वह कबीर का प्रिय है, 'स्वामी' है, 'दूल्हा' है, पति है। घट-घट वासी है वह—वही बाहर, वही भीतर। संसार उसी का पसार है। इस मान्यता में उसी को विरोध दिखाई पड़ेगा जो अनीश्वरवादी-तार्किक होगा। भारतीय धर्म में—गीता-श्रीमद्भागवत में—निर्गुण और सगुण में भेद नहीं।

कबीर का एक जागरण गीत है—

जागि रे जीव जागि रे।
चोरन कौं डर बहुत कहत है उठि उठि पहरै लागि रे
कहै कबीर जाग्या ही चहिये क्या ग्रिह क्या बैराग रे। 25 भैरू

यही जागरण सभी संतों का ध्येय है। तुलसी कहते हैं—

जागिए, न सोइए बिगोइए जनम जाय। कवि० 7/23

तथा, अब नाथहि अनुराग जागु जड़ त्यागु दुरासा जी तें। वि० 178

सूर कहते हैं—

जब जागे तब मिथ्या जाने। 11.4

'चोर' हैं भावों की संकीर्णता—मैं-मेरा का भाव—ममता;

जब लग मैं मैं मेरी करै तब लग काज एक नहीं सरै
जब यहु मैं मेरी मिटि जाइ तब हरि काज संवारै आइ। 24 भैरू

तुलसी में भी 'मैं तैं' ही माया है—"मैं अरु मोर तोर तैं माया।" मा० 3/15/1 यही अहंकार है। सूर कहते हैं—

मैं मेरी कबहूँ नहिं कीजै। 1.302

परीक्षित श्री शुकदेव से कहते हैं—

आतम रूप सकल घट दरस्यौ, उदय कियौ रवि ज्ञान।
मैं मेरी अब रही न मेरै, छुट्यौ देह अभिमान। 2-33 सू०

'देह अभिमान' से मुक्त होने का प्रयास रहा है सभी संतों का। अभिमान छूटा मुक्ति मिली। 'मैं मेरा' मन का भाव है—यह मन हम सबको पथभ्रष्ट करता है इसीलिए मन को मारें :

कबीर मारौं मन कूं टूक टूक ह्वै जाइ।
विष की क्यारी बोइ करि लुणत कहा पछिताइ। 1.35

अतः, कबीर-सूर-तुलसी मूलतः एक ही परम्परा के हैं—सभी भागवत हैं। सभी 'मैं मेरी', अहंकार काम-क्रोध-माया से मुक्ति चाहते हैं। सभी हरिभगति को उसका उपचार मानते हैं। साधना पक्ष में कबीर-सूर-तुलसी समान है। सूर का एक पद है :

ज्यौं महाराज या जलधि तैं पार कियौ, भव जलधि पार त्यौं करौ स्वामी।
अहं ममता हमें सदा लागी रहै, मोह मद क्रोध जुत मंद कामी।
कर्म सुख हित करत होत तहं दुख, नित तऊ नर मूढ़ नाहीं संभारत।
करन कारन महाराज हैं आपही, ध्यान प्रभु को न मन माहिं धारत।

सूर मानते हैं बिना भगवत् कृपा के उद्धार नहीं—

बिन तुम्हारी कृपा गति नहीं नरनि को, जानि मोहिं आपनौ कृपा कीजै
जनम अरु मरन मैं सदा दुखित रहत, देहु मोहिं ज्ञान जिहिं सदा जीजै। 444

भगवान की कृपा की चाह, भवपार करने की इच्छा, मैं-ममता से मुक्ति की अभिलाषा, क्रोध-लोभ से छुटकारा आदि भाव कबीर में भी है।' अहंकार हटते ही द्वैतभाव समाप्त हो जाता है और भक्त 'आतमलीन' होता है—यही उनमनी अवस्था है—कबीर कहते हैं :

मैं तैं, तैं मैं ये द्वै नाहीं, आपै अकल सकल घट माहीं।
जब थै इन मन उनमन जानां, तब रूप न रेख तहां ले बांनां।
तन मन मन तन एक समानां, इत अनभै माहैं मन मांनां।
आतमलीन अखंडित रांमां, कहै कबीर हरि मांहि समानां। 2 आसावरी

कबीर मानते हैं कि राम राम कहते मनुष्य राम हो जायगा जैसे चंदन वृक्ष के सामीप्य से अन्य वृक्ष सुगंधित हो जाते हैं—

चंदन के ढिग बिरख जु भैला, बिगरि बिगरि सो चन्दन ह्वैला।
पारस कौं जे लोह छुवैगा, बिगरि बिगरि सो कंचन ह्वैला।
गंगा मैं जे नीर मिलैगा, बिगरि बिगरि गंगोदिक ह्वैला।
कहै कबीर जे राम कहैगा, बिगरि बिगरि सो रामहि ह्वैला।

कबीर की सारी चेष्टा अन्धकार से प्रकाश की ओर, नकारात्मक भावों से सकारात्मक भावों की ओर और मैं से घट-घट व्यापी ब्रह्म की ओर है।

रामानंद की शिष्य परंपरा में तुलसी दास थे। कबीर रामानंद के शिष्य ही थे। रामानंद रामानुज संप्रदाय से संबन्धित थे। रामानुज ग्यारहवीं शताब्दी में और रामानन्द पंद्रहवीं में हुए। कबीर ने नामदेव, जैदेव का नाम श्रद्धापूर्वक लिया है जो रामानन्द के पूर्व के हैं। महराष्ट्र के संत त्रिलोचन नामदेव के समकालीन हैं। इसी समय उत्तरी भारत में सदन और बेनी रामभक्ति से सम्बन्धित वैष्णव भक्त हुए। इस प्रकार दक्षिण से उत्तर और पश्चिम से पूर्व तक भक्ति का प्रसार हुआ। हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यता है कि पश्चिमी आर्यों की कृतियों में रूढ़िप्रियता कर्मनिष्ठा की अभिव्यक्ति है और पूर्वी आर्यों में भाव प्रवणता, विद्रोही वृत्ति और प्रेमनिष्ठा है। पर, सचाई यह है कि भक्ति की रसधारा पश्चिम से पूर्व तक प्रवाहित है—सर्वत्र प्रेम, अभेद, समानता के भाव। यह उस युग की माँग थी। लोक भाषा इससे समर्थ बनी और हिन्दी-मराठी-गुजराती-बंगला-मैथिली के माध्यम से नव जागृति हुई। शास्त्रों तक सामान्य जन की पहुँच न थी।

रामानन्द का बल राम नाम पर था। उनके शिष्यों के मध्य राम नाम का प्रयोग ब्रह्म के लिए है। 'रां रामाय नमः' उनका मंत्र था। रामानन्द जाति विचार के विरोधी थे—उनके शिष्यों में चमार-मुसलमान-स्त्री सभी हैं। उनकी शिक्षा सगुण-निर्गुण, एकेश्वरवाद का समन्वय करती थी जो कबीर-नानक-तुलसी सभी में है। रामानुज की मान्यता थी कि सब प्रकार से भगवान् के शरण हो जाना प्रपत्ति है—उनके चरणों में आत्मसमर्पण से जीव को शान्ति मिलती है। भगवान् के प्रसन्न होने पर मुक्ति मिलती है। रामानुज ने समता का प्रचार किया और यह घोषणा की कि भक्ति समस्त भेदों से ऊपर है। रामानन्द ने कहा, किसी भी मनुष्य से उसकी जाति और उसका मत न पूछना चाहिए। ईश्वर की पूजा ईश्वर के प्रति प्रेम है। प्रेम में ही समर्पण सम्भव है। और जहाँ समर्पण है वहीं प्रभु की कृपा है। रामानुज की भक्ति में नैतिक जीवन—कल्याण-दया-अहिंसा-सेवा-पर बल है। कबीर को इस पूरी परंपरा की पृष्ठभूमि में समझना अभीप्सित है। नाभादास कहते हैं :

भक्ति विमुख जो धरम ताहि अधरम करि गायो।
जोग जग्य व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो।
हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी।
पच्छपात नहिं बचन सबहिं के हित की भाखी।
आरूढ़ दसा है जगत पर मुख देखी नाहिंन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट् दरसनी। भक्तमाल 1585

□□

5/कबीर-काव्य में अनुभूति एवं व्यंजना

कबीर पीछे लागां जाइया लोक वेद के साथि,
आगे थैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि। 1.11

लोक-वेद के पीछे-पीछे जाना व्यंजना से भरपूर है। वेद-लोक दो सीमाएँ हैं वाल्मीकीय रामायण में 'वेद-लोक' सामान्य अर्थ में हैं। 'लोक-वेद' का प्रयोग श्रीमद्भगवद्गीता में भी है: "अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।" 15.18 कबीर लोक-वेद की सीमा को पार कर परम ज्ञान की बात कर रहे हैं उनका कहना है आत्मबोध न वेद से है और न लोक से दोनों के परे है आत्मानुभूति। वेद भी बन्धन है और लोक भी। शास्त्रज्ञ होने से कोई 'आत्माराम' नहीं कहा जा सकता। और, लोक में तो अन्धों की संख्या ही अधिक है—उन्हें सत्य का दीपक दिखाई ही नहीं पड़ता, वे हीरा मोती की जगह कौड़ी ग्रहण करते हैं—सतगुण की जगह अवगुण, सकारात्मक भावों की जगह नकारात्मक भाव, परमार्थ की जगह स्वारथ, दया-दान की जगह लोभ, हृदय की निर्मलता की जगह हिंसा, प्रेम की जगह घृणा, समता की जगह भेद। कबीर लोक वेद के पिछलग्गू होकर नहीं रहना चाहते। लोक 'अपारिष' है:

कबीर पाइ पदारथ पेलि करि कंकर लीया हाथि,
जोड़ी बिछुरी हंस की पड़्या बगां के साथि। अपारिष कौ अंग

'पदारथ' हरिभक्ति है, शुद्ध आचरण है, निर्मल मन है, आत्मज्ञान है और कंकर है 'जाति पांति कुल' का अभिमान, लोभ-राग-द्वेष। 'हीरा' कबीर के आखर में—

कबीर हरि हीरा जन जौहरी ले ले मांडि म हाटि,
जब रे मिलैगा पारिखू तब हीर्‌चा की साटि। पारिष कौ अङ्ग

'पदारथ' 'हीरा' 'जौहरी' 'पारिष', सभी व्यंजनायुक्त है। हरिभगत ही कौड़ी हीरा का अन्तर जानता है अन्धा नहीं। साषित (स्यात्‌वादी)—नहीं जानते 'हरिहीरा' की परख। कबीर अन्धे जग का सादृश्य देते हैं—

कबीर यह जग अन्धला जैसी अन्धी गाइ,
बछा था सो मरि गया, ऊभी चाम चटाइ। अपारिष कौ अङ्ग

'अपारिष' अन्धी गाय है उसे बोध नहीं सत्य का। वह भ्रम में पड़ा है उस गाय की भाँति जिसका बच्चा मर गया है पर खाल मढ़कर बनाए गए लरवे को वह अपना बच्चा मानकर पेन्हाती है, यही अज्ञान है। 'अन्धी गाइ' में व्यंजना है अन्धे जग का जिसकी आँख पर पट्टी बँधी है, जो भ्रम में पड़ा है, जो हीरा की जगह कांकर-कौड़ी ले रहा है। कबीर कहते हैं कि हीरा-कौड़ी का ज्ञान भगवत्कृपा से ही सम्भव है। माया लुभावनी है, लोभ अन्धा बना देता है जग को। जहाँ लोभ-स्वार्थ, अहं की तुष्टि है वहाँ ज्ञान (विज़डम) कहाँ—

कबीर पैंड़े मोती बीखरे आंधा निकस्या आइ,
जोति बिना जगदीस की जगत उलंघ्या जाइ। अपारिष कौ अङ्ग

'जोति बिना जगदीस की' का आशय भगवत् कृपा (=गुरु कृपा) है।

रामानुज का विश्वास था मोक्ष, ज्ञान और कर्म के द्वारा नहीं, भक्ति और ईश्वर के प्रसाद (दया) के द्वारा ही सम्भव है। ईश्वर के प्रति समर्पित भाव से कर्म करे तो ईश्वर की कृपा होती है। वैष्णवमत तपस्या-त्यागमय जीवन को प्रोत्साहन नहीं देता। भक्ति, रामानुज के अनुसार, मानसिक शक्ति तथा हृदय के द्वारा ईश्वर से प्रेम करने का नाम है। कबीर का भक्ति मार्ग इसी परम्परा से जुड़ा है। कबीर को निरगुनिया के चोखटे में और सन्त साहित्य को निर्गुण धारा 'सगुणधारा' के रूप में देखना भेद दृष्टि है। भक्ति में निर्गुण, सगुण दोनों का समन्वय है। इसलिए, भक्तिकाल को एक इकाई मानना उचित है। कबीर समर्पण भाव पर बल देते हुए कहते हैं-—

कबीर गुर गोबिंद तो एक है, दूजा यह आकार।
आपा मेटि जीवत मरै तो पावै करतार ॥ 1.26

'जीवतमरै' समर्पण है जिससे अहं (सेल्फ) मरता है। आपा (अह) को मेटना ईश्वर 'करतार' की कृपा से सम्भव है। जो निर्गुण का उपासक है वह सृष्टिकर्त्ता और 'गोब्यन्द' की कृपा पर निर्भर नहीं, सगुणोपासक कृपा का अवलम्ब चाहता है। वही अपने को राम के सम्मुख दीन मानता है। कबीर कहते हैं—

दरस परस तैं दुरमति नासी दीन रटनि लौ लाई।

तथा, दुंदर दिल विष सूं भरी दीन गरीबी राम। 41.12

आर्थिक वैभव अभिमान की जड़ है वह आसक्ति का मूल है। भक्त को दीन गरीबी ही ठीक है।

कबीर मानते हैं—आपा (खुदी) को मिटाने से ही भगवान से ऐक्य होता है :

कबीर आपा मेट्यां हरि मिलै हरि मेट्या सब जाइ। 1.10

तथा, कबीर घर जालौं घर ऊबरै घर राखौं घर जाइ ॥ 41.4

घर जलाना 'जीवत मृतक कौ अङ्ग है। मरना अर्थात् ममता—'मैं तैं' के भाव को मारना। आपा मर गया तो 'घर ऊबरै' अर्थात् 'अजरामर' : मृत्यु-भय, संसार सागर का भय, द्वन्द्व का भय समाप्त और ईश्वर का नित्य सान्निध्य। भक्त को केवल समर्पण करना है :

कबीर ऐसा कोई नां मिलै, राम भगति का मीत।
तन मन सौंपे मृग ज्यूं, सुनै बधिक का गीत ॥ 43.3

प्रपत्ति मार्ग रामानुज का भक्ति मार्ग है। प्रेम की पुकार सुनकर भक्त सर्वभावेन समर्पित होता है मृग की भाँति—जिस प्रकार मृग को मृत्यु की चिन्ता नहीं उसी प्रकार

साखी

1. गुरुदेव कौ अंग

सतगुरु सवाँ न को सगा, सोधी सईं न दाति।
हरि जी सवाँ न को हितू, हरिजन सईं न जाति ॥ 1 ॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं—सतगुरु समान कोई अपना सगा, भलाई करने वाला नहीं है। शुद्धि सदृश कोई पवित्रता (अवदात) नहीं है। भगवान के बराबर कोई कल्याण करनेवाला नहीं है। ईश्वरभक्त की तुलना में दूसरी कोई जाति नहीं है। अर्थात् सतगुरु ज्ञान-दीपक देने से सर्वोपरि है, साधना की दृष्टि से आत्मशुद्धि सर्वप्रथम है। यदि कोई सच्चा हितैषी है तो वह जगतपिता है। जातिभेद यदि मानना ही हो तो हरिभगत की जाति श्रेष्ठ है।

विवृति : गुरु, भगवान और भक्त में ऐक्य स्थापित करता है अपने सबद (आत्मज्ञान) से। ईश्वर की प्राप्ति आंतरिक पवित्रता की देन है। गुरु बन्धु है "बन्धुर्गुरुः"। भागवत (11.19.43) में नारायण 'नरसखा' है अतः गुरु सगा-सखा है। कबीर के अनुसार हरिजन वही जो निर्मल-समतावादी-भेदरहित हो :

तेरो जन एकाध है कोई।
काम क्रोध अरु लोभविवर्जित हरिपद चीन्है सोई ॥
तृष्णा अरु अभिमान रहित है कहै कबीर सो दासा ॥ 31 ॥

जब थैं आतम तत विचारा।
तब निरवैर भया सबहिन थैं काम क्रोध गहि डारा ॥ 33 ॥ रामकली

'श्री मद्भागवत' में श्री कृष्ण उद्धव को भक्त (हरिजन) की विशेषता बतलाते हैं, "प्यारे उद्धव ! मेरा भक्त कृपा की मूर्ति होता है। वह किसी भी प्राणी से वैरभाव नहीं रखता और घोर से घोर दुःख भी प्रसन्नतापूर्वक सहता है। उसके जीवन का सार है सत्य और उसके मन में किसी प्रकार की पापवासना कभी नहीं आती। वह समदर्शी, सब का उपकारी होता है।" 11.11.29

हरिजन सम-समदर्शी होता है इसलिए उसकी कोई जाति नहीं, वह जाति से ऊपर है :

कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लौंन।
जाति पाँति कुल सब मिटै, नांव धरौगे कौन ॥ 14 ॥

सवाँ < सम, समान ।

सगा < स्वक प्रा० सग, सग्ग = अपना, मित्र ।

सोधी < शुद्धि = पवित्रता, निश्चय, सत्य, ज्ञान [शुध्]

दादू— दादू **सोधी** नाहिं सरीर की कहै अगम की बात ॥

तथा, सतगुरु थैं **सोधी** भई तब पाया हरि की खोज ॥

घीसा— भाव भगति से चोला **सोध्या** ।

दात, दाति (1) < दत्त, दत्ति = दान [दा]

(2) < दातृ (दाता); आत्मदात् = आत्मदानी ।

(3) < दात (दातं = शुद्धं); अवदात [दै = शुद्ध करना]

टीकाकारों ने दात, दाति का अर्थ दान-दहेज किया है पर प्रसंगानुसार यह संस्कृत दात (अवदात = निर्मल) के आशय में है । घीसा सन्त कहते हैं : 'हम **दाता** से सतगुरु भये सतगुरु से भये सन्त ।'

बलिहारी गुर आपणैं, द्यौहाड़ी कै बार ।
जिनि मानिष तैं देवता, करत न लागी बार ॥ 2 ॥

भावार्थ : कबीरदास सतगुरु की वंदना करते हुए कहते हैं—हे गुरुदेव ! आप पर अपने को मैं (कृतज्ञतावश) निछावर करता हूँ । भावविभोर होकर कबीर कहते हैं, दिन भर में मैं सैकड़ों बार बलि जाता हूँ क्योंकि आपने मुझे (मेरा हृदय शुद्ध कर) देवता बना दिया । अर्थात् मैंने अमृतत्व प्राप्त कर लिया—आपकी ज्ञानज्योति-कृपादृष्टि से अविलम्ब मैं धर्मात्मा-संत-हरिजन हो गया ।

विवृति : मनुष्य उदात्त भावों से युक्त होने पर देवता बन जाता है और तमोगुण युक्त होने पर राक्षस । श्री मद्भागवत के अनुसार भक्त 'अनवद्य' (दोषरहित) हो जाता है (11.11.29) और गीता के अनुसार भक्त 'सद्यःभवति धर्मात्मा' । भागवत में है—

मर्त्यो यदा त्यक्त समस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै ॥ 11.29.34

[जिस समय मनुष्य समस्त कर्मों का परित्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है उस समय वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है और मैं उसे उसको जीवत्व से छुड़ाकर अमृतस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति करा देता हूँ और वह मुझसे मिलकर मेरा स्वरूप हो जाता है ।]

आंतरिक शुद्धि के सम्बन्ध में कहा गया है "मनः सत्येन शुध्यति ।" शुद्ध होना अर्थात् संशयरहित होना, मनुस्मृति ।

बलि = दान (आफरिंग); बलिकर्मन् = समर्पण ।

द्यौहाड़ी < दिवस प्रा० दिवह; दीहड़ा—'ढोला मारू रा दोहा' :

संदेसे ही घर भर्यउ कइ अंगणि कइ वार।
अवसि ज लग्गा **दीहड़ा** से ई गिणइ गँवार ।।200

पंजाबी **दिहाड़ी**, सिन्धी दिहाड़ो, पुरानी मारवाड़ी दिहाड़ो, गुजराती दहाड़ो। **द्यौहाड़ी** एक शब्द है। 'हाड़ी' हड्डी नहीं और न **द्योहाड़ी** देवगृह है जैसा 'कबीर वाङ्मय' में है। मंझनकृत 'मधुमालती' में **देवहारी** (द्यौहारी), **देवहरे** है। (417), पदमावत (335) में देवहरे है।

बार < वार, पाली वार = समय, बारी। अवधी-भोजपुरी बार बारी,-पुरानी मारवाड़ी बार, पुरानी गुजराती वार, मराठी वार।

[**बार** वेला से नहीं व्युत्पन्न है, जैसा 'मानक हिन्दी कोश' में है; सं० वेला से बेर (बेर-सबेर) सम्बन्धित है।]

सतगुर की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार ।। 3 ।।

भावार्थ : सतगुरु की महिमा अनन्त है (ईश्वर की भाँति)। उसके अनन्त उपकार हैं (उसने मुझे देवत्व-अमृतत्व दिया), मेरे हृदय में प्रकाश का सागर उमड़ पड़ा है और मैं उस अनन्त परमेश्वर की अनुभूति कर रहा हूँ।

विवृति : **लोचन** का अर्थ प्रकाश और नेत्र दोनों हैं। अनन्त (1) जिसका अन्त नहीं (2) परब्रह्म। **लोचन अनँत उघाड़िया** अर्थात् भीतर के दरवाजे खोल दिए जिससे ब्रह्म-गोविन्द का दर्शन हो गया। यथा,

जिन लोचनमन मोहिया ते लोइन परवान। 28 गौड़ी
जिति हिरदे श्री हरि भेटिया............। "
दरसन संमि को कीजिये...............। "
गुरु मिलि जिनके खुले कपाट..........। 23 भैरूँ

अनँत दिखावणहार अर्थात् ब्रह्मज्ञान देनेवाला, परम ज्योति को दिखानेवाला—

जब मैं पाइबो रे, पाइबौ ब्रह्म गियान। 6 गौड़ी

गुरु कृपाल क्रिपा जब कीन्हीं हिरदै कंवल बिगासा।
भागा भ्रम दसौ दिसि सूझ्या परम जोति प्रकासा ।।

उघाड़ना < उद्‌घाटन (घट् = खोलना)।

राम नाम कै पटंतरै, देबे कों कुछ नाँहि।
क्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन माँहि ।। 4 ।।

भावार्थ : मेरे गुरु ने मुझे 'रामनाम' दिया—ईश्वर का बोध कराया। [इस 'रामनाम' ने मेरे हृदय के दरवाजे खोल दिए हैं और अब परमज्योति से पूर्ण हूँ] ऐसे गुरु

है उन्हें समर्पित करने की पर गुरु दक्षिणा में क्या देकर उन्हें तुष्ट करूँ ? अर्थात् ज्ञान देने वाले से उरिन नहीं हुआ जा सकता।

सतगुर के सदकै करूं, दिल अपणीं का साछ।
कलियुग हम स्यूं लड़ि पड़्या, मुहकम मेरा बाछ ॥ 5 ॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं ऐसे परोपकारी कृपालु गुरु पर अपने को निछावर करता हूँ—बलि जाता हूँ। मेरा हृदय सत्य से ओत-प्रोत है—सत्य से मेरा हृदय शुद्ध हो गया है। कलि हमें बराबर कुमार्ग पर ले जाने के लिए जोर मारता है पर मैं उसके विरोध में दृढ़तापूर्वक खड़ा हूँ—मेरा निश्चय ज्यों का त्यों है। मुहकम = दृढ़ अर्थात् काम-क्रोध-लोभ मेरा बिगाड़ नहीं सके।

विवृति : डॉ० गुप्त ने 'साछ' की जगह 'साच' पाठ स्वीकारा है और वही संदर्भ से संगत है। 'बाछ' की जगह बाच (वाच, वाचा = प्रतिज्ञा) स्वीकारना चाहिए तुल० 'अहो साहि बाचा प्रतिपारहु' (छिताई—)। पंजाबी में भी वाचा प्रतिज्ञा के आशय में है। 'बाछ' बांछा = आकाक्षा के अर्थ में नहीं मिलता है। अतः साच, वाच अथवा सांच वांच ही समीचीन है। 'सांच' से मेल के लिए वांच हो सकता है। 'बांच' = बचा हुआ (कबीर वाङ्मय) उपयुक्त नहीं।

मुहकम (अरबी) = दृढ़, पक्का, संदेह रहित, अटल :

अन्यत्र, जो गढ़पति मुहकम होई। तौ लूटि सकें न कोई। 1 सोरठि

सतगुर लई कमांण करि, बांहण लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सूँ, भीतरि रह्या सरीर ॥ 6 ॥

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं मेरे गुरु कमान (धनुष) लेकर सबद तीर चलाने लगे—प्रीतिरस-प्रेमरस से भरा एक तीर मेरे भीतर (हृदय) धँस गया अर्थात् उस प्रेमतीर ने मेरे भीतर विरह की आग लगा दी और मैं भगवान से एक होने के लिए व्याकुल हो उठा।

विवृति : 'तीर' का आशय 'सबद' है—

कबीर सतगुरु साचा सूरिवां सबद जो बाहा एक।

'प्रीति स्यूं' का अर्थ 'प्रीति से' टीकाकारों ने किया है पर भाव है प्रीति-रस, हरिरस से युक्त : 'हरिरस जे जन बेधिया⋯ ⋯।' 40.5 अथवा प्रीति = प्रसन्नतापूर्वक।

बाहना = चलाना (वह् = ले जाना—वाहयति) (1) बहना (हवा-पानी बहना), बाहा। (2) अवधी बाहब = हल चलाना, हल बहत बा = हल ठीक से चल रहा है। मराठी वाहणें चलना, चलाना, पुरानी मारवाड़ी वहइ = चलता है। डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने 'बाहना' को वाह् (= श्रम करना) से सम्बन्धित बताया है। वह् का अर्थ चलना, चलाना आधुनिक आर्य भाषाओं में विकसित है : गु० वाहवुं = हथियार

उठाना, कश्मीरी **वायुन्** = हथियार हिलाना; पंजाबी **बाहणा** = नाव खोलना। मानक हिन्दी कोश में बाहना = हथियार चलाना को सं० वहन से सम्बन्धित किया है पर बाहना < वाहयति से विकसित है। पद्माकर ने **'बाहत'**—का प्रयोग किया है—

बान सी बुंदन के चदरा बदरा बिरहीन पै बाहत आवैं।

सबद बाह्या = सबद-तीर (अस्त्र) चलाया। 'शब्द फेंककर मारा' अर्थ 'कबीर वाङ्मय' में है पर इसमें 'बाहण लागा तीर' का भाव नहीं आता है।

सतगुर साँचा सूरिवाँ, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही मैं मिलि गया, पड्या कलेजै छेक॥ 7॥

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं, गुरु सच्चे शूर हैं। उनके एक सबद-तीर ने मेरे हृदय में घाव कर दिया (तीर हृदय में घुस गया) और उस प्रेमतीर से मैं आत्मतत्व से मिल गया—एक हो गया अर्थात् द्वैतभाव जाता रहा—मेरे रोम-रोम में राम नाम व्याप्त हो गया।

छेक < छिद् = काटना, छेदना। 'पड्या कलजै छेक' का आशय है कि सतगुरु ने मुझे संशय रहित कर दिया—'एतं मे संशय छिद्धि मतिर्मे संप्रमुह्यति।' महाभारत पंजाबी **छेक** = छेद। छिनत्ति, छित्ते = काटता है।

डॉ० गुप्त ने 'भ्वैं मिलि गया' = भूमि पर गिर पड़ा, पाठ दिया है। 'बाहना' अस्त्र चलाना है—तीर (अस्त्र) की चोट से गिर पड़ना स्वाभाविक है, अतः गुप्त जी का पाठ समाचीन है। यथा,

ज्यूं ज्यूं हरि गुण सांभलौं त्यूं त्यूं लागै तीर।
लागैं थैं भागा नहीं साहणहार कबीर॥ 40.7
सारा बहुत पुकारिया पीड़ पुकारै और।
लागी चोट सबद की रह्या कबीरा ठौर॥ 40.8

'रह्या कबीरा ठौर' का ही भाव है 'लागत ही भ्वैं मिलि गया' में। अर्थात् कबीर ने गुरु के सबद बाण को सहा शूर की तरह, मैदान से भागा नहीं—उस चोट से धराशायी होने में ही परमसुख मिला—

कबीरा मरि मैदान में करि इंद्र्यां सूं झूझ। 45.2

शूर वही है जो मैदान से भागे नहीं, वहीं मरे। घायल होना शूरता का लक्षण है :

कबीर सारा सूरा बहु मिलैं घाइल मिलै न कोइ।
घाइल ही घाइल मिलैं तब रामभगति दृढ़ होइ॥ 3.11

सतगुर मार्‌या बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि।
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूँ फूटि॥ 8॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं सतगुरु ने सम्यक् मुट्ठी से सबद बाण छोड़ा—वह बाण निशाने पर लगा, मेरा हृदय बिंध गया उसने अङ्ग-अङ्ग को जर्जर कर दिया—उद्घाटित कर दिया। फलतः मेरे हृदय में विरह की दावाग्नि प्रज्वलित हो उठी है।

विवृति : '**सूधी मूठि**' का अर्थ सीधी मूठी न करके शुद्ध (ठीक) मुट्ठी करना संगत है। '**अंग उघाड़ै**' का अर्थ 'नंगा अंग' अनुकूल नहीं है। कबीर का भाव है कि सबद बाण अङ्ग-प्रत्यङ्ग में धँस गया जिससे अङ्ग-अङ्ग जर्जर होकर खुल गए—रोम-रोम से तत्त्वज्ञान की ध्वनि निकलने लगी। निशाना इतना ठीक था कि अङ्ग-अङ्ग को उघाड़कर रख दिया उसने—हृदय का कपाट खुल गया—'गुरु मिलि जिनके खुले कपाट'। 23 भैरू
तुलनीय (1) कबीर चोट सताणी बिरह की सब तन जरजर होइ। 3.14
(2) लागी चोट शरीर मैं करक कलेजे माहिं। 40.5

हंसै न बोलै उनमनीं, चंचल मेल्ह्या मारि।
कहै कबीर भीतरि भिद्या, सतगुरु के हथियार ॥ 9 ॥

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं गुरु का हथियार (सबद-बाण) लगते ही चंचल मन मर गया—उसे शब्द-ज्ञान ने मार डाला। वही मन अब उन्मनी (सुस्थिर) हो गया है अर्थात् प्रेम में लय हो गया है। सबद-बाण के भीतर प्रवेश करने से मैं आत्मानन्दो-आत्माराम हो गया हूँ, मेरा हँसना-बोलना बन्द हो गया है—मैं मूक होकर उस रामरस का आनन्द ले रहा हूँ।

विवृति : मेल्हना का अर्थ डालना है बेचैन करना नहीं जैसा 'कबीर वाङ्मय' में है। गुज० मेलवुं = छोड़ देना, डाल देना, मुक्त करना; प्राकृत मेल्लइ, मिल्लइ, मिल्हइ = छोड़ देता है। कबीर ने अन्यत्र 'मेल्ही' का प्रयोग किया है : 'डाली कूपल **मेल्ही**' 'वाड़ी पाणी **मेल्ही**'। 11 रामकली, तथा

पूरे सूं परचा भया सब दुख **मेल्या** दूरि। 1.35

सूरसागर (1) मुकुति आनि मंदे मैं **मेली**। 4342
(2) मारै मोहिं बंदि लै **मेलै**। 3561

पद्मावत समदहु फाग मेलि सिर धूरी। 531.

छिताईवार्ता **मेले** गोला जब दुइ चारी। 1078

अतः, मेले, मेल्हे का अर्थ डाल दिए अथवा डाले हैं।

चंचल मन के शान्त होने पर व्यक्ति अन्तर्मुखी-आत्मानन्दी हो जाता है :

गूंगा हूवा बावला, बहरा हूआ कान।
पाऊँ थैं पंगुल भया, सतगुर मार्‌या बाण ॥ 10 ॥

भावार्थ : सतगुरु के सबद-बान लगने से भीतर का द्वार खुल जाता है—भीतर की ज्योति अथवा भीतर बहती हुई रसधारा से साधक तादात्म्य कर लेता है। यह भागवत प्रेम उसे मूक, बधिर, पंगुल बना देता है—अर्थात् उसे बाहरी जगत् से आसक्ति नहीं रह जाती।

गूंगा फा० गुंगा (सं० मूक)
बहरा < बधिर। **बावरा** < वातुल, वातूल प्रा० वाउल।

पीछैं लागा जाइ था, लोकवेद के साथि।
आगैं थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥ 11 ॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं जब तक गुरु नहीं मिला था तब तक हम भी अन्य लोगों की भाँति 'लोक-वेद' (संसार) के चक्कर में पड़े थे। सतगुरु से ज्ञान मिलते ही मैंने अंधानुसरण त्याग दिया—अनुभव किया कि संसार की आसक्ति से मुक्ति, आत्मप्रकाश-ब्रह्मानुभूति सम्भव नहीं, यह गुरु की कृपा अथवा भगवत्कृपा—भक्ति, और हृदय की शुद्धता—से ही सम्भव है। अर्थात् पञ्चविकार—काम-क्रोध-लोभ आदि शास्त्र के पारायण अथवा पाण्डित्य से नहीं जाते इनसे बचने के लिए हृदय को दर्पण की भाँति मांजना चाहिए। दीपक = आत्मज्योति। प्रकाश में अहंकार मिट जाता है और आत्म-बोध हो जाता है। अंधकार (अज्ञान) बिना प्रकाश के नहीं मिट सकता।

लोक-वेद = संसार :

ऐसे हम **लोक-वेद** के बिछुरें सुंनिहि मांहि समांवहिंगे। 148 गौड़ी

सूरसागर —**लोकवेद** की मरजादा निदरी । 3004

'**लोक-वेद**' संत-काव्य में संसार का पर्याय है।

विवृति : कबीर-काव्य में 'कलियुग', 'अंधकार'-'दीपक' प्रतीकात्मक प्रयोग हैं। अज्ञान अंधकार है, ज्ञान दीप है। अंधकार-प्रकाश बाह्यजगत् से नहीं, भीतरी जगत् से सम्बन्धित हैं। यथा,

कबीर जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि हैं मैं नांहि।
सब अँधियारा मिटि गया जब दीपक देख्या मांहि ॥ 5.35

'**आगै थैं सतगुरु मिल्या**' का आशय है कि गुरु खोजने से नहीं ईश्वर कृपा से मिलता है। हाँ, उसके लिए तैयारी करनी पड़ती है :

अँधियारे दीपक चहिये तब बस्त अगोचर लहिये।
जब बस्त अगोचर पाई तब दीपक रहा समाई ॥
जौ दरसन देख्या चहिए तौ दरपन माँजत रहिये।
जब दरपन लागै काई तब दरसन कीया न जाई ॥
का पढ़िये रे का गुनिये का वेद पुराना सुनिये।
पढ़े गुने मति होई मैं सहजै पाया सोई ॥ 1 सोरठि

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणां, बहुरि न आवौं हट्ट ॥ 12 ॥

भावार्थ : सतगुरु ने ऐसा आत्मप्रकाश उत्पन्न किया कि वह चुकनेवाला नहीं। यह ज्ञान-दीपक अक्षुण्ण है, अघट्ट है—बस हृदय-दर्पण को व्यक्ति स्वच्छ रखे। इसके लिए शास्त्र नहीं जीवन-दृष्टि चाहिए। मोक्ष तभी सम्भव है जब भीतर सतत ज्योति जलती रहे—कलि (कामक्रोध आदि) के चक्कर में न फँसे। जीवन का धर्म तभी पूरा होगा

जब समग्र जीवन आलोकित रहे—गोबिंद से जुटा रहे। गुरु-गोबिंद एक ही हैं। जीवन-व्यापार में वही सफल है जो समर्पित है गोबिंद के प्रति। 'पूरा किया बिसाहुणां' = मैंने संसिद्धि प्राप्त कर ली, अब इस संसार में नहीं आऊँगा। मेरी खरीददारी खत्म हुई।
विवृति : संसार एक हाट-बाजार है। यहाँ माया का बोलबाला है। इससे बचने के लिए ईश्वर का सतत सुमिरन चाहिए।

बिसाहुणां डॉ० गुप्त ने बिसाहुणाँ की व्युत्पत्ति विसाधनीय = क्रय की जाने वाली वस्तु, से बताई है। **साध्** = प्राप्त करना। **विसाधयते** = प्राप्त करता है। **साधन** = माल **हट्ट**, सं० हट्ट = बाजार, प्रा० हट्ट।

ग्यान प्रकास्या गुर मिल्या, सो जिनि बीसरि जाइ।
जब गोबिंद कृपा करी, तब गुर मिलिया आइ ॥ 13 ॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं गोबिंद-गुरु की कृपा न भूलनी चाहिए—गोबिंद की कृपा से गुरु मिले, और गुरु से ज्ञान प्रकाश मिला। ज्ञानज्योति जलती रहे अर्थात् उस गोबिंद को एक क्षण के लिए भी न भूले—सतत सुमिरन और सचेतनता ही ज्ञान है।
विवृति : आत्मबोध ही प्रकाश है। आत्मा की नित्यता का ज्ञान होते ही अज्ञानांधकार मिट जाता है। अज्ञान अर्थात् मन के विकार। प्रकाश का भाव इस प्रकार है :

जब लग मनहिं विकारा तब लगि नहि छूटे संसारा।
जब मन निर्मल करि जाना तब निर्मल माँहि समाना।...

जब पापपुनिभ्रम जारी तब भयौ **प्रकास** मुरारी। 2 सोरठि

कबीर का एक ही कथन है—मन निर्मल करो। मन निर्मल हुआ तो पाप-पुण्य-भ्रम सब समाप्त हो गए। ईश्वर के बिसरने (भूलने) पर ही मनुष्य कुविचारों का शिकार होता है; छल-कपट से मुक्ति सम्भव नहीं :

हिरदै कपट मिलै क्यूं सोई। 3 सोरठि

बीसर < विस्मृत।

कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लूंण।
जाति पाँति कुल सब मिटे, नाव धरौगे कौण ॥ 14 ॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं हमें महान् गम्भीर गुरु मिला जिसने हमारे भीतर राम-रस ऐसा भर दिया कि हमारा स्वरूप ही बदल गया जैसे आँटे में नमक मिला दें तो उसका स्वाद ही कुछ और फिर वह मात्र आटा नहीं। जिसके भीतर ईश्वरानुभूति हो गई उस रामजन की कोई जाति नहीं, उसका कोई कुल नहीं, वह हरिजन है। वह न हिन्दू है न मुसलमान, न जुलाहा और न कोरी। कबीर अभेद में आस्था रखते थे। कबीर का बल राम के साथ घुलमिलने पर है।

विवृति : **गरवा** < गुरक (विरोधी, हरुआ < लघुक)

पद्मावत—**गरुअ** गयंद न टारे टरहीं । 517 मोर पिय **गरुआ** । 599 मुहमद **गरुए** जो विधि गढ़े । 599

पंजाबी **रलाउणा** = मिलाना, लहंदा **रलण** = मिल जाना (नदी का समुद्र में मिलना) कश्मीरी **रलुन** = मिल कर एक होना । **सूरसागर**—'स्याम रंग मैं नैन रहे **रली** । 4478 अंग-अंग आनन्द **रली** । 1357 मानक हिन्दी कोश में **रलन** को सं० ललन से विकसित माना है जो अशुद्ध है ।

रलना—एकमेक होना, तद्रूप होना, मिश्रित होना ।

जाका गुर भी अंधला, चेला खरा निरंध ।
अंधै अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पड़ंत ॥ 15 ॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं अंधे (अज्ञानी) को यदि अंधा (अज्ञानी) गुरु मिल जाय तो उद्धार सम्भव नहीं क्योंकि दोनों ही अंधे हैं—अंधे को अंधा आगे नहीं ले जा सकता परिणाम होगा दोनों ही कुएँ में गिरेंगे अर्थात् दोनों की ही दुर्गति होगी । सूरसागर— परै सु **कूपहिं** माहीं । 4305 दुरमति **कूप** खनावै । 168 नरक **कूपनि** जाइ । 106

नां गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव ।
दून्यू बूड़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव ॥ 16 ॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं जब गुरु गरुअ नहीं मिलता और शिष्य भी जिज्ञासु नहीं होता तो दोनों एक दूसरे से लाभ उठाने की फिक्र में रहते हैं—न गुरु में देने का भाव है और न शिष्य में समर्पण का । दोनों लालची अपने-अपने घात में रहते हैं । फलतः दोनों ही भवसागर में डूबते हैं—उसी प्रकार जिस प्रकार पत्थर की नाव डूब जाती है । कबीर का कथन है कि गुरु और शिष्य दोनों का मन निर्मल-निश्छल हो तभी ज्ञान सम्भव है ।

सूरसागर—लेत आपनौ **दांउ** । 1151

पद्मावत—का मैं एहिक नसावा का एइं संवरा **दांउ** । 412

दाँव खेलना चालाकी से दाँव लेने के आशय में है । **दाँव** फा० दाउ । मा० हि० को० में 'दाँव' को 'दा'—से सम्बन्धित बताया गया है । डॉ० गुप्त ने **दांउ** की व्युत्पत्ति 'दाय' दी है ।

चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा मांहि ।
तिहि घरि किसकौ चानिणौं, जिहि घरि गोबिंद नांहि ॥ 17 ॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं—हृदय में सत्य का प्रकाश तभी सम्भव है जब उसमें गोविंद विराजमान हो । जिस प्रकार चौंसठ दीपों के जलाने पर भी पूर्णिमा का प्रकाश सम्भव नहीं है अथवा जैसे प्रतिपदा से लेकर चतुर्दशी तक उदित होनेवाले चन्द्र से पूर्णिमा की चाँदनी सम्भव नहीं है उसी प्रकार लाखों उपायों-कर्मकाण्डों से शान्ति सम्भव नहीं है ।

विवृत्ति : जोइ < युज् = जोड़ना, पारङ्गत होना ।

चौंसठ दीवा—चौंसठ दीप के प्रयोग की बात परम्परा में मिलनी चाहिए । ऋग्वेद के 64 अध्याय महत्वपूर्ण है सम्भवतः उन्हीं के आधार पर संख्या चौंसठ को महत्व मिला । चौंसठ कलाएँ हैं । टीकाकारों ने 'चौंसठ दीवा' से यही संकेत ग्रहण किया है । कबीर की 'चौंसठ दीवा' लोक-जीवन का प्रयोग है ।

चौदह चंदा से टीकाकारों ने 14 विद्याओं का अर्थ ग्रहण किया हैं पर कबीर का संकेत पूर्णिमाविहीन चतुर्दशी तक प्रकाशित होने वाले चन्द्र से है । कबीर का कथ्य है कि पूर्णिमा की ज्योत्स्ना सारे प्रकाशों के एकत्र जोड़ने पर भी सम्भव नहीं है । जिसके हृदय में सत्य-सतगुरु ज्ञान के प्रति लगाव नहीं वह कुछ भी करे व्यर्थ है—वेद-शास्त्र के ज्ञान से हृदय में समता-शीतलता का उदय नहीं । निर्मल हृदय में ही चाँदनी सम्भव है ।

निस अंधियारी कारणैं, चौरासी लख चंद ।
अति आतुर ऊदै किया, तऊ दिष्टि नहिं मंद ।। 18 ।।

भावार्थ : कबीर कहते हैं यदि मनुष्य मन्द है—माया-क्रोध-लोभ में फँसा है—तो उसके भीतर अंधेरा ही अँधेरा है । प्रकाश तो केवल सतगुरु के ज्ञान से ही सम्भव है । पूर्णिमा की चाँदनी का आनन्द गुरु की देन है । यह चाँदनी चौरासी लाख चन्द्रमा के एकत्र करने पर भी सम्भव नहीं है ।

विवृति : आत्मप्रकाश का आलोक गुरु प्रसाद से ही सम्भव है । 'आतुर' मन्द के आशय में है—जिसे समत्व नहीं प्राप्त है वह 'आतुर' = व्याकुल कहा जायगा । 'तऊ दिष्टि नहिं मंद' का आशय है कि बिना निर्मल हृदय ज्ञानदृष्टि सम्भव नहीं । 'आतुर' का अर्थ टीकाकारों ने वेग से, जल्दी-जल्दी किया है । 'ऊदै किया' का भाव है कि प्रयास से प्रकाश नहीं मिलता इसके लिए ईश्वर-गुरुकृपा चाहिए ।

भली भई जु गुर मिल्या, नहीं तर होती हाणि ।
दीपक दिष्टि पतंग ज्यूं, पड़ता पूरी जाँणि ।। 19 ।।

भावार्थ : कबीर कहते हैं—मुझे गुरुकृपा प्राप्त हो गई अन्यथा बहुत हानि (बरबादी) होती । मैं भी दूसरों की भाँति, माया-मोह-क्रोध—जो कलि के उपाय हैं—में फँसकर उसी प्रकार अपना जीवन नष्ट करता जिस प्रकार पतङ्ग दीपक की लुभावनी ज्योति में अपने को भस्म करता है । सांसारिक आसक्ति माया है, माया की समता दीपक से दी जाती है ।

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवैं पड़ंत ।
कहै कबीर गुर ग्यान थैं, एक आध उबरंत ।। 20 ।।

भावार्थ : कबीर कहते हैं— यह माया बड़ी लुभावनी है । जिस प्रकार पतङ्ग दीपक-ज्योति के वश में अपने को विनष्ट कर देता है उसी प्रकार मनुष्य माया की लुभावनी

चमक-दमक में। माया का भ्रम बड़ा मोहक है। माया के चक्कर में पड़ने पर उबरना तभी सम्भव है जब गुरुकृपा मिले।

कबीर को गुरुकृपा मिली इसीसे वे माया-मोह के फंदे से उबर सके—यह कृपा किसी-किसी को, निर्मल हृदय वाले को—मिलती है। अर्थात् भक्ति-पथ ईश्वर की कृपा से ही सहज है।

सतगुर बपुरा क्या करै, जे सिष ही माँहै चूक।
भावै त्यूं परमोधि ले, ज्यूं बंसि बजाइ फूक॥ 21॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं सतगुरु बेचारा क्या करे यदि शिष्य जिज्ञासु-श्रद्धालु और संयमी नहीं है—शिष्य में यदि कमी हो तो गुरु अकेला कैसे ज्ञान दे सकता है। और यदि शिष्य धीर है तो उसे गुरु जिस प्रकार चाहे ज्ञान दे जैसे बांस की बाँसुरी से वादक जैसा चाहे स्वर निकाले। तुलनीय साखी 24.

परमोध < प्रबोध = तत्वज्ञान; बुध् = जानना समझना—बोधति, बुध्यते।

[कबीर वाङ्मय में अर्थ है—परमोधि ले = अर्थ निकाल ले।··· शिष्य अपने पूर्वग्रहों और वासनाओं के कारण गुरु के उपदेश से मनमाना अर्थ निकाल लेता है।···]

संसै खाया सकल जग, संसा किनहुँ न खद्ध।
जे बेधे गुर अष्षिरां, तिनि संसा चुणि चुणि खद्ध॥ 22॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं संशय (अविश्वास)—भ्रम ने बहुतों का सर्वनाश किया है, विरले संत हैं जिन्होंने संशय से मुक्ति पा ली हो। संशय से छुटकारा उसी को मिल सकता है जिसको गुरु से प्रबोध (ज्ञान) प्राप्त हुआ हो—जिनके हृदय में गुरु के सबद घुस गए हों। प्रकाश गुरु से मिलता है। जहाँ संशय (अनिश्चयता) है वहाँ संयम-विवेक का अभाव रहेगा ही। गुरु संशयछेदी है अर्जुन कृष्ण से कहते हैं 'त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते' (गीता 636)

संशी = संदेह करना। **विध्** = धँसना, चुभना।

चेतनि चौकी बैसि करि, सतगुर दीन्हाँ धीर।
निरभै होइ निसंक भजि, केवल कहै कबीर॥ 23॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं सतगुरु के ज्ञान ने धीरता दी, वीरता दी, संदेह मिटाया, ज्ञान-मार्ग पर चलने की दृढ़ता दी। अतः निर्भय निःशङ्क होकर चेतनता को एक क्षण के लिए भी न छोड़ो—उस परम तत्व को भजते रहो, उसी का ध्यान करो।

विवृति : 'चेतन चौकी बैसिकरि' अर्थात् आत्मज्ञान–विवेक पर दृढ़ होकर–अथवा स्थित-प्रज्ञ होकर। चित् = जानना; समझना, सचेत रहना। चेतन = आत्मा, बुद्धि, परम तत्व। **धीर** = धीरचेतस् = वीर, सुदृढ़ व्यक्तित्व; धीरप्रशांत = वीर और शांत। राम को 'धीरोदात्त' और 'दृढ़व्रत' कहा गया है अतः **धीर** धैर्य नहीं जैसा टीकाकारों ने अर्थ किया है। धीरता = संशय रहित दृढ़ता। 'आचारांगसूत्र' में कहा गया है—"संसार

के दुःख को जानकर धीर साधक सांसारिक बन्धनों को त्याग कर संयम रूपी महायान से यात्रा करते हैं।"

[पहली पंक्ति का अर्थ टीकाकारों ने किया है 'ज्ञान की चौकी पर बैठकर सतगुरु ने धैर्य बँधाया' पर कबीर का कथ्य भिन्न है।]

सतगुर मिल्या त का भैया, जे मन पाड़ी भोल।
पासि बिनंठा कप्पड़ा, क्या करै बिचारी चोल ॥ 24 ॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि सतगुरु मिलने मात्र से कुछ नहीं होता यदि मन में भ्रम-भूल को पाल रखा हैं। सतगुरु मंजीठ हैं जो रंगता है पर यदि कपड़ा मैला है तो मंजीठ बेचारा क्या कर सकता है। अर्थात् मन की निर्मलता अपेक्षित है। तुल० साखी 16.
विवृति : पासि < पांशु (सु), पांसुल = धूल, मैला-कुचैला, धब्बा लगा। चोल (प्राकृत) = मंजिष्ठा जिससे लाल रंगा जाता है। 'रंग्यो चोल रंग चीर।' 619 बि० सतसई

बूड़े थे परि ऊबरे, गुर की लहरि चमंकि।
भेरा देख्या जरजरा, (तब) ऊतरि पड़े फरंकि ॥ 25 ॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं अन्य सांसारिक प्राणियों की भाँति मैं भी डूब चुका था पर गुरु की कृपा का आलोक मिला और मैंने लोक-वेद का मार्ग छोड़कर अपने को निर्मल बनाया। बिना हृदय की स्वच्छता के कोई भवसागर पार नहीं हो सकता—जिस नाव पर सवार था वह जर्जर थी, विनष्ट थी, अतः उसे छोड़कर अपना रास्ता अलग बनाया। भाव है कि मुक्ति के लिए संसार छोड़ना होगा—माया से छुटकारा पाना होगा।
विवृति : ऊबरा = बच गया। प्रा० उव्वारेइ। 'गुरु की लहर चमकि' = गुरु की कृपा से हृदय में प्रकाश उत्पन्न हुआ। तुलनीय :

जल थल जीव डहके इन माया कोई जन उबर न पावै।
राम अधार कहत हैं जुगि-जुगि दास कबीरा गावै। 2 मल्हार

गुर गोबिंद तौ एक हैं, दूजा यहु आकार।
आपा मेटि जीवत मरै, तौ पावै करतार ॥ 26 ॥

भावार्थ : कबीर कहते है कि गुरु-गोविंद में भेद नहीं है—दोनों एक हैं। आकार भेद से हमें ये दो लगते हैं। मनुष्य और परमात्मा में भेद नहीं—आपा (अपनत्व = अहं का भाव मिटा दें—अपने और पराये में भेद न समझे—तो व्यक्ति ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है। आपा (अहंकार) मिटाना अनिवार्य है ईश्वरत्व की प्राप्ति के लिए। जीते हुए 'आपा' को मिटाना अर्थात् अपने को मार कर जीना। तुलनीय—,

आपा पर सब एक समान। तब हम पाया पद निरबाण। 15 रामकली

'दूजा यहु आकार' का आशय है—आकार भिन्न पर तत्व एक :

राजाराम कवन रंगै।
जैसे परिमल पुहुप संगै ॥

पंचतत ले कीन्ह बंधान। चौरासी लष जीव समान।
बेगर-बेगर राषिले भाव। तामै कीन्ह आपको ठाँव ॥ 15 रामकली

कबीर सतगुर नाँ मिल्या, रही अधूरी सीष।
स्वांग जती का पहरि करि, घरि घरि मांगै भीष ॥ 27 ॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि सतगुरु के मिलने से मनुष्य आत्माराम हो जाता है—वह जती (सं० यती) का स्वांग (वेश) बनाकर भिक्षा माँगता नहीं फिरता। सतगुरु की सीख से पूर्णत्व प्राप्त होता है—पूरे से परिचय हो जाने पर फिर किसी वस्तु की कमी नहीं। हरिजन को यती बनने की अपेक्षा नहीं। ऐसा वही करता है जिसने गुरु की अधूरी बात का ही अनुसरण किया।

सतगुर सांचा सूरिवाँ; तातैं लोहिं लुहार।
कसणो दे कंचन किया, ताइ लिया ततसार ॥ 28 ॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि सतगुरु सच्चा शूर-वीर (आत्मज्ञानी) है। वह लोहे को कंचन कर देने की सामर्थ्य रखता है—वह ऐसा लोहार है जो आपा-पर का भेद मिटा-कर मनुष्य को खरा सोना बना देता है। वह पग-पग पर शिष्य को ज्ञान की कसौटी पर कसता है। गुरु की इस कृपा से कबीर ने ततसार (रामनाम) को प्राप्त किया। तुलनीय—

रामनाम ततसार है सब काहू उपदेस। 2.2

थापणि पाई थिति भई, सतगुर दीन्हीं धीर।
कबीर हीरा बणजिया, मानसरोवर तीर ॥29॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं सतगुरु की कृपा से मुझे धीरता (काम-क्रोध से जूझने की धीरता) प्राप्त हुई। मेरा चित्त स्थिर हो गया है गुरुज्ञान के सहारे। अब कबीर का मन इधर-उधर भटकता नहीं वह हीरा सदृश रामनाम का व्यापार करता है आत्माराम बनकर।

'रामनाम ततसार' हीरा (अनमोल रत्न) है। इसे कबीर अन्यत्र 'परमनिधि', 'चिन्तामणि', 'मोती कहते हैं। तुलनीय—

कबीर हीरा बणजिया महँगे मोलि अपार।
हाड़ गले माटी गली सिर साटै ब्यौहार ॥ 45/28

तथा, रामभणि रामभणि राम च्यंतामणि।
भाग बड़े पायौ छाँड़ै जिनि ॥ 122 गौड़ी

जाति जुलाहा मति कौ धीर हरषि हरषि गुण रमै कबीर ॥ 130 गौड़ी

कबीर मानसरोवर सुभर जल हंसा केलि कराहि।
मुकताहल मुक्ता चुगैं इब उड़ि अनत न जाहिं ॥ 5/39

सूरसागर— और बनिज मैं नाहीं लाहा होति मूल मैं हानि।
सूर स्याम को सौदा सांचौ कह्यौ हमारौ मानि ॥ 1/310

विवृति : **थापनि** < स्थापन = चित्त एकाग्रता ।

थिति < स्थिति = स्थिरता, धीरता ।

तुल० 'कबीर' **थिति** पाई मन थिर भया । 5/29

[थापनि का आशय गुरु द्वारा शिष्य की पुष्टि नहीं है जैसा टीकाकारों ने अर्थ किया है ।]

निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुर साहस धीर ।
निपजी मैं साझी घणां, बांटै नहीं कबीर ॥ 30 ॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं सतगुरु ने परम निधि, अनश्वर सम्पत्ति दी—ततसार दिया उन्होंने साहस-धीरता दी जिससे मैंने सिर का सट्टा कर ज्ञान को प्राप्त किया । सतगुरु की कृपा से हीरा (रामनाम चिंतामणि) मिला । यही हमारे वाणिज्य का फल है—यही हमारी भक्तिरूपी खेती की उपज है । यह हीरा-मोती मानसरोवर (हृदय गुफा) में प्राप्त होता है । कबीर उस निधि का आनन्द ले रहा है—मोती लेने के इच्छुक बहुत सारे लोग हैं पर यह बाँटने की वस्तु नहीं—यह सर का सौदा है ।

तुलनीय—

कबीर **मोती नीपजै** सुन्नि सिखर गढ़ मांहि । 5/8

विवृति : **निपजी** < निष्पत्ति (निष्पद्यते) ।

चौपड़ि मांड़ी चौहटै, अरध उरध बाजार ।
कहै कबीरा रामजन, खेलौ संत बिचार ॥ 31 ॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि बाजार के चौराहे पर चौपड़ि (चौसर) का खेल हो रहा है—रामभक्त कबीर सचेत करते हैं साधकों को कि इस खेल में आसक्त न हों—सँभल कर रहें ।

विवृति : चौपड़ का खेल माया है—काम-क्रोध इस माया के अंग हैं, इनसे जूझना ही चौपड़ खेलना है यथा,

कबीर मेरे संसा को नहीं हरि सूं लागा हेत ।
काम क्रोध सूं झूझणां चौड़े **माड्या** खेत ॥ 45/7

सूरसागर में भी इस चौपड़ (जगत) का वर्णन है :

चौपरि जगत मँड़े जुग बीते ।
गुन पाँसे, क्रम अंक, चारि गति सारि न कबहूँ जीते ॥
चारि पसार दिसानि मनोरथ घर फिरि फिरि गिनि आनै ।
काम-क्रोध मद संग मूढ़ मन खेलत हार न मानै ॥ 60

तथा,

काम क्रोध अरु लोभ मोह्यौ, ठग्यौ नागरि नारि ।
सूर श्री गोविन्द-भजन बिनु चले दोउ कर झारि ॥ 309

[डॉ० गुप्त की व्याख्या है, 'मैंने चौपड़ चौहट्टे पर मांडी है...'] पर चौपड़ कबीर द्वारा नहीं मांडी गई है। चौपड़ यह जगत् है जो लुभावना है। 'कबीर वाङ्मय' में अर्थ है, 'इस त्रिकुटी पर साधना रूपी चौसर बिछायी गयी है और उसके ऊपर-नीचे बाजार लगा हुआ है......।'

चौपड़ (चतुर = 'स्क्वायर') ['चतुःसर' = चौसर से चौपड़ का विकास नहीं है।]

मांडना < मण्ड = सजाना (मण्डयति)।

पासा पकड़्या प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुर दाव बताइया, खेलै दास कबीर॥ 32॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं जगत् के चौपड़ से न खेलो यदि खेलना है तो पासा प्रेम का हो और शरीर को गोट करें। पासा और गोट का प्रयोग इस प्रकार करें जैसा गुरु निर्देश दे—ऐसा चौपड़ हरिजन के लिए उपयुक्त है। कबीर यही खेल खेलते हैं।

विवृति : **पासा** < सं० पाश, पाशक, पा० पासक, प्रा० पासा = 'डाई'। काठ, हाथी दाँत हड्डी के वे छःपहले लम्बे टुकड़े जिनके पहलों पर बिंदियाँ बनी होती हैं। **सारी** < शारि, सारि-री। तुलनीय—

रे मन समुझि सोचि विचारि।
भगति बिनु भगवंत दुरलभ कहत निगम पुकारि,
साधु संगति ढारि **पासा** फेरि रसना सारि॥ 309 सूर—

कबीर वाङ्मय में '**सारी**' का अर्थ बिसात (जिस कपड़े पर चौसर खेला जाता है) हैं पर **सारी** यहां प्रसंग से जिह्वा (शरीर का अंग) है, प्रेम-पासा का खेल नामजप-सुमिरन से ही संभव है। कबीर के 'प्रेम पासा' के विरोध में कौरवों का 'कपट पासा' है :

कौरव **पासा** कपट बनाए। धर्मपुत्र को जुवा खिलाए। 246 सूर—

सतगुर हम सूँ रीझि करि, एक कह्या प्रसंग।
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग॥ 33॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं सतगुरु ने हमपर प्रसन्न होकर एक ऐसा प्रेम-प्रसंग कहा कि मेरे भीतर प्रेम की वर्षा हो गई और उस प्रेम-वर्षा से मैं भीग गया—परितृप्त हो गया।

कबीर बादल प्रेम का, हम पर बरष्या आइ।
अंतरि भीगी आत्मा, हरी भई बनराइ॥ 34॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि गुरु के प्रेमोपदेश से मेरे भीतर प्रेम के बादल की ऐसी वर्षा हुई कि मैं पूरी तरह उस वर्षा से भीग गया—मेरा रोम-रोम वर्षा से संतुष्ट हो गया। मेरे घर का कोना-कोना हरा-भरा हो उठा। वर्षा से जैसे वनराजि हरी-भरी, उल्लासयुक्त हो उठती है वही दशा मेरे भीतर है।

बनराई < वनराजि (—राजी) = वृक्षों की पंक्ति।

पूरे सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्हीं आत्मा, ताथैं सदा हजूरि ॥ 35 ॥

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि गुरु ने उस पूर्ण ब्रह्म से परिचय करा दिया—फल हुआ कि वह सदा हमारे भीतर विराजमान रहता है—एक क्षण के लिए भी वह हटता नहीं। मेरी आत्मा निर्मल हो गई और मुझे किसी प्रकार का दुःख नहीं अर्थात् मुझे सांसारिक सुख-दुःख का बोध ही नहीं रह गया है।

विवृति : **मेल्या** = डाल दिया; मेल्या दूरि = दूर डाल दिया। प्राकृत **मेल्लइ**।

सदा अनन्दी रामके जिनि सुख-दुख **मेल्हे दूरि**। 31.8
जिहि सेरी साधू नीकले सो तो **मेल्ही** मूंदि। 24.15

हजूरि = सेवा में (अरबी **हुजूर-हुजूरी** = उपस्थिति); **ताथैं सदा हजूरि** का आशय है कि जिस भगवान ने हमारे मन को निर्मल किया उसकी सेवा में मैं सदा उपस्थित हूँ। सूरसागर—

रहत **हजूर** एक पग ठाढ़े मानत हैं अति त्रास। 1887
रज लै सबै **हजूर** होति तुम सहित सुतावृषभान। 4063

'छिताई चरित'—

रहि मो पास **हजूरी** भई। 1499
भई **हजूरी** रहइ पदुमिनी। 1500

डॉ० गुप्त ने 'ताथैं सदा हजूरि' का अर्थ किया है, 'इसलिए मैं अब सदा उस ब्रह्म के समक्ष रहता हूँ।' 'कबीर वाङ्मय' में व्याख्या है 'इसलिए अब मुझे ब्रह्म का साक्षात्कार सदैव विद्यमान रहता है।'

2. सुमिरण कौ अंग

कबीर कहता जात हौं, सुणता है सब कोइ।
राम कहें भला होइगा, नहिं तर भला न होइ ॥ 1 ॥   36

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मैं बार-बार कहता हूँ कि राम कहने से ही भला होगा अन्यथा नहीं—यह सब लोग सुन रहे हैं।

कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेस।
राम नाँव ततसार है, सब काहू उपदेस ॥ 2 ॥   37

भावार्थ : कबीर कहते हैं मैं कहता हूँ और यही बात परम्परा से ज्ञानी ब्रह्म-शंकर ने कही है कि राम नाम ही तत्व है, ततसार है अथवा सत्य का सार है—यही एक मात्र सबके लिए उपदेश है।

तत तिलक तिहूँ लोक मैं, राम नांउं निज सार।
जन कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार ॥ 3 ॥   38

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि राम नाम ही निजु (सम्यक् अथवा निश्चय रूप से) सार है। यही परम तत्व त्रिलोक में तिलक अर्थात् श्रेष्ठ है। भक्त कबीर ने इसी श्रेष्ठ तत्व को स्वीकारा है—अपने मस्तक पर धारण किया है। इसी से कबीर की शोभा अपार है।

भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा बाचा क्रमनां, कबीर सुमिरण सार ॥ 4 ॥   39

भावार्थ : कबीर कहते हैं केवल एक ही सुख है हरि नाम का भजन, उसी की शक्ति; और सब दुःख है। सुमिरन—ईश्वर नाम का सतत ध्यान—यही सार तत्व है इसलिए मन-वचन-कर्म से सुमिरन करे।

कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल।
आदि अंति सब सोधिया, दूजा देखौं काल ॥ 5 ॥   40

भावार्थ : कबीर कहते हैं भवसागर से पार जाने का एक ही बेरा है हरिनाम और सब जंजाल (दुःख कारक) हैं। मैंने आदि-अन्त सब देख लिया, सब खोज लिया, रामनाम सुमिरन ही सार है। इसके अतिरिक्त सब काल की भाँति विनाशक हैं।

सोधिया < शुध् = शुद्ध करना। सोधना = जाँच-पड़ताल करना, खोजना।

च्यंता तौ हरि नाँउ की, और न चिंता दास।
जे कुछ चितवैं राम बिन, सोइ काल कौ पास ॥ 6 ॥   41

भावार्थ : कबीर कहते हैं मुझ दास को एक ही चिंता रहती है नाम सुमिरन की—राम के अतिरिक्त सब काल का फंदा है।

पंच सँगी पिव पिव करै, छठा जु सुमिरे मंन।
आई सूंति कबीर की, पाया राम रतंन ॥ 7 ॥ 42

भावार्थ : कबीर कहते हैं मेरी पाँचों इन्द्रियाँ और छठा मन उस प्रियतम राम का ही सुमिरन करते हैं। मैंने रामरतन पा लिया है। कबीर निश्चिन्त हो गया हैं।

विवृति : श्री मद्भागवत 11/18/40 में है—"जिसने पाँच इन्द्रियाँ और मन इन छहों पर विजय नहीं प्राप्त की है, जिसके इन्द्रिय रूपी घोड़े और बुद्धि रूपी सारथी बिगड़े हुए हैं……।"

सूति < सुप्ति = नींद तुल० 46-50 तथा—

कबीर आसा का ईंधन करौं मनसा करौं विभूति।
जोगी फेरी फिल करौं यौं बिन नांवै **सूति** ॥ 13/3

[डॉ० गुप्त ने **सूति** का अर्थ प्रसूति किया है और 'कबीर वाङ्मय' में सूति को स्वाति मानकर अर्थ किया गया है पर ये दोनों अर्थ न संदर्भ से जुटते हैं और न भाव से।]

मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहिं आहि।
इब मन रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि ॥ 8 ॥ 43

भावार्थ : कबीर कहते हैं मेरा मन राम को ही सुमिरता है—मेरे मन में वही बसा है, मेरा मन राममय हो गया है सर्वत्र वही, उसके अतिरिक्त और दूसरा कोई नहीं इसलिए मैं किसको नमन करूँ, किसी को सिर नहीं नवाऊँ।

तूं तूं करता तूं भया, मुझ मैं रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं ॥ 9 ॥ 44

भावार्थ : कबीर कहते हैं हे प्रियतम! पहले तो मैं तुमको अलग समझकर पुकारता रहा पर अब तो अभिन्नता है और मैं-मेरापन का भाव ही मेरे भीतर नहीं रह गया है—अहंकारविहीन हूँ। सर्वत्र तुम्हीं दिखाई देते हो। मैं तुम पर फिर-फिर (बार-बार) अपने को वारता हूँ, निछावर करता हूँ।

फेरी, फेरि = फिर। तुल० 58 व 275। [डॉ० गुप्त ने 'वार फेर' को एक माना है। 'कबीर-वाङ्मय' में **फेरी** = चक्कर।]

कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति।
तेल घट्या बाती बुझी, तब सोवैगा दिन राति ॥ 10 ॥ 45

भावार्थ : कबीर कहते हैं निर्भय होकर राम नाम जपो—जब तक यह घट है और इसके अंदर प्राण है तब तक ही प्रयास संभव है। तेल घटा और बाती बुझी फिर तो सदा के

दीपक-बाती का संबंध ही शरीर और आत्मा में हैं। कबीर के ये प्रतीकात्मक प्रयोग समस्त संत साहित्य में मिलते हैं।

कबीर सूता क्या करै, जागि न जपै मुरारि।
एक दिनां भी सोवणाँ, लम्बे पाँव पसारि ॥ 11 ॥ 46

भावार्थ : कबीर कहते हैं क्यों सोकर समय गवाँ रहा है—सचेत हो राम-मुरारि का सुमिरन करो। जीवन रहते परमार्थ पर चलो अन्यथा एक दिन काल आवेगा तो सब प्रकार से सुला देगा—फिर लंबे पैर करके सोना।

कबीर सूता क्या करै, काहे न देखै जागि।
जाका संग तैं बीछुड़्या, ताही के संग लागि ॥ 12 ॥ 47

भावार्थ : कबीर कहते हैं क्यों सोकर समय बरबाद कर रहे हो, जागो, पहचानो—जिस परम तत्व को छोड़कर भटक रहे हो उससे अपने को जोड़ो।

कबीर सूता क्या करै, उठि न रोवै दुक्ख।
जाका बासा गोर मैं, सो क्यूं सोवै सुक्ख ॥ 13 ॥ 48

भावार्थ : कबीर कहते हैं जागो, सोते न रहो—एक पैर कब्र में है, काल सर पर है अतः सुख की नींद संभव नहीं। उठो, उस परमात्मा से अपनी संसार संकट की कहानी कहो—उसकी कृपा से मुक्ति संभव है।

कबीर सूता क्या करै, गुण गोबिंद के गाइ।
तेरे सिर पर जम खड़ा, खरच कदे का खाइ ॥ 14 ॥ 49

भावार्थ : कबीर कहते हैं सोओ नहीं। जागो, गोविंद का गुणगान करो उसी का सुमिरन करो। यम की तलवार सिर पर लटक रही है—क्या खाना-पीना-आराम !

कबीर सूता क्या करे, सूतां होइ अकाज।
ब्रह्मा का आसण खिस्या, सुणत काल को गाज ॥ 15 ॥ 50

भावार्थ : कबीर बार-बार सचेत करते हैं कि सोओ नहीं, अन्यथा काम बिगड़ जायगा। काल सिर पर है उसकी गाज (गरज) से ब्रह्मा का आसन भी हिल उठता है, अर्थात् काल के आगे किसी की नहीं चलती।

केसौ कहि कहि कूकिये, ना सोइयै असरार।
रात दिवस के कूकणैं, (मत) कबहूँ लगै पुकार ॥ 16 ॥ 51

भावार्थ : कबीर कहते हैं रात दिन सुमिरन करो। केशव का नाम लो, लगातार सोते न रहो। उसे पुकारो, कभी न कभी वह तुम्हारी याचना सुनेगा और तुम्हें कलि के दुःख से मुक्त करेगा।

विवृति : असरार < अजस्र = लगातार, सतत। तुलनीय—

'अति सुन्दर अँखियन में अँसुवा उमंगि चले असरारा। बक्सी हंसराज

तथा, नैननि नीर बहै असरारा। 3758 सूरसागर

मानक हि० को० में असरार का अर्थ निरंतर है पर इसे अनुकरणात्मक बताया गया है। 'कबीर वाङ्मय' में असरार को 'इसरार' = हठपूर्वक से सम्बंधित माना है।

जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहीं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि षये बेकाम ॥ 17 ॥ 52

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जिसके हृदय में राम-गोविंद के प्रति प्रेम नहीं प्रेम-रस नहीं, और जिसकी वाणी से रामनाम का सुमिरन नहीं उनका इस संसार में आना व्यर्थ है—वे क्षय को प्राप्त हुए। उनका मनुष्य-योनि में जन्म लेना बेकार रहा।

कबीर प्रेम न चाषिया, चषि न लीया साव।
सूने घर का पाहुणाँ, ज्यूं आया त्यूं जाव ॥ 18 ॥ 53

भावार्थ : कबीर कहते है कि मनुष्य ने जन्म धारण करके यदि प्रीति-प्रेम का स्वाद न चखा तो इस संसार में आने का क्या लाभ? यह आवागमन वैसा ही है जैसे कोई अतिथि किसी सूने घर में जाय जहाँ उसे आतिथ्य का सुख न मिले। पाहुण < प्राघुण।

पहली बुरा कमाइ करि, बाँधी विष की पोट।
कोटि करम फिल पलक मैं, (जब) आया हरि की ओट ॥ 19 ॥ 54

भावार्थ : कबीर कहते हैं मनुष्य जन्म जन्मांतर में बुरी कमाई करता है और अब विष (विषय) की गठरी ढोता फिरता है। विषयों में सुख कहाँ? यदि वह भगवत्शरण —हरि की ओट—ले तो करोड़ों जन्म का कुकरम पलक भर में भगवत्कृपा से विनष्ट हो जाता है।

विवृति : विष = विषय

(1) तजि अमृत विष सूं यों लाई। 10 सोरठि
(2) रे सुख इव मोहि विष भरि लागा। 11 ”

टीकाकारों ने 'विष' का अर्थ बुरी कमाई किया है।

फिल < प्रा० फिट्ट = नाश, नष्ट। 'कबीर वाङ्मय' में फिल का अर्थ फेंकना है।

कोटि क्रम पेलै पलक मैं, जे रञ्चक आवै नाउँ।
अनेक जुग जे पुन्नि करै, नही राम बिन ठाउँ ॥ 20 ॥ 55

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि भगवान इतना कृपालु है कि नाम लेते ही करोड़ों जन्म के बुरे कर्मों से मुक्त कर देता है—उन्हें ठेलकर दूर हटा देता है अर्थात् कुकर्मों से छुटकारा मिल जाता है। और हमारे जो पुण्य कर्म हैं वे तभी साथ देते हैं जब राम का सहारा हो।

'करम' = बुरे कर्म; संस्कार के अर्थ में नहीं जैसा व्याख्याकारों ने समझा है।

जिहि हरि जैसा जाँणियाँ, तिन कूं तैसा लाभ ।
ओसों प्यास न भाजई, जब लग धसै न आभ ॥ 21 ॥ 56

भावार्थ : कबीर कहते हैं जो जैसी भक्ति करता है उसे वैसा लाभ होता है—यदि प्यास बुझानी है तब पूरी तरह प्रेम-रस में अपने को डुबो दो—ओस चाटने से प्यास नहीं जाती ।

आभ < सं० अम्भस् प्रा० अम्भ = जल । 'कबीर वाङ्मय' में 'आभ' को सं० आप से सम्बन्धित माना गया है ।

राम पियारा छांड़ि करि, करै आन का जाप ।
वेस्वाँ केरा पूत ज्यूँ, कहै कौन सूँ बाप ॥ 22 ॥ 57

भावार्थ : जो राम-प्यारा है वह राम को भजता है क्योंकि वही सब का स्वामी है । जो अपने राम को नहीं पहचानता दूसरों का आसरा करता है वह उसी प्रकार है जैसे वेश्या का पूत जिसके बाप का पता न हो ।

कबीर आपण राम कहि, औरां राम कहाइ ।
जिहि मुखि राम न ऊचरे, तिहि मुख फेरि कहाइ ॥ 23 ॥ 58

भावार्थ : कबीर कहते हैं लोगो ! राम कहो और दूसरों से राम कहलाओ । जिस मुख से राम-नाम न निकले उससे फिर-फिर कहलाओ ।

जैसें माया मन रमैं, यूँ जे राम रमाइ ।
(तौ) तारा-मंडल छाँड़ि करि, जहाँ केसौ तहँ जाइ ॥ 24 ॥ 59

भावार्थ : कबीर दास कहते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य का मन माया—नारी और धन आदि—में लगता है यदि उसी प्रकार से मन मनुष्य राम में मन लगावे तो वह उस अनंत ईश्वर के स्थान को, तारा मंडल से परे, पहुँच जाय ।

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम है लूटि ।
पीछैं ही पछिताहुगे, यहु तन जैहे छूटि ॥ 25 ॥ 60

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि इस जीवन को सार्थक बनाना ही तो राम नाम को लूटो—उसी से प्रेम करो, अन्यथा जीवन बीत जायगा और अंततः पछताना होगा ।

छूटना < छुट् = बाहर निकलना, छोड़ना ।

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम भण्डार ।
काल कण्ठ तैं गहैगा, रूँधे दसूं दुवार ॥ 26 ॥ 61

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि रामनाम का भंडार लूटो—जितना लूट सको । यह जीवन उसी के लिए मिला है उसी को प्राप्त करो । अन्यथा, समय आने पर काल आयेगा—दसों इन्द्रियों को, जिनसे तुम भोग कर रहे हो, रूँध देगा अर्थात् मृत्यु हो जायगी ।

लम्बा मारग दूरि घर, बिकट पंथ बहु मार ।
कहौ सन्तौ क्यूं पाइया, दुर्लभ हरि दीदार ॥ 27 ॥ 62

भावार्थ : कबीर कहते हैं परमार्थ का मार्ग बहुत लंबा है, बहुत दूर है, बहुत विकट-घातक है। इसमें मृत्यु है—कष्ट ही कष्ट है—हरि का साक्षात्कार अतः सहज नहीं। **आचारांग सूक्त**—'इस प्रकार तुम लंबी यात्रा पर हो।' (लोक विजय)। **मार** < सं० मार = मृत्यु, चोट, बाधा, कठिनाई, तुल० साखी 82। ('कबीर वाङ्मय'—मार बटमार)।

गुण गायें गुण ना कटै, रटै न राम बियोग।
अह निसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूं पावै द्रुलभ जोग ॥ 28 ॥ 63

भावार्थ : कबीर कहते हैं मात्र गुण गान से त्रिगुणात्मक जगत का बंधन कटता नहीं और न रटने से राम का वियोग जाता है; इसके लिए सतत सुमिरन ध्यान करना होगा; तभी हरि को पाना सहज है अन्यथा जोग (अद्वैतता) दुर्लभ है।

कबीर कठिनाई खरी, सुमिरंता, हरि नाम।
सूली ऊपरि नट विद्या, गिरूं त नाहीं ठाम ॥ 29 ॥ 64

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि सुमिरन आसान नहीं है। यह उतना ही कठिन है जितना सूली ऊपर नट का चलना। यदि नट फिसला तो कहीं का नहीं—यदि साधक विषय-भोग की ओर आकृष्ट हुआ तो बस विनाश।

तुलनीय— लंबा मारग दूरि घर विकट पंथ बहुमार। 62

कबीर राम ध्याइ लै, जिभ्या सौं करि मंत।
हरि सागर जिनि बीसरै, छीलर देखि अनंत ॥ 30 ॥ 65

भावार्थ : कबीर कहते हैं माया का सुख एक छीलर = पानी का गड्ढा है और भगवान समुद्र। छीलर में न रमो, राम से प्रीति करो⋯राम का ध्यान और रामनाम का जप। छीलर का क्या भरोसा कब सूख जाय—तुलनीय :

छीलर नीर रहै धूं कैसे, को सुपिनै सचु पावै।
जल-थल जीव डहके इन माया। कोई जन उबर न पावै ॥ 2 मल्हार

प्रा० छिल्लर = छोटा तालाब। 'कबीर वाङ्मय' में **छीलर** को देव-देवियों का प्रतीक मान कर अर्थ किया गया है।

कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अंमृत गुण गाइ।
फूटा नग ज्यूं जोड़ि मन, संधे संधि मिलाइ ॥ 31 ॥ 66

भावार्थ : कबीर कहते हैं अपने मन को भगवान से एक करो—कहीं से अलगाव न रहे। जिस प्रकार फटे नग को जौहरी संधे-संधि मिलाकर जोड़ता है उसी प्रकार चंचल मन को राम से अद्वैत करे।

कबीर चित चमंकिया, चहुँ दिसि लागी लाइ।
हरि सुमिरण हाथूं घड़ा, बेगे लेहु बुझाइ ॥ 32 ॥ 67

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि संसार में विषय की दावाग्नि लगी है। गुरु ज्ञान से चित्त में प्रकाश प्रकट हुआ। इस विषयाग्नि को राम सुमिरन से शांत कर सकते हो—प्रीति-रस में मन लगने पर यह अग्नि स्वतः बुझ जायगी।

विवृति—**कबीर चित्त चमंकिया** का अर्थ डॉ० गुप्त ने 'मेरा चित चौंक पड़ा' किया है। 'कबीर वाङ्मय' में **चमंकिया** = चमक गया अर्थात् तप्त हो गया।

तुलनीय, कबीर बूड़े थे परि ऊबरे गुर की लहरि **चमंकि**। 25

लाइ < अलात = अग्नि; अग्नि की लपट।

Bhakti replaced Rama for God himself as the object of devotion. Rama's personality appealed to Hindus as well as to Muslims. Kabir, the disciple of Ramananda, started a movement which attracted both Muslims and Hindus, Kabir regarded the spiritual foundations of Hindism and Islam as one and was inspired by both. He Stood for a casteless and a creedless society. When Kabir died both Hindus and Muslims claimed his body. So was the case with Guru Nanak.

—K. K. Khullar.

3. बिरह कौ अंग

रात्यूँ रूँनी बिरहनी, ज्यूँ बंचौ कूं कुंज ।
कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज ॥ 1 ॥ 68

भावार्थ : कबीर अपने को विरहिणी से सादृश्य देते हुए कहते हैं—मेरे अंदर विरह की आग भभक उठी है। जैसे क्रौंच (कुंज = सारस) पंछी अपने प्रिय से वंचित होकर दुःखी होती है वही स्थिति मेरी है—रात भर विरहिणी की भाँति रोता हूँ।

अम्बर कुंजां कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल ।
जिनि थैं गोबिंद बीछुटे, तिनके कौण हवाल ॥ 2 ॥ 69

भावार्थ : कबीर कहते हैं क्रौंच पक्षी की आर्त आवाज से, वर्षा से ताल भर गए हैं वे संयोग-सुख पा रहे हैं। पर, गोविंद के विरही को कभी सुख-चैन नहीं—उसका तो बुरा हाल है।

प्राकृत **कुंच** < क्रौञ्च, हि० कुंज, पं० कुंज, सारस ।

विवृति : 'कबीर वाङ्मय' में व्याख्या है 'आकाश में क्रौंच पक्षी प्रिया की विरह-वेदना से रो रहा है। इस व्यथा से उसने सब तालों को गुञ्जायमान करते हुए अपने अश्रुजल से उनको भर दिया है।' पर ताल वर्षा से भर गए हैं अश्रु जल से नहीं। कथ्य है कि कुंज (सारस) की व्यथा आकाश के बादलों से न देखी गयी और उन्होंने ताल जल से भर दिए ताकि क्रौंच-जोड़ी आनंद मना सके। यथा,

राति जु सारस कुरलिया गुंजि रहे सब ताल ।
जिणकी जोड़ी बीछड़ी तिणका कवण हवाल ॥ 53 ढोला मारू रा दूहा

डॉ० गुप्त ने लिखा है, **'कुरलना'** उल्लासपूर्ण कूजन के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। पर सं० कुर आवाज के आशय में है—'हिट्ठ कुररी देहि रिसाई।' छिताई—761 मध्यकालीन हिंदी काव्यों में क्रौंच, कुंज, सारस, कुररी में भेद करना कठिन है।

चकवी बिछुटी रैणि की, आइ मिली परभाति ।
जे जन बिछुटे राम सूं, ते दिन मिले न राति ॥ 3 ॥ 70

भावार्थ : चकवी रात की बिछड़ी सुबह पति से मिल जाती है पर राम से बिछुड़ा सदा बिरह में जलता है।

बिछुड़ < वि + छृद् = अलग होना, छोड़ना ।

ऊभी < ऊर्ध्व (ऋग्वेद) प्रा० उद्ध, उब्भ = सीधा, खड़ा ।

बासर सुख नाँ रैणि सुख ना सुख सुपिनै माँहि ।
कबीर बिछुट्या राम सुं, नाँ सुख धूप न छाँह ॥ 4 ॥ 71

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि राम सनेही का विरह अनन्त है उसको न दिन चैन और न रात और न स्वप्न में—वह तो सदा पागल है राम के लिए। उसे धूप-छाँह गर्मी-सर्दी अवस्था में सुख नहीं।

बिरहनी ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कब रे मिलैंगे आइ ॥ 5 ॥ 72

भावार्थ : विरहिणी मार्ग के सिरे पर खड़ी-खड़ी प्रिय की बाट जोहती है—पंथी (पथिक) से व्याकुल होकर प्रिय का समाचार पूछती है—कब प्रिय मिलेंगे ?

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूं, मनि नाहीं विश्राम ॥ 6 ॥ 73

भावार्थ : हे राम, कबीर कहते हैं, मैं बिरहिणी बहुत दिनों से तुमसे मिलने के लिए अधीर हूँ मन में चैन नहीं—मेरी इच्छा कब पूरी होगी ?

बिरहिन ऊठै भी (भ्वैं) पड़ै, दरसन कारनि राम।
मूवां पिछैं देहुगे, सो दरसन किहि काम ॥ 7 ॥ 74

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि राम तेरे दरसन के हेतु मैं विरहिणी उठती हूँ, धरती पर गिर पड़ती हूँ। क्या मेरी मृत्यु के बाद आओगे ? फिर उससे क्या काम बनेगा ?

मूवां पीछै जिनि मिलै, कहै कबीरा राम।
पाथर घाटा लोह सब, (तब) पारस कौणें काम ॥ 8 ॥ 75

भावार्थ : हे राम ! मृत्यु के अनन्तर मिलने से मेरी दशा उस लोहे की होगी जो घिसते-घिसते समाप्त हो जाय पर पारस से भेंट न हो।

प्रा० **घट्टइ** = नष्ट होना।

अंदेसड़ा न भाजिसी, सन्देसौ कहियां।
कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि ही पासि गयां ॥ 9 ॥ 76

भावार्थ : कबीर कहते हैं हे प्रिय ! संदेसा से कुछ नहीं बनने का—मेरा भय तो बना है कि आज मिलेंगे या न मिलेंगे ? या तो आप आवें या हमें ही अपने पास बुला लें।
फा० **अंदेशः** = भय, चिंता। **भाजिसी** (सं० भज् = भागना), भाजयति = दूर होता है।

आइ न सकौं तुझ पैं, सकूं न तुझ बुलाइ।
जियरा यौंही लेहुगे विरह तपाइ तपाइ ॥ 10 ॥ 77

भावार्थ : हे प्रिय ! मैं तुम्हारे पास पहुँच नहीं सकता और न तुमको अपने पास बुला सकता हूँ—लगता है विरह में ही तपा तपाकर मार डालोगे।

यहु तन जालौं मसि करूं, ज्यूं धूवां जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावै अग्गि ॥ 11 ॥ 78

भावार्थ : इस तन (शरीर) को जला कर राख कर दूँ। शरीर दग्ध होने की प्रक्रिया में जो धुआँ उठेगा वह आकाश जाकर प्रियतम राम को मेरा स्मरण दिला सकता है। इससे कदाचित् राम में दया-करुणा उपजे और वे बादल बनकर विरहाग्नि को बुझा दें। अर्थात् करुणा-निधान राम मेरी सुन लेंगे और मुझे मिलेंगे।

मति < मा = कदाचित्, संभव है। प्रा० मइअ। पुरानी गुज० मतु।

मसि—सं० मसि = कालिख।

तुल० पिय सौं कहेहु संदेसरा ऐ भँवरा ऐ काग।
सो धनि विरहै जरि गई तेहिक धुआं हम लाग ॥ 349 पदमावत

यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउं।
लेखणि करूं करंक की, लिखि लिखि राम पठाउं ॥ 12 ॥ 79

भावार्थ : इस तन को जला दूँ और इसकी कालिख से राम नाम लिखूं। इस पत्र को लिखने के लिए अपने करंक (हड्डी) की लेखनी बनाऊँ। यह लेख जब राम के पास पहुँचेगा तब कदाचित् वे कृपा करें।
कबीर आर्त हैं अपना विरह-संदेश भेजने के लिए।

करंक < सं० करंक = हड्डी। ['कबीर वाङ्मय में' 'मस्तिष्क की हड्डी' अर्थ किया गया है।]

कबीर पीर पिरावनीं, पंजर पीड़ न जाइ।
एक जु पीड़ परीति की, रही कलेजा छाइ ॥ 13 ॥ 80

भावार्थ : कबीर अपनी प्रीति-पीड़ा को उस राम को बतलाना चाहते हैं—उनके हृदय में प्रीति का घाव है, उस मार्मिक घाव से वे व्याकुल हैं। कहते हैं यह पीड़ा (बिना राम के मिले) जा नहीं सकती।

पंजर < सं० पंजरं = पांजर। ['कबीर वाङ्मय' पंजर का अर्थ शरीर किया गया है।]

पिरावनी = पीड़ा देने वाली। सं० पीडक।

चोट सतांगी बिरह की, सब तन जर-जर होइ।
मारणहारा जांणिहै कै जिहिं लागी सोइ ॥ 14 ॥ 81

भावार्थ—विरह-बान की मर्मांतक पीड़ा सतत सालती है। बाण से सारा तन जरजर (जर्जर = झांझर) हो गया है। मुझे उस राम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं भाता है। यह पीड़ा कोई और नहीं समझ सकता। इसे या तो विरह-बाण चलाने वाला (जिसके विरह में व्याकुल हूँ) जानता है या मैं जिसके भीतर विरह-पीड़ा है।

चोट = घाव। सं० चुटति = चोट करता है।

सताना < संतापयति = पीड़ा पहुँचाता है।

तुल० बरुनी बान कहौं विस भई।
देखत तन झझर कइ गई ॥ 540 मृगा०

कर कमाण सर सांधि करि, खैंचि जु मार्‌या मांहि।
भीतरि भिद्या सु मार ह्वै, जीवै की जीवै नाहि ॥ 15 ॥ 82

भावार्थ : गुरुदेव ने धनुष-बाण साधकर ऐसा तीर खींचकर चलाया कि वह भीतर (रोम-रोम में) प्रवेश कर गया, यह चोट मारक है। राम का यह विरही जिए या मर जाय।

सांधि कर=संधान कर=निशाने को ध्यान में रख कर।

मार=मारक=प्राणघातक (मृ-)

जबहूँ मार्‌या खैंचि करि, तब मैं पाई जांगि।
लागी चोट मरम्म की, गई कलेजा छांणि ॥ 16 ॥ 83

भावार्थ : गुरुदेव ने प्रेम-तीर खींच कर चलाया, कलेजे को उसने जर्जर कर दिया। तब मुझे इस मर्म (प्राणघातक) चोट का बोध हुआ।

मर्म < सं० मर्मन् (मृ-)=हृदय, जहाँ चोट लगने से मृत्यु हो सकती है।

जेहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूँ मारि सर बिन सच पाऊं नहीं ॥ 17 ॥ 84

भावार्थ : कबीर कहते हैं यह प्रीति-बाण है गुरु फिर मारो—जो बाण आपने कल चलाया था वह मेरे हृदय में धँस गया है। वही सर मुझे प्रिय है। क्योंकि प्रीति-सुख उस सर के लगने में ही है।

सच=**सचु**=सुख-शांति, भगवत्कृपा। सं० सच् (सश्चति)। ऋग्वेद

सूरसागर—माधौ जू मैं अति ही सचु पायौ। 10,4150

बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ।
राम बियोगी ना जिवै, जिवै ती बौरा होइ ॥ 18 ॥ 85

भावार्थ : कबीर कहते हैं विरह भुजंग (सर्प) की भाँति है, विरह-विष तन में व्याप्त है। कोई मंत्र (झाड़-फूक) इस विष को मार नहीं सकता है। राम का वियोगी विरह-व्यथा से जीता नहीं—जीता है तो बावला होता है।

बौरा=बावला < वातूल=पागल, प्रा० वाउल।

बिरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजै घाव।
साधू अंग न मोड़ही, ज्यू भावै त्यू खाव ॥ 19 ॥ 86

भावार्थ : साधु (रामभक्त) विरह-पीड़ा से मुंह नहीं मोड़ता अर्थात् साधु को राम-विरह प्रिय है। विरह-भुजंग भीतर घुस गया है, कलेजे में घाव हो गया है। विरह के इस मर्मांतक घाव से साधु-भक्त घबड़ाता नहीं।

अंग न मोड़ना=पीछे न हटना, भयभीत न होना। 'खेलै फाग अंग नहिं मोड़ै सतगुरु से लपटानी।' कबीर

सब रग तंत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त ।
और न कोइ सुणि सकै, कै साईं कै चित्त ।। 20 ।। 87

भावार्थ : विरह की धुनि सदा हृदय के रग-रग से निकलती है--यह तन रबाब (एक तंत्र वाद्य) है, शरीर का रग-रग तंत्र है। विरही साधु सदा सुमिरन में लीन रहता है। इस विरहजन्य प्रीति-ध्वनि को या तो वह स्वामी जानता है जिसके विरह में भक्त व्याकुल है या भक्त का चित्त जहाँ प्रिय का निवास है।

तंतु < सं० तंतु = धागा ऋ० वे०। तन् (विस्तार)
रबाब (फा०) = एक दुतारा वाद्य। 'एक रबाब दुतारा धरे।' छिताई चरित 1768

बिरहा बुरहा जिन कहो, बिरहा है सुलितान ।
जिस घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान ।। 21 ।। 88

भावार्थ : कबीर कहते हैं विरह श्रेष्ठ है, विरही बुरा नहीं। वह बादशाह है क्योंकि राम उसके भीतर विरह की अग्नि जलाए हुए हैं। जिस हृदय में विरह का संचार नहीं वह मनुष्य मृतक है। उसका तन-मन मसान (श्मसान) सदृश नीरस और मृत।

बुरहा = बुरा—'बुरहा बुरही बाट।' 177 मृगा०

अंषड़ियां झाईं पड़ी, पंथ निहारि निहारि ।
जीभड़ियां छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि ।। 22 ।। 89

भावार्थ : विरही कबीर कहते हैं हे राम तुम्हारी बाट जोहते-जोहते आँखों की दृष्टि मंद हो गई, तुम्हारे नाम की रट लगाते-लगाते जीभ में छाले पड़ गए।

झांईं = छाया, अंधकार।

इस तन का दींवा करौं, बाती मेल्यूं जीव ।
लोही सींचौं तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव ।। 23 ।। 90

भावार्थ : कबीर भगवान के दर्शन की बलवती उत्कंठा को व्यक्त करते हुए कहते हैं—मैं कब अपने प्रियतम का मुखड़ा देखूंगी। एतदर्थ मैं ऐसा सतत प्रकाश जलाऊँगी जिसमें मेरा शरीर दिया होगा, जीव बाती होगी और मेरा रक्त ही तेल होगा।

मेल्हना (मेलना) = डालना। प्रा० मेलइ। **बाती मेल्हूँ जीव** = जीव को बत्ती की भाँति उस दीप में डालूंगा। **बाती** —सं० वर्तिका। **लोही**—सं० लोहि, लोहित = रक्त। गुज० में 'लोही' प्रचलित है। कुमाउँनी में लोइ है।

नैंना नीझर लाइया, रहट बहै निस जाम ।
पपीहा ज्यूं पिव-पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम ।। 24 ।। 91

भावार्थ : कबीर अपने उत्कट प्रेम की चर्चा करते हुए कहते हैं मेरे नयनों से अहर्निशि विरह के आँसू झड़ते रहते हैं—जैसे रहट चलता है। मेरा मन रात दिन पिउ-पिउ की रट लगाए रहता है—हे राम! कब मिलोगे?

रहट < सं० अरघट्ट।

निस जाम = निशि प्रहर = आठो पहर = रात दिन। [टीकाकारों ने 'निस जाम' का अर्थ 'रात का पहर' किया है।] तुलनीय,

'आठौं जाम अछेह दृग जु बरत बरसत रहत'।
'अह **निसि** ध्यावत **जामहि**। बिहारी सूर

अंषड़ियाँ प्रेम कसाइयाँ, लोग जाँणैं दुखड़ियाँ।
सांईं अपणैं कारणैं, रोइ रोइ रतड़ियां ॥ 25 ॥ 92

भावार्थ : राम-विरह से पीड़ित कबीर कहते हैं—रोते-रोते मेरी आँखें रक्तिम (लाल) हो गई हैं स्वामी के प्रेम में। मेरी इन कषाय आँखों को देखकर लोग समझते हैं कि ये दुखने आई हैं—पर ये प्रेम-अनुराग से लाल हैं।

कसाइयाँ—सं० कषाय = लाल, गेरुआ रंग।

सोई आंसू सजणां, सोई लोक बिडांहि।
जे लोइण लोही चुवै, तौ जांणों हेत हियांहि ॥ 26 ॥ 93

भावार्थ : कबीर भगवत्प्रेम की बात करते हुए कहते हैं—आंसू तो अपने साजन के लिए बहते हैं और दुश्चरित्र के लिए भी, अतः आंसू प्रेम के प्रमाण नहीं—आँखों से लहू चुवै तब जानो हृदय में हेत = प्रेम है।

विवृति : **सजणा** = साजन < सं० सज्जन < संतजन। 'साजन' प्रेमी और दूल्हे के लिए है। पुरानी गुजराती में **साजन** = दूल्हा है। [**साजन** का विकास स्वजन से नहीं जैसा टीकाकारों ने बताया है।]

बिड़ा (विडाणी) = विड़ < विट, प्रा० विड, प्रा० विट्टाल। गु०, म० विटाल = अपवित्र, मलिन, चरित्रहीन :

कबीर माइ बिड़ाणी बाप बिड़ हम भी मंझि बिड़ां।
दरिया केरी नाव ज्यूं संजोगे मिलियां ॥ 12.56

डॉ० गुप्त ने बिडा का अर्थ अन्य, दूसरा, पराया किया है।

['कबीर वाङ्मय' में बिड़ाहि = बाहर निकलता है। पर, 'बिड़ाहि' क्रिया नहीं है।]

हेत < हित = प्रेम

काहे रे नलनी तू कुमिलानी।···
तोर **हेतु** कहु कासनि लागि ॥ 64 गौड़ी

कबीर हसणां दूरि करि, करि रोवण सौं चित्त।
बिन रोयां क्यूं पाइए, प्रेम पियारा मित्त ॥ 27 ॥ 94

भावार्थ : कबीर कहते हैं रोने से ही प्रिय मिलेगा हँसने से नहीं, अतः रोने से घबड़ाओ नहीं—प्रेमी का धर्म है रोना। प्यारा मीत बिना रोये कहाँ मिलता है? भगवान रोने से मिलता है।

जौ रोऊं तौ बल घटै, हँसौं तौ राम रिसाइ ।
मनही मांहि बिसूरणां, ज्यूं घुणं काठहि खाइ ।। 28 ।। 95

भावार्थ : कबीर कहते हैं प्रेमी बिना रोये नहीं मिलता पर रोने से बल घटता है । यदि हँसू तो स्वामी नहीं मिलता—उल्टे वह रिसाइ (क्रोध युक्त) जाता है । अत: मन ही मन बिलेखे (रोये) जैसे घुण काठ को भीतर ही भीतर खाता है ।

रिस < सं० ईर्ष्या, ऋ० वे० ।

बिसूरणा—सं० विसूरण = दु:ख । प्रा० विसूरइ = बिलखइ ।

[बिसूरना का आशय सोचना नहीं है । बिसूरना अर्थात् भीतर ही भीतर बिलखना]

तुल० कबीर हौं बिरह की लाकड़ी समुझि समुझि धूधांउ ।

हँसि हँसि कंत न पाइए, जिनि पाय तिनि रोइ ।
जो हाँसेही हरिमिलै, तौ नहीं दुहागनि कोइ ।। 29 ।। 96

भावार्थ : कबीर कहते हैं कांत (प्रेमी) हंसने से नहीं रोने से मिलता है । हँसते-हँसते वह मिलता तो सब सौभाग्ययुक्त होते पर विरहिणी तो दुर्भाग्य वाली है ।

दुहागणि दौर्भाग्य—(दुर्भग-) । प्रा० दुहग < दुर्भग । सौभाग्य < सुभग । सुहागिन = जिसे पति का प्रेम प्राप्त हो ।

हाँसी खेलौं हरि मिलै, तौ कौण सहै षर सान ।
काम क्रोध त्रिष्णां तजै, ताहि मिलैं भगवान ।। 30 ।। 97

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि यदि ईश्वर की प्राप्ति हँसते-खेलते (बिना कष्ट उठाये) हो तो कौन साण (सान) पर चढ़ेगा अर्थात् कौन साधना करेगा । भगवान उसी को मिलते हैं जो सतत साधना से काम, क्रोध, लोभ से मुक्ति पाता है ।

[सान पर चढ़ना मुहावरा है । अपने को कषायों-मलों से मुक्त करने की प्रक्रिया सान पर चढ़ने जैसी है ।]

पूत पियारो पिता कौं, गौहनि लागा धाइ ।
लोभ मिठाई हाथि दे, आपण गया भुलाइ ।। 31 ।। 98

भावार्थ : लोभ साधना-पथ में बाधक है । इसे स्पष्ट करने के लिए कबीर एक सामान्य उदाहरण देते हैं—बाप बेटे को मिठाई देकर उसका ध्यान हटा देता है । लोभ एक मिठाई ही है जिसके वश मनुष्य आतमतत्व को भुला देता है ।

विवृति : **गौहनि लागा धाइ** = साथ चल पड़ा, साथ लग गया—परमात्मा की प्राप्ति-साधना में जुट गया पर सांसारिक लोभ ने उसे पीछे खींच लिया ।

'छिताई चरित' : **गुहनि, गुहनाई** । पद्मावत : गोहन, गोहने । सूरसागर : **गोहन, गोहनि गुहानि, गुहने, गोहने गौहनि** < गुह् = छिपना; गुफ् = गुहना ।
गोहनलगुआ = विवाह के समय पत्नी के साथ आने वाला बच्चा । **गोहनिया** = साथी

[डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'गोहन' को सं॰ गोधान (=गाँव के पास की भूमि) से सम्बन्धित माना है पर 'गोधान' शब्द कोश में नहीं है और 'गोहन' के भावार्थ से इसका सम्बन्ध नहीं जुटता है।]

डारी खाँड़ पटकि करि, अंतरि रोस उपाइ।
रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाइ ॥ 32 ॥ 99

भावार्थ : कबीर कहते हैं सच्चा साधक लोभ में नहीं फँसता—कबीर ने लोभ को त्याग दिया है। लोभ से साधना का बैर है—कबीर ने लोभ से अपने को विमुख कर लिया—लोभ मिठाई को दूर फेंक दिया और पुनः अपने प्रिय पिता परमेश्वर के साथ हो लिया। अर्थात् सच्चा साधक लोभ-मोह के चक्कर में नहीं पड़ता।

खांड < खंड (खंड मोदकः) = मिठाई।

रोस < रोष (रुष्) = क्रोध। पुरानी गुज॰, मरा॰ में भी **रोस** है।

नैंनां अंतरि आचरूं, निस दिन निरषौं तोंहि।
कब हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोंहि ॥ 33 ॥ 100

भावार्थ : कबीर आर्त होकर भगवान से प्रार्थना करते हैं कि हे भगवान् कब मिलोगे—दरसन दोगे? आप को एक क्षण के लिए भी अलग नहीं रखना चाहता क्योंकि बिना आप के मेरा जीवन ही शून्य है। आप को अपने नेत्रों में बसा लेना चाहता हूँ—रात दिन आप का साथ चाहता हूँ।

पाठांतर—नैंनां अंतरि आव तू, निसिदिन राखौं तोहि।

कबीर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ।
बिरहणि पिव पावै नहीं, जियरा तलपै माइ ॥ 34 ॥ 101

भावार्थ : कबीर प्रिय की प्रतीक्षा में हैं—कब मिलेंगे राम! अपनी व्याकुलता को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि उनकी बाट जोहते-जोहते दिन बीत जाता है, रात बीत जाती है प्रिय से भेंट नहीं। कबीर तड़प रहे हैं अपने राम के लिए। विरहिणी नारी जैसे अपने पति के लिए अधीर होती है उसी प्रकार कबीर—वे अपने को 'बिरहनि' कहते हैं।

विवृति : माइ : सूरसागर में माइ < सखी प्रयुक्त है। 'कबीर-वाङ्मय' माइ = मध्ये > माहि, भीतर। पर 'माइ' का इस अर्थ में प्रयोग मुझे नहीं मिला।

कै बिरहणि कूं मींच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणां, मोपै सह्या न जाइ ॥ 35 ॥ 102

भावार्थ : कबीर कहते हैं मेरे राम! या तो मुझ बिरहिन को मीच (मृत्यु) दो या अपना दर्शन दो। आठो पहर (रात-दिन) का तड़पना, तपना, संतप्त होना मुझसे नहीं सहा जाता है।

दाझणां = दाधना < दग्ध (दह्) ।

बिरहणि थी तो क्यूं रही, जली न पीव के नालि ।
रहु-रहु मुगध गहेलड़ी, प्रेम न लाजूं मारि ।। 36 ।। 103

भावार्थ : कबीर विरहिणी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तूने लज्जावश अखंड मिलन का क्षण खो दिया । हे मुग्धा गहेलणी (मानिनी) तूने प्रिय के साथ क्यों न अपने को एक कर दिया ।

पं० **नालि** = नाल = पास, साथ ।

विवृति : गहेलड़ी = गहिल्ली । 'गाम गहिल्ली' संदेश रासक (1.515.) ।

सं० ग्रहिल—'ग्रहिलेव मानिनी', नैषध 2.77 । पद्मावत : तू गजगामिनि **गरब गहोली** 250 । सूरसा० 'ग्वालिनि **जोबन गर्ब गहेली**' (10.2901) तथा 'तिय **गर्ब गहीली** (10.2145) । कबीर में **गहिला** = उन्मत्त—'यह रस पीवै गूंगा **गहिला**' । 71 । गौड़ी **सं० ग्राहल** > प्रा० गहिल (ग्रह-) = पागल, जिद्दी ।

हौं बिरहा की लाकड़ी, समुझि-समुझि धुंधाउं ।
छूटि पड़ा यों बिरह तैं, जे सारी ही जलि जाउं ।। 37 ।। 104

भावार्थ : कबीर बिरह की आंतरिक स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं जैसे लकड़ी धीरे-धीरे धुआँ के साथ सुलगती है उसी प्रकार विरहाग्नि की स्थिति है—बिरही भीतर ही भीतर धुंधुआता है । एक दम से नहीं जलता । कबीर की अपने राम से प्रार्थना है कि या तो इस बिरह से मुक्त करो या सम्पूर्णतः मुझे जला डालो ।

समुझि-समुझि धुंधुआने में बिसूरने, बिलखने का भाव है ।

कबीर तन-मन यों जल्या बिरह अगनि सूं लागि ।
मृतक पीड़ न जांणई जाणैगी वह आगि ।। 38 ।। 105

भावार्थ : विरहाग्नि की बात करते हुए कबीर कहते हैं इसमें तन-मन सब भस्म हो चुका है । कबीर की इच्छा है कि इस प्रकार दग्ध होने से राम बचा लें । मृतक पीड़ा क्या जाने ? विरहाग्नि की दाह वह आग जानती है ।

बिरह जलाई मैं जलौं जलती जलहरि जांउ ।
मो देख्यां जलहरि जलै संतौं कहाँ बुझाउं ।। 39 ।। 106

भावार्थ : विरह-ताप की तीव्रता बताते हुए कबीर कहते हैं—विरहिणी का दाह इतना असह्य है कि यदि जलहरि = जलाशय मुझे देख ले तो वह भी जलने लगे—हे संतो ! यह दाह कहीं बुझनेवाला नहीं । यह जीवनपर्यंत रहेगा । यह विरहाग्नि केवल मेरे राम बुझा सकते हैं ।

परबति-परबति मैं फिर्‌या नैन गंवाये रोइ ।
सो बूटी पाऊं नहीं जातै जीवनि होइ ।। 40 ।। 107

भावार्थ : कबीर कहते हैं इस विरह-रोग की कोई औषध नहीं । पर्वत पर जड़ी-बूटियां अनन्त हैं पर इस ताप को शमन करने की जीवनौषध नहीं है । मेरे नेत्र रोते-रोते अंधे हो गए हैं । [यह रोग वही छुड़ा सकता है जिसने इसे लगाया है ।]

फाड़ि पटोला धज करौं, कामलड़ी पहिराउं।
जिहि-जिहि भेषां हरि मिलै, सोइ-सोइ भेष कराउं ॥ 41 ॥ 108

भावार्थ : कबीर भगवान को प्राप्त करने के लिए कहते हैं मैं किसी भी भेष (वेश) को धारण कर सकता हूँ जिससे हरि मिलें। मैं अपने पटोल (पटोर) को फाड़कर फेंक सकता हूँ और उसकी जगह कंबली पहन सकता हूँ।

रेशमी वस्त्र और कंबल परस्पर विरोधी हैं—एक भोग का परिचायक दूसरा त्याग का। यहाँ विरोध आलंकारिक है। इसका यह आशय नहीं कि कबीर रेशमी वस्त्र पहनते थे।

पटोर—सं० पटोलं = एक प्रकार का कपड़ा। तु०, सं० पट्ट।

धज करना = टुकड़े-टुकड़े करना (ध्वजा = पताका)। तु० धज्जी उड़ाना।

नैन हमारे जलि गये, छिन छिन लोड़ैं तुझ।
नां तूं मिलै न मैं खुसी, ऐसी बेदन मुझ ॥ 42 ॥ 109

भावार्थ : कबीर अपनी विरहाग्नि की दशा बताते हुए कहते हैं—मेरी आँखें प्रति क्षण तुम्हें ही खोजती हैं। विरहाग्नि से ये जल गयी हैं—अंधी हो गयी हैं (रोते-रोते)। मुझे बड़ी वेदना है न तू मिलता है और न मैं सुखी होता हूँ।

लोरैं = उत्कंठा से खोजती हैं। तुल० लोल = चंचल होना < लुड्।
'कबीर वा०', **लोरैं** = लपकते हैं।

भेला पाया स्रप सौं, भौसागर के मांह।
जे छांड़ौं तौ डूबिहौं, गहौं त डसिये बांह ॥ 43 ॥ 110

भावार्थ : कबीर कहते हैं इस भवसागर को पार करने के लिए बिरह का बेड़ा मिला है, इसको छोड़ूँ तो डूब जाऊँ। बेड़ा विरह है। यदि विरह को अपनाए रहता हूँ तो जीवन में दुःख ही दुःख है—यह विरह डसता रहेगा। तुलनीय, साखी 18, 19 (बिरह कौ अंग)।

[डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने 'भेरा' शरीर और विषय को माना है। 'कबीर वा०' में 'भेरा' प्रभु का प्रेम है।]

पर ये दोनों ही कल्पनाएँ असंगत हैं। तुलनीय :
'विरह भुवंगम तन बसै' अथवा 'बिरह भुवंगम पैस करि।'

भेरा, भेला = बेड़ा, प्रा० बेह, बेडय, बेडा। सं० बेडा = नाव, सं० भेड।
डूबना < प्रा० बुड्डइ, *बुड्यति। *डुब्ब् = डूबना।

रैणा दूर बिछोहिया, रहु रे संष म झूरि।
देवलि देवलि धाहड़ी, जैसी ऊगे सूरि ॥ 44 ॥ 111

भावार्थ : कबीर को हरि-मिलन की पूर्ण आशा है। वे अन्योक्ति का सहारा लेकर कहते हैं—हे शंख रात्रि में तेरा (मन्दिर के देवता से) बिछोह हो जाता है पर प्रातः होते ही पुनः देवालय में तेरी ध्वनि होती है अतः तू संतप्त न हो—विरह के अनन्तर मिलन अनिवार्य है। विरह की रात कट जायगी।

[टीकाकारों ने शंख का बिछोह रत्नाकर (समुद्र) से माना है।]

विवृति : म < मा = मत, नहीं।

झूरना < झुर् = संतप्त होना। प्रा० झूरइ, जुरइ।

धाहड़ी = जोर-जोर पुकारना, चिल्लाहट। प्रा० धाहा। धाह मेलि कै राजा रोवा। 401 पद्मावत। 'धायँदेई। 177 मृगा०।

'धाहँहि रोवा'। 310 चांदायन।

धाह, 10.3313 सू० सा०।

[डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने शंख को बहुदेवोपासक का प्रतीक माना है—उनके अनुसार यह साखी बहुदेवोपासना पर व्यंग्य है।]

सुखिया सब संसार है, खायैं अरु सोवैं।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥ 45 ॥ 112

भावार्थ : कबीर अपनी विरह-पीर के सम्बन्ध में कहते हैं कि विरहिणी को रात में नींद कहाँ। प्रिय-मिलन के लिए रात जागते, रोते-रोते बीतती है। (सांसारिक दृष्टि से) दास कबीर दुखी है। और सारा संसार सुखी है क्योंकि उसे खाना और सोना यही काम है।

विवृति : कबीर संसारी पर व्यंग्य करते हैं कि उसे विषयों से फ़ुरसत कहाँ ! वे हरि-विरह को क्या जानें ? उनमें तड़प नहीं, इष्ट के लिए। सत्य इष्ट की प्राप्ति के लिए कष्ट उठाना पड़ता है—सर की बाजी लगानी पड़ती है :

हँसि हँसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिनि रोइ।
जो हाँसे ही हरि मिलै, तो नहीं दुहागिनि कोइ॥ 39

'दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै' का मर्म यह भी है कि कबीर एक संवेदनशील करुणामय रामदास थे। लोगों के भेद-भाव एवं उनकी संकीर्ण भावना से वे चिन्तित थे—धर्म का सच्चा रूप ओझल हो रहा था, मनुष्यता खतरे में थी—हिन्दु-मुसलमान वैर और घृणा में जी रहे थे। पवित्र जीवन का स्थान दिखावा और आडम्बर ने ले लिया था; प्रेम-करुणा-क्षमा का स्थान हिंसा और अलगाववाद ले रहा था, ईश्वर के प्रति समर्पित न होकर लोग अहंकार की तुष्टि में प्रसन्न थे। कबीर को चिन्ता थी कि यह विषयासक्ति मनुष्य को कहाँ ले जायगी ! साखी अनेकार्थ से भरी है।

4. ग्यान-बिरह कौ अंग

ज्ञान भगवान की बिरहाग्नि को प्रज्वलित करता है—बिरह की तीव्रता भगवान का नैकट्य है। **'ज्ञान बिरह कौ अंग'** का यही प्रतिपाद्य है। 'ज्ञान-बिरह' माया-मोह के विकारों को जलाता है :

'दावानल अति जरै विकारा। माया-मोह रोकि लै जारा॥ रमैणी

दीपक पावक आणिया, तेल भी आंण्या संग।
तीन्यूं मिलि करि जोइया, उड़ि उड़ि पड़ैं पतंग॥ 1 ॥ 113

भावार्थ : कबीर कहते हैं प्रकाश के लिए तीन उपकरण अपेक्षित हैं—दीपक, बाती (पावक), और तेल। प्रेम मार्ग में भी यही अनिवार्य हैं :

कबीर इस तन का दीवा करौं बाती मेल्हूँ जीव।
लोही सीचौं तेल ज्यूं कब मुख देखौं पीव॥ 55

शरीर, प्राण और चिंतन-ध्यान इन तीनों की सम्मिलित शक्ति से ही ज्ञान-ज्योति प्रकट होती है और भ्रम-संदेह आदि नकारात्मक भाव (पतंग) ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाते हैं।

विवृति : '**पावक**' का अर्थ टीकाकारों ने अग्नि किया है पर संकेतार्थ ज्योति (बाती) है। पावक का मूल भाव शुद्ध करना है (पू–)। **पतंग**=मायाजनित मन के भ्रम-संशय-अनास्था आदि। **पतंगा** अज्ञानी मन का बोधक है।

'कुमार संभव' (3.64) : "पतंग वह्निमुखं विविक्षु:।"

कबीर ने दीपक का प्रयोग (1) ज्ञानाग्नि और (2) माया के आकर्षण के प्रतीक रूप में किया है।

ज्ञान-प्रकाश—कबीर पीछैं लागा जाइ था लोक वेद के साथि।
आगैं थैं सतगुर मिल्या दीपक दीया हाथि॥ 11
कबीर दीपक दीया तेल भरि बाती दई अवट्ट।
पूरा किया बिसाहुणा बहुरि न आऊं हट्ट॥ 12

माया—कबीर माया दीपक नर पतंग भ्रमि-भ्रमि इवै पड़ंत।
कहै कबीर गुर ग्यान तैं एक आध उबरंत॥ 20

पतंग मनुष्य का मन अथवा मायाजनित विकार है।

'राम बिना जीव बहु दुख पावै। मन **पतंग** जगि अधिक जरावै॥' दुपदी रमैणी

'जहाँ जाइ तहाँ तहाँ **पतंगा**, अब जिनि जरसि समझि विष संगा।' सतपदी रमैणी

जोइ करि=जोड़कर (युज्) : 'जोति दीवटी मेल्है जोइ'। 1 बिलावल

मार्‌या है जे मरैगा, बिन सर थोथी भालि ।
पड़्या पुकारै ब्रिछ तरि, आजि मरै कै काल्हि ॥ 2 ॥ 114

भावार्थ : कबीर कहते हैं गुरु के ज्ञान-शर से जो आहत है वह तो ईश-बिरह में मरैगा ही—वह विरही साधक हरि-तरु के नीचे निश्चित बैठा है आज मर जाय या कल। जिसे ज्ञान-शर नहीं लगा है वह भलाई से शून्य (थोथा) है। अर्थात् उसका जीवन निस्सार है :

कबीर कहता जात है सुणता है सब कोइ ।
राम कहे भला होइगा नहिं तर भला न होइ ॥ 36

[डॉ० गुप्त का अर्थ है—"जो बिना शर (सरकण्डे) के थोथी भाली (अनी) से मारा गया है······वह आज मरे या कल—क्योंकि वह अनी बिना शर होने के कारण निकाली नहीं जा सकती है]"

['कबीर वाङ्मय' में व्याख्या है, "यदि गुरु ने केवल ज्ञानविहीन बिरह का बाण मारा है तब भी शिष्य मरेगा अवश्य···किन्तु उसकी वही दशा होगी जो उस मनुष्य की होती है जिसको अनी रहित छूंछे भाले की चोट लगती है।]"

विवृति : 'ज्ञानविहीन विरह का बाण' सम्भव नहीं। 'सर' का अर्थ 'अनी' नहीं जँचता है। 'सर' का अर्थ सरकंडा नहीं। कबीर में सर (शर) ज्ञान-बाण ही है। डॉ० गुप्त की व्याख्या में 'भालि' का अर्थ अनी और 'कबीर वाङ्मय' में 'भालि' भाला है। 'भालि' भला-भलाई है—'थोथी भालि' = भलाई रहित।

हिरदा भीतर दौ बलै, धूंवां प्रगट न होइ ।
जाकै लागी सो लखै, कै जिहि लाई सोइ ॥ 3 ॥ 115

भावार्थ : कबीर कहते हैं विरहाग्नि भीतर जल रही है—इसे बाहरी व्यक्ति नहीं जान सकता क्योंकि इस आग का धुँआ बाहर नहीं दिखाई पड़ता है। यह आग भीतर ही सुलगती है; जिसके भीतर यह जलती है वही जानता है; अथवा वह ईश्वर जानता है जिसने यह विरह की अनुभूति पैदा की है। यह आग बुझती नहीं—

हौं बिरहा की लाकड़ी समुझि समुझि धुँधुवाउं ।
छूटि पड़ौं या बिरह तैं, जे सारी ही जलि जाउं ॥ 3.37

बलना = जलना < ज्वल ।

झल उठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि ।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूति ॥ 4 ॥ 116

भावार्थ : कबीर कहते हैं भीतर झल (ज्ञान-ज्वाला) उठते ही झोली (ममता= मैंपन) जल उठी; अथवा अहंकार विनष्ट हो गया और खपरा (तृष्णा की गगरी)

फूट गई। ममतापरक बन्धनों—विकारों—से मुक्त होते ही योगी ने परमपद प्राप्त कर लिया अथवा वह शून्य में स्थित हो गया, केवल शरीर अथवा बाह्य रूप रह गया।

मन मारया ममिता मुई अहं गई सब छूटि।
जोगी था सो रमि गया आसणि रही बिभूति ॥ 41.7

ऊभर था तै सूभर भरिया त्रिस्नां गागरि फूटी।
हरि च्यंतत मेरौ मंदला भींनौ भरम भोयन गयौ छूटी,
ब्रह्म अगनि मैं जरी जु ममिता पाषंड अरु अभिमाना।
काम चोलनां भया पुरानां मोपै होइ न आनां ॥ 20 सोरठि

झोली जली : कबीर बार-बार दोहराते हैं कि ज्ञानाग्नि अथवा राम की लौ से ममता-मोह-तृष्णा-माया भस्म हो जाती है। विकारों का समूह ही झोली-खप्पर है।

[डॉ० गुप्त ने 'झोली' का अर्थ झगुली और खप्पर का भिक्षापात्र किया है। 'कबीर वाङ्मय' में 'झोली' का अर्थ थैली (जिसमें योगी वस्त्रादि रखता है) = संचित कर्म और 'खपरा' का अर्थ भिक्षापात्र = क्रियमाण कर्म है।]

पर कबीर संचित-क्रियमाण कर्म (शास्त्रपरक अर्थ) के जलने की नहीं अज्ञान के जलने की बात करते हैं जिससे मुक्ति मिले—

मरता मरतां जग मुवा औसर मुवा न कोइ।
कबीर ऐसैं मरि मुवा ज्यूं बहुरि न मरनां होइ ॥ 41.5

अथवा, तजि कुलाक्रम अभिमानां। झूठे भरमि कहा रे भुलाना।
झूठे तन की कहा बड़ाई। जे निमिष मांहि जरि जाई।
जब लग मनहिं बिकारा। तब लगि नहीं छूटै संसार।
जब मन निर्मल करि जाना। तब निर्मल मांहि समाना ॥
ब्रह्म अगनि ब्रह्म सोई। अब हरि बिन और न कोई ॥ 2 सोरठि

अगनि जू लागि नीर मैं, कंदू जलिया झारि।
उतर दषिण के पंडिता, रहे बिचारि बिचारि ॥ 5 ॥ 117

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि जब पानी में आग लगी तब सारा (झारि) कंदु (कांदौ = कीचड़ = विकार) एकदम जल गया इस रहस्य को सारे शास्त्रज्ञ पंडित—एक सिरे से दूसरे सिरे तक—नहीं समझ सके, वे विचारते ही रह गए। कंदु प्रतीक है विकारों का। कांदौ जल में होता है। नीर तृष्णा-माया है। तृष्णा मूल है विकारों का। विकारों के जलने की बात कबीर बार-बार कहते हैं।

झारि = झाड़ि = झाराझार = संपूर्ण, सारा । तुल०

कबीर कामणि काली नागणी तीन्यू लोक मंझारि ।
राम सनेही ऊबरे विषयी खाए झारि ॥ 20.1

[डॉ० गुप्त ने 'झारि' का अर्थ झल, झाल = ज्वाला किया है ।]

दौं लागी साइर जल्या, पंषी बैठे आइ ।
दाधी देह न पालवे, सतगुर गया लगाइ ॥ 6 ॥ 118

भावार्थ : कबीर कहते हैं सारे सागर में आग लग गयी—यह आग सतगुरु ने लगाई है । चेला इसमें जल गया केवल पंखी (आत्मा) बच रहा वह सहस्रार रूपी वृक्ष पर जा बैठा । अब हमें सांसारिक मोहादि विकार नहीं सतायेंगे, गुरु-ज्ञान से सब भस्म हो गए ।

शरीर रूपी सागर में आग लगने पर शरीर अथवा इन्द्रियों का व्यापार समाप्त हो जाता है ।

गुर दाधा चेला जल्या, बिरहा लागी आगि ।
तिणका बपुड़ा ऊबरया, गलि पूरे कै लागि ॥ 7 ॥ 119

भावार्थ : कबीर कहते हैं गुरु ने जो विरहाग्नि प्रज्वलित की उससे चेला (चेले का मन) जल गया—उसकी चंचलता और उसकी आसक्ति समाप्त हो गयी । इस दावाग्नि में आत्मा (सूक्ष्म तिनका) बच रहा जो पूरे (पूर्ण आत्मा = परमात्मा) के गले गल गया !

आहेड़ी दौं लाइया, मृग पुकारै रोइ ।
जा बन क्रीड़ा करी, दाझत है बन सोइ ॥ 8 ॥ 120

भावार्थ : कबीर कहते हैं गुरु अहेरी ने अपने ज्ञान-बाण से ज्ञानाग्नि प्रज्वलित कर दी—सारा वन (काम-क्रोध युक्त शरीर) जल उठा । अब उस वन के मृग (इन्द्रियाँ) रो रहे हैं—जिस शरीर में अब तक आनन्द से क्रीड़ा करते रहे, विलास करते रहे वह वन ही दग्ध हो रहा है ।

पाणी मांहै प्रजली, भई अपरबल आगि ।
बहती सरिता रहि गई, मंछ रहे जल त्यागि ॥ 9 ॥ 121

भावार्थ : कबीर कहते हैं जलाशय में (मन रूपी सागर) में प्रबल आग लगा दी सतगुरु ने । इस अग्नि से जो मत्स्य (आत्मा) बचा वह हरितरु (सहस्रार) पर जा विराजा । साधक-भक्त का जीवन बहती नदी है । जीवन धारा निर्मल पवित्र होते ही नदी के मच्छ रूपी विकार (काम-क्रोध-लोभ-अहंकार) समाप्त हो गए ।

समंदर लागी आगि, नदियां जलि कोइला भई।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूषां चढ़ि गई ।। 10 ।। 122

भावार्थ : कबीर कहते हैं ज्ञान-विरह की अग्नि इस मन-सागर में गुरु ने प्रज्वलित कर दी; फल हुआ सागर की सहायक नदियाँ (इन्द्रियाँ) जल गईं अर्थात् इन्द्रियाँ विषय से विमुख हो गईं । इस आग में मत्स्य (आत्मा) बचा वह हरि-वृक्ष (शिखर = सहस्रार) पर विराजमान हो गया—यही चैतन्यावस्था है । यही जागना है—हरि-भक्त का यही फल है ।

कबीर :—'सदा अचेत-चेत जिउपंखी, हरितरुवर करिवास ।' रमैणी

"मैं वहाँ घंटों रहा और पानी की एक-एक बूंद को टपकते देखता रहा। बाद में मैंने पाया कि इसी सोते ने अन्य सोतों के साथ मिलकर झरने की तरह तेजी से नीचे गिरती जलधारा का रूप ले लिया है, वह धारा पहाड़ी के अन्य सोतों में मिलती हुई अंततः मैदान में पहुँच कर एक नदी का हिस्सा बन जाती है, फिर वह नदी आगे चलकर एक बड़ी नदी में जा मिलती है जो बाद में अपना सारा जल समुद्र में उंडेल देती है। दार्शनिक और ताओवाद के प्रवर्त्तक लाओत्ज़े का कहना है कि जल की तरह बनो। मधुर और निर्मल जल किसी भी बाधा के बावजूद अपना मार्ग बना लेता है।"

—रस्किन बांड

(सर्वोत्तम से साभार)

5. परचा कौ अंग

कबीर तेज अनंत का, मानौं ऊगी सूरज सेणि ।
पति संगि जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि ।। 1 ।। 123

भावार्थ : कबीर कहते हैं अनन्त परमेश्वर का प्रकाश इतना प्रबल है मानो अनेक सूर्य (सूर्यों की श्रेणी) उदित हुई है । यह कौतुक (खेल) आत्मा द्वारा तब अनुभव हुआ जब सुन्दरी (पतिव्रता नारी = आत्मा) परमात्मा से संयुक्त-चैतन्य थी ।

विवृति : रविदास—'मेटि दुहाग सुहागिनि कीजै, अपनै अंगि लगाई ।' कबीर ने पतिव्रता (आतमा) और 'परम पुरिष' अथवा 'खंसम राम' से ऐक्य का अंकन किया है । यही 'परम पद' से परचै (पहचान) है । पिय मिलन पर अनन्त प्रकाश, अनन्त आनन्द की अनुभूति होती है । द्रष्टव्य, 52 'सुन्दरि कौ अंग' ।

[डॉ० गुप्त की व्याख्या है,—'जो सुन्दरी पति के साथ रात्रि में जागती रही उसी के द्वारा यह कौतुक देखा गया है ।']

'कबीर वाङ्मय'—'जो जीव मोह निद्रा में सोता नहीं रहता परमात्मा के साथ जागता रहता है उसी के द्वारा यह रहस्य देखा जाता है ।']

योगपरक अर्थ होगा सुन्दरी = कुंडलिनी की जाग्रत अवस्था में पति (सहस्रार में स्थित ब्रह्म-प्रकाश) से ऐक्य ।

कौतिग दीठा देह बिन, रबि ससि बिना उजास ।
साहिब सेवा मांहि है, बेपरवाही दास ।। 2 ।। 124

भावार्थ : कबीर ने ऐसा कौतुक देखा कि आत्मप्रकाश (करोड़ों सूर्यों के समान है) पर न वहाँ सूर्य है और न चन्द्र ।

इसके साथ यह भी कौतुक देखा गया कि वह अशरीरी है पर सेवक-जन की चिन्ता में लगा है और भगवद्भक्त दास (अपने समर्पण-योग से) बेपरवाह-निश्चिन्त है । अर्थात् प्रपत्ति योग ही परमशान्ति का मार्ग है । द्रष्टव्य, लेखक की कृति **वैष्णव कबीर** ।

कबीर वैष्णव हैं—वे गीता के समर्पण-योग के योगी हैं :

ऐसी आरती त्रिभुवन तारै ।
तेजपुंज तहाँ प्रान उतारै ।
'तम मन सीस सुमिरपन कीन्हां प्रगटजोति तहाँ आतम लीनां । 6 धनाश्री ।

रविदास—'सुत सेवक सदा असोच, ठाकुर पितहि सब सोच ।'

[डॉ० गुप्त की व्याख्या है,—'स्वामी की सेवा में दास बेपरवाह है।' 'कबीर वाङ्मय'—'साहिब सेवा में ही है अर्थात् स्वामी सेवा से ही मिलता है। (2) दास स्वामी की सेवा में लगा हुआ है। अतः वह निश्चिन्त है।']

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूं सोभा नहीं देख्या ही परवान ॥ 3 ॥ 125

भावार्थ : कबीर कहते हैं पारब्रह्म के अनन्त तेज का अनुमान लगाना असम्भव है—वह शोभा अकथनीय है, उसका अनुभव-साक्षात्कार ही प्रमाण है।

विवृति : कबीर अपरोक्षानुभूति (रहस्यवाद) के कवि हैं। भगवान् अनन्त प्रकाश अथवा करोड़ों सूर्य का पुंज हैं, यह उपनिषद् में वर्णित है। कबीर-रयदास उसी परम्परा के हैं।

रविदास :—'कोटि भांण जाकी सोभा रोमैं।
कहा आरती अगनि रु धूमैं ॥

तथा, 'जोति जोति सम जोति, जोतिहि मिलि रहयौ रे।'

कबीर का कथ्य है : जोति में जोति मिलने पर ही अनन्त जोति का अनुभव होता है।

अगम अगोचर गमि नहीं, तहां जगमगै जोति।
जहाँ कबीरा बंदगी, पाप पुन्य नहीं छोति ॥ 4 ॥ 126

भावार्थ : कबीर उस अनन्त सूर्यों सदृश परमात्मा की बात बार-बार करते हैं—'तहाँ जगमगै जोति' अर्थात् वह परमपद ज्योतिस्वरूप है; वह अनुभव की वस्तु है, वहाँ इन्द्रिय-जगत् की पाहुँच नहीं। वह अगम्य, अगोचर है। ब्रह्मपद पाप-पुण्य से अछूता है अर्थात् इस संसार के पाप-पुण्य का वहाँ स्पर्श (छूत) तक नहीं। कबीर उस परम-पद की बन्दगी में है। अर्थात् उससे कबीर का ऐक्य है—उन्होने 'मैं मेरा' छोड़ दिया है। तुल०

रविदास—'करि बन्दगी छोड़ि मैं मेरा, हिरदै नाम सम्हारि सबेरा।

तथा, कहै रविदास अकथ कथा उपनिषद सुनीजै।
जस तूं तस तूं ही कस औपम दीजै ॥

मुण्डकोपनिषद्—यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं, कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय, निरंजनः परमं साम्यमुपैति ॥ 3.1.3

अर्थात्, वह पुरुष सुवर्ण सा प्रकाशमान् है—यही भक्त को अनुभव होता है। उस परम पुरुष के साम्य में जब भक्त होता है तब वह पाप-पुण्य से परे होता है।

'तहाँ कबीरा बन्दगी' में उपनिषद् के 'साम्य' का ही भाव है---जन कबीर उस निरंजन-निराकार के सम्मुख प्रणत है।

अगम—'याही थैं जे अगम है सो बरति रह्या संसारि।
ना तिस सबद न स्वाद न सोहा...........। कबीर

हद छाड़ि बेहदि गया, हुवा निरंतर बास।
कवल जू फूल्या फूल ब्रिन, को निरषै निज दास ॥ 5 ॥ 127

भावार्थ : कबीर कहते हैं हद (दृश्य जगत्) को छोड़कर बेहद (अदृश्य जगत्) में जाने पर निरंतर रहने वाले ब्रह्म-पुरुष-निरंजन के साथ सतत साम्य प्राप्त करता हूँ। उस ब्रह्मयोनि पुरुष को कंवल सदृश प्रकाशित कहा जा सकता है यद्यपि वहाँ कमल का स्थूल रूप नहीं है---यह दृश्य केवल उसका दास ही निरखता (देखता) है 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं।'

निज = निजु = नितांत (निजुदास = समर्पित सेवक)।

रविदास—'कहै रविदास सोइ जनु निरमल, निसदिन निजु अनुरागी।'

कबीर मन मधुकर भया, रह्या निरंतर बास।
कंवल ज फूल्या जलह बिनु, को देखै निज दास ॥ 6 ॥ 123

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि भीतर 'ब्रह्म बास' कमल सदृश है—इस कमल में दास का मन मधुकर की भाँति अनुरक्त रहता है। कमल है पर उसके अन्य उपकरण पानी आदि नहीं है अर्थात् वह निरंजन है। उस कमल को केवल भगवद्भक्त योगी ही देखता अर्थात् जानता है—

अंतर कंवल प्रकासिया, ब्रह्मबास तहाँ होइ।
मन भवरा तहाँ लुबधिया, जाणैगा जन कोइ ॥ 7 ॥ 129

भावार्थ : कबीर इस साखी में यह स्पष्ट करते हैं कि भीतर जिस कमल के प्रकाश की बात की जा रही है वह ब्रह्म ही है—ब्रह्म-बास कमल है।

विवृति : साखी 5, 6, 7 तीनों को एक साथ पढ़ना चाहिए---'हुआ निरंतर बास,' 'रह्या निरंतर बास' तथा 'ब्रह्मबास तहाँ होइ' उस परम पुरुष के बास के ही आशय में हैं।

'कमल' पहले की साखियों में सूर्य कहा गया है; आगे इसे ही मोती की उपमा दी गयी है। ये सारे सादृश्य उस परम ज्योति के लिए ही हैं। यह ज्योति 'सुन्न सिखर गढ़' आकाश अथवा ब्रह्मरंध्र में है जिसे 'औघट घाट' कहा गया है।

'अन्तर कंवल प्रकासिया' का अर्थ है 'सहस कँवल'—

रविदास—'सहस कँवल सिंघासन राजै।'

सायर नाहीं सीप बिन, स्वांति बूंद भी नाहिं ।
कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिषर गढ़ माहिं ।। 8 ।। 130

भावार्थ : कबीर सहस्रार की ज्योति की बात करते हुए कहते हैं कि इस गढ़ (शरीर के शून्य (शिखर अथवा गगन मण्डल) में मोती (प्रकाश ज्योति) निपजता (पैदा होता) है यद्यपि वहाँ न सागर है, न सीप है, न स्वाति बूंद है । तुल०

'रवि ससि बिना उजास ।'

तथा, 'तेज अनन्त का मानों सूरज सेनि ।'

रविदास—"ता परिसंगि सीप स्वाति नछत्र, मोती निपजत नीर तैं न्यारो ।"

घट मांहै औघट लह्या, औघट माहैं घाट ।
कहि कबीर परचा भया, गुरु दिखाई बाट ।। 9 ।। 131

भावार्थ : कबीर कहते हैं गुरु कृपा से इस घट (गढ़ = शरीर) में ही वह दुर्गम शिखर (औघट = दुर्गम) पाया और उस घाट में परम् ब्रह्म प्रियतम से परचै (पहचान—मिलन) हुआ । औघट शिखर (शून्य) की बाट (मार्ग) गुरु ने दिखाई ।

विवृति : **गढ़** = शरीर या घट ।

औघट < (सं० अवघट्ट = गुफा, गुहा; विकसित अर्थ दुर्गम)

घाट < घट्ट । 'घाट बाट औघट जमुना तट ।' सूर

'चलनहार वै औघट घट के ।' सूर

सूर समांणी चन्द में, दुहूं किया घर एक ।
मन का च्यंता तब भया, कछू पुरबला लेख ।। 10 ।। 132

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि विश्राम-पद तब मिला जब सूर (पिंगला) चंद्र (इड़ा) में मिल गया (नाक की दाहिनी नाड़ी सूर्य और बाईं नाड़ी चंद्र) । ये दोनों नाड़ियां मिलकर सुषुम्ना में समाहित होती हैं तब हठ योगी सहस्रार में स्थित होता है यही 'मन का चेता' है । यह सौभाग्य पूर्व तपस्या (पुरबला लेख) का फल है । अर्थात् योग की सिद्धि असाधारण बात है ।

हद छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान ।
मुनि जन महल न पावई, तहां किया विश्राम ।। 11 ।। 133

भावार्थ : कबीर कहते हैं जब हद (सीमा) को छोड़कर बेहद (असीम) में प्रविष्ट हुआ तब शून्य (सहस्रार) में स्थित हुआ और स्नान का सुख मिला अर्थात् चंचल मन विश्राम पा गया । सुन्न महल का सुख मुनियों को भी दुर्लभ है—कबीर उस परमपद को प्राप्त हुए ।

सुन्नि = शून्य (ब्रह्मरंध्र), गगन मण्डल ।

हद से बेहद में जाना अर्थात् सामान्य श्वास-क्रिया से हठयोग द्वारा योग सिद्धि प्राप्त करना। अथवा, सांसारिक जीवन (माया) हद है और पारमर्थिक (ब्रह्मपद) बेहद। बाह्यमुखी होना हद है और अन्तर्मुखी होना बेहद। सीम से असीम में समाना—यही सहज समाना है। आपा (मैं मेरा) छोड़कर समता अपनाना।

देखौ कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख।
जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख ।। 12 ।। 134

भावार्थ : कबीर कहते हैं मैंने उस अलेख (अलख = अदृश्य) को अपना बना लिया—दृश्य से मैं अदृश्य में पहुँच गया अर्थात् मैं ब्रह्ममय हो गया। उस ब्रह्मबास को जिसे मुनि नहीं प्राप्त कर पाते मैंने प्राप्त कर लिया—यह मेरे पूर्व जन्म की देन है अर्थात् भगवान की प्राप्ति प्रयत्न से नहीं उसकी कृपा से होती है।

महल = आकाश, शून्य = ब्रह्मरंध्र ।

पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनन्त।
संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत ।। 13 ।। 135

भावार्थ : कबीर कहते हैं उस पारब्रह्म से एक होने पर अर्थात् लेख (दृश्य) के अलेख (अदृश्य) में समाने पर कंत से साक्षात्कार हुआ—फिर हृदय में प्रेम का प्रकाश उदय हुआ, अनन्त संयोग का सुख मिला तथा सब प्रकार के संशय मिट गए।

विवृति : पियारा कंत = राम। योग का फल है राम की प्राप्ति। राम-प्राप्ति का फल है ज्ञानजन्य शीतलता-शांति, परमसुख। संशय-भ्रम इसमें बाधक हैं—

जरत जरत जल पाइया सुख सागर कर मूल।
गुर प्रसादि कबीर कहि भागी संसै सूल ।। 1 दुपदी रमैणी

राम का पाना ही तत्वज्ञान है—

कबीर तत पाया तन बीसरया जब मनि धरिया ध्यान।
तपनि गई सीतल भया जब सुन्न किया अस्नान ।। 5.32

खूटना (खुटना) = समाप्त होना, चुकना।

कबीर का जोग भगवत्प्रेम है। पतिव्रता का कंत-प्रेम आदर्श है रहस्यवादी कबीर का।

प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास।
मुख कसतूरी महमहीं, बाणीं फूटी बास ।। 14 ।। 136

भावार्थ : कबीर का अनुभव है कंत—राम के मिलते ही सम्पूर्ण जीवन बदल गया—हृदय में प्रेम का आलोक, पंजरि (शरीर) के भीतर सर्वत्र प्रकाश की लहर। योग से वाणी मधुर-सुवासित-स्निग्ध हो गयी। वाणी में कस्तूरी की सुरभि आ गई अर्थात् जो कुछ मुँह से निकलता है वह जग को सुरभित करता है।

विवृति : कवि का कथ्य है कि प्रिय से परचै होने पर सर्वांगीण परिवर्तन हो जाता है मनुष्य अहंकारशून्य होकर परमारथमय हो जाता है। ज्ञानतत्व की प्राप्ति की पहचान है वाणी का प्रेममय-सुरभिमय होना।

प्रेम और प्रकाश दो प्रमुख तत्व हैं परमार्थ के। यदि वाणी-व्यवहार में प्रेम नहीं तो भगवत् प्रेम नहीं मिला है।

मन लागा उनमन्न सौं, गगन पहूँचा जाइ।
देख्या चंद बिहूँणा चांदिणा, तहां अलख निरंजन राइ ॥ 15 ॥ 137

भावार्थ : कबीर कहते हैं ब्रह्मस्थित अथवा उन्मनि होने पर शून्य गगन में प्रकाश की अनुभूति होती है। उस अलख-निरंजन ब्रह्म के प्रकाश की व्याख्या सम्भव नहीं—चंद्र नहीं है पर चाँदनी है। अर्थात् ब्रह्म और उसके आलोक का कारण नहीं जाना जा सकता। अलख निरंजन (भगवान) को जन (दास) ही अपनी श्रद्धा से अनुभव कर पाता है—मोहासक्त की पहुँच वहाँ नहीं है।

हँसै न बोलै उनमनी चंचल मेल्ह्या मारि।
कहै कबीर भीतरि भिद्या सतगुर कै हथियार ॥ 1.9

मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहिं बिलग।
लूंण बिलगा पाणियां, पांणी लूंण बिलग ॥ 16 ॥ 138

भावार्थ : कबीर कहते हैं—उनमनी अवस्था वह है जब चंचल मन शांत हो जाता है अर्थात् सहजावस्था में समाहित हो जाता है—एक दम अद्वैतभाव। यह ऐक्य उस प्रकार है जिस प्रकार पानी और लवण का सम्बन्ध—नमक पानी में अथवा पानी लवण में लीन हो गया। यही परमपद से परिचय है। तुल०

कबीर सुरति समाणी निरति मैं अजपा माहैं आप।
लेख समांणां अलेख मैं यूं आपा मांहैं आप ॥ 5.23

पाणी ही तै हिमभया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ ॥ 17 ॥ 139

भावार्थ : कबीर आत्मा-परमात्मा के ऐक्य को कई प्रकार से समझाते हैं—पानी और हिम देखने में भिन्न हैं पर हैं एक—हिम विनष्ट हो कर पानी बनता और पानी रूपांतरित होकर हिम। हिम का पानी बनना अर्थात् नीर का अपना पूर्व रूप (आत्मा) पाना। पानी का स्वभाव है बहकर सागर में मिलना।

विवृति : मनुष्य अपने को भगवान से जोड़ ले तो उसका आपा (मैं-मेरापन) मिट जाता है और वह ईश्वर से अभिन्न हो जाता है।

मूलतः मनुष्य ब्रह्म है—सत् चित् आनन्द है—ऐक्य प्राप्त होते ही वह ब्रह्मपद (निर्वाणपद) प्राप्त कर लेता है।

कहै कबीर बिचार करि वो है पद निरबाण।
सति ले मन मैं राखिये जहाँ न दूजी आन ।। 10 बारहपदी रमैणी

भली भई जु भैं पड़्या, गई दशा सब भूलि।
पाला गलि पांणी भया, ढुलि मिलिया उस कूलि ।। 18 ।। 140

भावार्थ : कबीर कहते हैं, अच्छा हुआ हिम परिवर्तित होकर भूमि पर पानी हो गया—स्थूल सूक्ष्म (मूल) में रूपांतरित हो गया। पानी मूल जलधारा (कुल्या > कूलि) से मिल जाता है, हिम नहीं। 'गई दसा सब भूलि अर्थात् हद से बेहद में, सीम से असीम में प्रविष्ट हो गया। कबीर अन्यत्र कहते हैं 'भूलि गया यह देस।'

भैं पड़ा = भूमि पर पड़ा। यथा, 'लागत ही भ्वैं मिलि गया, 1.7

[डॉ० गुप्त ने भैं का अर्थ 'भव' किया है और कबीर वाङ्मय में भैं को भू = होना से सम्बद्ध बताया गया है। पर ये असंगत हैं।]

कूलि का अर्थ टीकाकारों ने कूल = किनारा किया है।

चौहटै च्यंतामणि चढ़ी, हाडी मारत हाथि।
मीरां मुझसूं मिहर करि, इब मिलौं न काहू साथि ।। 19 ।। 141

भावार्थ : कबीर कहते हैं मैं अब तक संसार (चौहट्टा) में फँसा था—चौपड़ का खेल चौरास्ते पर पासा फेंककर खेल रहा था। पर इसी बीच हमारे हाथ गुरु ज्ञान से चिन्तामणि लग गया अर्थात राम नाम मिल गया। हे मेरे मीर (मालिक) राम ! अब कृपा करके कुछ ऐसा करो कि अब इस संसाररूपी चौपड़ में न रमूँ। तुल०

चौपड़ि मांडी चौहटै अरध उरध बाजार।
कहै कबीरा राम जन खेलौ संत विचारि ।। 1.31

पासा पकड़ा प्रेम का सारी किया सरीर।
सतगुरि दांव बताइया खेलै दास कबीर ।। 1.32

हाड़ी = हड्डी का पासा।

कबीर ने चौहट्टे पर चौपड़ (हाड़ी मारत हाथ) के खेल को संसार के प्रतीक रूप में प्रयोग किया है :

"आसा फिर फिर मारसी, ज्यूं चौपड़ि का सारि।"

'कबीर वाङ्मय' में हाड़ी का अर्थ डाकू और चौहट्टा का त्रिकुटी है।

पाणि बाहुणी गगन कूं, प्यंड रहा परदेस।
पांणी पीया चंच बिन, भूलि गया यहु देस ॥ 20 ॥ 142

भावार्थ : कबीर अपनी शून्य-समाधि (ध्यान) की अनुभूति बताते हैं—मेरी आत्मा जब उस शून्य में स्थित हो गयी तब मुझे इस पिंड (शरीर) का भाव नहीं रह गया—वह तो इस संसार (परदेस) में ही रहा। मैं स्वदेस (परमात्मा का सामीप्य) पहुँच गया। यह देस (झूठा संसार) मुझे भूल गया। मेरी संसार से आसक्ति समाप्त हो गई। मैंने ज्ञान-प्रकाशसरोवर में बिना चंचु ही पानी पिया। अर्थात् लेख से अलेख में घाट से औघट घाट (ब्रह्मशिखर) में पहुँच गया।

विवृति : परमार्थ जगत् में किसी उपकरण की अपेक्षा नहीं, जीव स्वतः प्रेम के माध्यम से निर्वाणपद प्राप्त करता है।

कबीर लेख से अलेख में—जगत् से ब्रह्म में जाने की बात करते हैं। सांसारिक 'दसा' से बचने की बाट एक ही है, परदेस (संसार) अथवा इस देस को भुलाकर स्वदेस को लौटना।

पंखि उड़ानी गंगनकूं, उड़ी चढ़ी असमान।
जिहि सर मंडल भेदिया, सो सर लागा कान ॥ 21 ॥ 143

भावार्थ : कबीर कहते हैं पंखि (जीव-आत्मा) गगन (शून्य = ब्रह्मरंध्र) को उड़ा। ब्रह्मरंध्र में स्थित होते हीं अनाहत स्वर पूरे गगन मण्डम में व्याप्त हो गया—वही स्वर वही अनाहत ध्वनि मेरे कानों में भी सुनाई पड़ रही है। तुल०

उलटे पवन चक्र घट बेधा मेरा दण्ड सर पूरा।
गगन गरजि मन सुनि समाना, बजे अनहद तूरा ॥ 7 गौड़ी

सर < स्वर।

रविदास:—बाहर खोजत जनम गँवाए उनमनि ध्यान रहे घट बाप।
सबद अनाहद बाजत घटमंह अगम ग्यान भौ गुर परताप ॥

[डॉ० गुप्त ने सर का अर्थ शर = बाण किया है। कबीर वाङ्मय में भी सर = शर है। पर 'सो सर लागा कान' से इस अर्थ की संगत नहीं बैठ सकती है।]

सुरति समांणी निरतं मैं, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्यंभ दुवार ॥ 22 ॥ 144

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि शम्भु द्वार (ब्रह्मद्वार) तब खुलते हैं जब जीव का आत्मा से परचै (मिलन) होता है—'सुरति निरति परचा भया'। अथवा जब सुरति निरति में समा गयी केवल निरति की सहजावस्था रही।

(तल्लीनता-समाधि) है। सुरति हद है और निरति बेहद। 'सुरति' में शरीर का भान रहता है। सरति साधनावस्था है। सुरति जाप है, निरति 'अजपा' है।

दादू—छाड़ै सुरति सरीर कूं देह पुंज में आइ।

रविदास—गुरु कौ सबद सुरति कुदाली खोदत कोउ लहै रे।

सुरति से निरति में जाना तभी सम्भव है जब आपा (मैं-मेरी) मिटे। पिंड का अपिंड में मिलना—शून्य में समा जाना—मुक्ति है।

रविदास—'परचै पिंड जीवै नहिं मरै।'

स्यंभ का अर्थ हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ० गुप्त ने 'सिंह' किया है पर यह शंभुद्वार (ब्रह्मद्वार) है—परमशिव और परम ब्रह्म समानार्थी हैं हठयोग में।

रविदास—'ब्रह्म रिषि सारद सिंभ सनकादिक, राम रमि रमत गए पार तेता।'

सुरति समांणी निरति मैं, अजपा मांहै जाप।
लेख समांणां अलेख मैं, यूं आपा मांहैं आप ॥ 23 ॥ 145

भावर्थ : कबीर अपनी अध्यात्मिक गति की बात करते हुए समझाते हैं, भगवत्कृपा से आपा (अपनापन मैं-मेरा) का द्वैतभाव विनष्ट हो गया और उसका स्थान आपा (आत्म-ज्ञान) अथवा अद्वैत ने ले लिया। प्रत्यक्ष जाप—सुरति, अप्रत्यक्ष अजपा—निरति में विलीन हो गया दूसरे शब्दों में रूप अथवा लेख (प्रकट) अलेख अदृश्य में समा गया। बाह्य से भीतर अथवा स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते-बढ़ते सारे सांसारिक बन्धन समाप्त हो गए। मैं अलेख-अव्यक्त-अरूप से अद्वैत हो गया।

आपा (अपनपौ अहंकार) < आत्मन्। गुज० अपुं = अहकार।

आपा (आत्मा) < आत्मन्।

कबीर—मूवा आपा मूवा आन। परपंच लेइ मुवा अभिमान।
राम रमै रमि रमि जे जन हूये। कहै कबीर अविनासी हूये ॥ 46 गौड़ी

आया था संसार में, देषण कौं बहुरूप।
कहै कबीर संत हौ, पड़ि गया नजरि अनूप ॥ 24 ॥ 146

भावार्थ : कबीर कहते हैं संसार में आया—सांसारिक सौंदर्य-रूप देखने-भोगने के लिए। पर, संतो, इसी संसार में, इसी घट में रहते-रहते उस अनुपम-अरूप तत्व अथवा चिंतामणि की प्राप्ति हो गयी। तुल०

'कबीर चौहटे चिंतामणि चढ़ी, हाड़ी मारत हाथ।' 5.19

अंक भरे भरि भेटिया, मन मैं नांहीं धीर।
कहै कबीर ते क्यूं मिलै, जब लग दोइ सरीर ॥ 25 ॥ 147

भावार्थ : कबीर कहते हैं संसार में हम अंक भर मिलते हैं, अधीर होकर भेंटते हैं पर आंतरिक मिलन दो के रहते संभव नहीं—रूप मिटे और अद्वैत भाव प्राप्त हो तभी वह आत्मतत्व मिलता है। अर्थात् आपा (द्वैतभाव) मिटे और अभेद-अद्वैत का बोध हो।

विवृति : यही हिम का पानी रूप में होकर जलधारा से मिलना है, यही सुरति का निरति में समाना है। भेद से अभेद ही ज्ञान है।

सचु पाया सुख ऊपनां, अरु दिल दरिया पूरि।
सकल पाप सहजै गये, जब साईं मिल्या हजूरि ॥ 26 ॥ 148

भावार्थ : कबीर अपनी रहस्यानुभूति की चर्चा कर रहे हैं—साईं (प्रियतम) के मिलते ही सारा हृदय आनन्द से भर गया—हृदय सरिता उमड़ पड़ी—मुझे सच्चा सुख-आनन्द मिला उस चिन्तामणि परमात्मा के मिलते ही—पाप तो स्वतः विलीन हो गए।

विवृति : सच = सचु = सुख शांति; सच् (सश्चति)। 'कबीर वा०', सच का अर्थ सत्य (ईश्वर) किया गया है। पर कबीर ने सच-सचु का प्रयोग सर्वत्र सुख-आनन्द के आशय में किया है—

(1) सर बिन सच पाऊँ नहीं — 3.17
(2) आलोकत सचु पाइया — 13.14
(3) भारी पाया सच — 50.12
(4) मति तरवर सचु पाऊँ। — 111. गौड़ी
(5) दरस पियासी राम क्यूं सचु पावै। — 22. आसा०

धरती गगन पवन नहीं होता, नहीं तोया नहीं तारा।
तब हरि हरि के जन होते, कहै कबीर बिचारा ॥ 27 ॥ 149

भावार्थ : कबीर विचारपूर्वक कहते हैं कि सब कुछ विनाशशील है हरि और हरिजन (भक्त) को छोड़कर (भक्त ईश्वर से अद्वैत भाव के कारण ईश्वर रूप है)। पञ्चतत्व (क्षिति जल पावक गगन समीर) एवं तारागण जब नहीं थे तब भी हरि-हरिजन थे। अर्थात् हरि-हरिजन नित्य हैं।

नामदेव—सब जग जाइला भगत न जाइला। जनम जनम नामदेव निसान बजाइला ॥

जा दिन कृतमनां हुता, होता हट न पट।
हुता कबीरा राम जन, जिनि देखै औघट घट ॥ 28 ॥ 150

भावार्थ : कबीर का अनुभव है जिसने अवघट घाट (सहस्रार) में स्थान पा लिया है वह तब भी था जब पञ्चतत्व से निर्मित यह कृति-सृष्टि नहीं थी।

औघट—देखें, साखी 8—12 तक।

थिति पाई मन थिर भया, सतगुरु करी सहाइ।
अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ ॥ 29 ॥ 151

भावार्थ : कबीर कहते हैं सतगुरु की सहायता-कृपा से मन स्थिर हुआ और हमें स्थिरता मिली। हृदय में त्रिभुवन नाथ का बास हुआ। और इस शरीर से अनिंद्य (शुद्ध) आचरण होने लगा।

विवृति : थिति < पाली, थिति < स्थिति।

कबीर—(1) थापणि पाई, थिति भई। 1.19
(2) सबद सून्य थिति मानी। 16 रामकली

जायसी—टेकु पियास बांधु जिय थोती। 343 पद०

सूर— (1) सुस्थल थिति मन राख्यौ। 10.3530
(2) उतरति थिति पुनि करत संहार। 7.2

रविदास—जहाँ तहाँ थिति पाई।

अनिन < अनिंद्य। तनि < तन (16.20)।

देव—भूपर कमल युग ऊपर कनक खंभ ब्रह्म की सी गति मध्य सूक्षम अनिंदी बर।

[टीकाकारों ने 'अनिन' को 'अनन्य' से सम्बन्धित माना है।]

हरि संगति सीतल भया, मिटा मोह की ताप।
निस बासुरि सुख निध्य लह्या, जब अंतरि प्रकट्या आप ॥ 30 ॥ 152

भावार्थ : कबीर कहते हैं त्रिभुवननाथ के हृदय में बास की अनुभूति से मुझे शीतलता-शान्ति प्राप्त हुई—मोह-माया का ताप मिट गया। अंतर में आप (आत्मा) का साक्षात्कार हुआ अर्थात् आत्म-प्रकाश की अनुभूति हुई। इस प्रकार रात-दिन सुख-शांति का साम्राज्य मिला। तुल०

कबीर माया त्रिविधि का साखा का दुख संताप।
सीतलता सुपिनैं नहीं फल फीका तनि ताप ॥ 16.20

लेख समानां अलेख मैं, यौं आपा माहैं आप। 5.23

तन भीतरि मन मानियां, बाहरि कहा न जाइ।
ज्वाला तै फिरि जल भया, बुझी बलंती लाइ ॥ 31 ॥ 153

भावार्थ : कबीर कहते हैं आपा (आत्म तत्व) में स्थिति से मन आंतरिक आनन्द में रम गया—उसका बाह्याचार समाप्त हो गया। मन के भीतर जलती हुई मायाग्नि बुझ गयी—भगवान की संगति से वह ज्वाला जल (शीतलता) में परिवर्तित हो गयी।

लाइ < अलात = अग्नि।

('कबीर वाङ्मय' में 'बाहर कहा न जाइ' की व्याख्या है 'शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता।')

तत पाया तन बीसर्‍या, जब मन धरिया ध्यान ।
तपनि गई सीतल भया, जब सुंनि किया असनान ॥ 32 ॥ 154

भावार्थ : कबीर कहते हैं तत्व (परम तत्व = निरंजन) की प्राप्ति से तन की सुधि नहीं रही—मन में सतत उसी त्रिभुवनराइ का ध्यान है । शून्य सरोवर (औघट घाटी = ब्रह्मरंध्र) में स्नान करने से अथवा ईश्वर की प्राप्ति से माया की तपनि समाप्त हो गयी और हृदय में शीतलता-शांति की अनुभूति हुई ।

जिनि पाया तिनि सू गहगह्या, रसनां लागी स्वादि ।
रतन निराला पाइया, जगत ढंढोल्या बादि ॥ 33 ॥ 155

भावार्थ : कबीर कहते हैं उस ब्रह्मरत्न (ईश्वर-साक्षात्कार) को जिसने पा लिया उसने उसे भली-भाँति संजो रखा, और रसना (जिह्वा) रामनाम के उच्चारण में—ब्रह्म-रस के स्वाद में—आनन्द मानने लगी । यह रत्न (आत्मतत्व) निराला है, जगत् सागर में ऐसे रत्न को ढँढोलना व्यर्थ है अर्थात् संसार तो माया है, माया से रामरतन = ब्रह्म प्राप्ति सम्भव नहीं ।

बादि < व्यर्थ (बिरथा) । 'अब तू बकति बादि री माई ।' सूर

[डॉ० गुप्त का अर्थ है, 'जगत् को ढँढोलना व्यर्थ है ।' कबीर वाङ्मय में व्याख्या है, 'वह अब जगत् में और कुछ ढूंढ़ना व्यर्थ समझते हैं ।'

नामदेव—अमृताहुनी गोड नाम तुझे देवा = आपका नाम केशव गुड़ से भी मधुर है ।

कबीर दिल स्याबति भया, पाया फल सम्रथ्थ ।
सायर मांहि ढँढोलता, हीरै पडि गया हथ्थ ॥ 34 ॥ 156

भावार्थ : कबीर कहते हैं परम फल (ईश्वर) को प्राप्तकर दिल में स्थिरता-शान्ति आ गई । संसार-सागर में चक्कर लगा रहा था पर गुरु कृपा से मेरे हाथ हीरा (रामरतन अथवा आत्मज्ञान) लग गया ।

गोरखनाथ (1) मन मांहिला हीरा बीधा सो सोवोने लीणां ।
(2) गोरष बोलै सुणौ मछिंद्र हीरै हीरा बीधा ॥

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नांहि '
सब अंधियारा मिट गया, जब दीपक देख्या मांहि ॥ 35 ॥ 157

भावार्थ : कबीर कहते हैं जब तक मैं-मेरापन और पर (द्वैतभाव) था तब तक अंधकार (अज्ञान) था । जब ज्ञानदीपक में अपने को पहचाना अर्थात् ईश्वर से अभिन्नता की अनुभूति हुई तो सारा मैंपन (अहभाव) मिट गया ।

विवृति : नामदेव, कबीर सभी संत द्वैत भाव के मिटाने को आत्मज्ञान का मूल मानते हैं ।

नामदेव—जल तरंग अरु फेनु बुदबुदा जलते भिन्न न होई।

'ममता तुटेना मज केशिराजा। अंगी भाव दूजा लागे पाठी।'

जा कारणि मैं ढूंढ़ता, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सकौं पाइ ॥ 36 ॥ 158

भावार्थ : कबीर कहते हैं जिसे मैं ढूंढ़ता फिरता था वह प्रिय तो सनमुख है—भीतर ही है। पर जब मैं अपने को पत्नी रूप में देखती हूँ तो पाती हूँ कि मैं तो मैली हूँ और प्रिय उज्ज्वल-निर्मल; उनके पाँव पर लगने से हिचकती हूँ।

नामदेव 'काय गुण दोष माझे बिचारसी। आहे भी तो राशि अपराधाची ॥
(हे विट्ठल ! मेरे गुण दोषों का विचार न कर, मैं तो अपराधों का पुंज हूँ।)

जा कारण मैं जाइथा, सोई पाई ठौर।
सोई फिर आपणभया, जासूं कहता और ॥ 37 ॥ 159

भावार्थ : कबीर कहते हैं जिसके लिए मैं व्यग्र था उसे अपने ही भीतर पाया—जिसे मैंने द्वैतभाव के कारण पराया जाना था ज्ञान होने पर जब भेद मिटा तो लगा कि वह तो अपना ही स्वरूप है।

विवृति : जब तक मैं-पर का भाव है तभी तक अलगाव है अन्यथा सर्वत्र एक ही भाव।

नामदेव (1) कहत नामदेउ हरि की रचना देखहु रिदै विचारी।
घट-घट अंतरि सरब निरंतरि केवल एक मुरारी ॥
(2) नेरै नाहीं दूरी निज आतम रहिआ भरपूरि ॥

कबीर देख्या एक अंग, महिमा कही न जाइ।
तेज पुंज पारस धणीं नैनूं रहा समाइ ॥ 38 ॥ 160

भावार्थ : कबीर कहते हैं वह तेज पुंज—सहस्र सूर्यों के प्रकाशवाला अब मेरे भीतर है—मेरे नयनों मे बस गया है। उसके अंग-अंग में अनन्त सूर्य की ज्योति है, वह पारस है अर्थात् वह मुझ जैसे कलुषित को अपने स्पर्श से सोना बना देगा।

नामदेव— जहं अनाहत सूर उजारा तहं दीपक जलै छछोरा।

मान सरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहि।
मुकताहल मुकता चुगै अब उड़ि अनत न जाहिं ॥ 39 ॥ 161

भावार्थ : कबीर अपनी अद्वैत स्थिति का परिचय देते हुए कहते हैं—मेरा मन राम में रम गया है—राम रतन को पा गया हूँ। मेरी हंस रूपी आतमा भरे पूरे मानसरोवर में मोती चुन-चुन कर खा रही है; उस सरोवर मे उसे पूर्ण आनन्द है—वह पूर्ण से एक है। अब मेरा मन कहीं और नहीं जाना चाहता।

तुल० (1) कबीर मोती नीपजै सुन्नि सिखर गढ़ मांहि ।
(2) कबीर हीरा वणजिया मानसरोवर तीर ।।

रतन, हीरा-मोती आत्म-ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) है ।

गगन गरजि अमृतु चुवै, कदली कवल प्रकास ।
तहाँ कबीरा बंदिगी, कै कोई निज दास ।। 40 ।। 162

भावार्थ : कबीर अपनी आनंदानुभूति का अंकन करते हुए कहते हैं कि शून्य सरोवर (सहस्रार) में कदली—कँवल का सुन्दर आलोक है । वहाँ सतत अनहद तूर बज रहा है—उस गगन में गरजन हो रहा है और अमृत रस चू रहा है । उस अमृत स्राव को पान करने का अधिकारी भगवान का कोई सच्चा (निजु) दास-भक्त ही हो सकता हैं—सेवक कबीर उस ब्रह्मसुख को लूट रहा है ।

गोरखनाथ— गगन मंडल मैं ऊँधा कूवा तहाँ अमृत का वासा ।
सगुरा होइ सु भरिभरि पीवै निगुरा जाइ पियासा ।।

नामदेव (1) जह झिलिमिलिकारु दिसंता तह अनहद सबद बजंता ।
जोती जोति समानी मैं गुरु परसादी जानी ।।
(2) अण मदिआ मंदलु बाजै । बिनु सावन घन हरु गाजै ।।
बादल बिनु बरखा होई । जउ ततु बिचारे कोई ।।

नींव बिहूणां देहुरा, देह बिहूँणा देव ।
कबीर तहाँ बिलंबिया, करे अलष की सेव ।। 41 ।। 163

भावार्थ : कबीर अपनी निराकार अथवा निर्गुण ब्रह्म की भक्ति के बारे में कहते हैं—मैं उस अलख निरंकार राम (त्रिभुवन राइ) के सतत सामीप्य हूँ, उनकी सेवा में लगा हूँ—उस सेवा का सुख ले रहा हूँ; वहीं ठहरा हूँ अथवा मेरी थिति (स्थिति) वही है । मेरा देव देह देहधारी नहीं और न वहाँ कोई देवालय बना हुआ है । अर्थात् मेरा राम निरंकार है—वह सर्वत्र है किसी मन्दिर-मसजिद में वह नहीं रहता है ।

नामदेव— जहाँ सूरिजकोटि प्रकास रे । तहाँ निहचल नामदेव दासा रे ।।

देवल मांहै देहुरी, तिल जेहैं बिसतार ।
मांहैं पाती मांहि जल, मांहै पूजणहार ।। 42 ।। 164

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि इस घट (शरीर) में ही वह अलख देव है । उसकी पूजा के लिए कहीं से कुछ एकत्र करना नही—वही जल है, वही पाती, वही फूल-फल और पुजारी भी वही अर्थात् ध्याता और ध्येय एक है भिन्न नहीं । उस देवल (देवता) में सारा देवालय (संसार) समाया है । उस तिल (सूक्ष्म) का ही यह संसार विस्तार है । वह अलख ही सर्वत्र है ।

नामदेव (1) इभै बीठल उभै बीठल । व बीठल बिनु संसार नहीं ।
(2) सूतु एकु मणि सतसहस जैसे उतिपोति प्रभु सोई ।।

गोरखनाथ— कासौं भूझौं अवधू राइ, विरष न दीसै कोई।
जासौं अब भूझौ रे आतमाराम सोई।।
आपण ही मंछ कछ आपण ही जाल।
आपण ही धीवर आपण ही काल।।
आपण ही स्यंघ बाघ आपण ही गाइ।
आपण ही मारीला, आपण ही षाइ।।
न्हाइबे कौं तीरथ न पूजिबे कौं देव।
भणंत गोरखनाथ अलष अभेव।।

['कबीर वाङ्मय' में व्याख्या है, "इसी शरीर रूपी देवालय में प्रवेश करने के लिए देहली विद्यमान है जिसकी परिधि तिल के समान सूक्ष्म है।]

कबीर कवल प्रकासिया, ऊग्या निर्मल सूरि।
निस अंधियारी मिटि गई, बाजै अनहद तूर।। 43 ।। 165

भावार्थ : कबीर कहते हैं आत्मज्ञान सहस्र सूर्य की भांति प्रकाशमय है—उसका प्रकाश भीतर है जैसे मानसरोवर में कमल। प्रकाश के साथ वहाँ अनहद तूर्य बजता है। जो भीतर की आवाज—अनहद सबद को सुनता है वही ज्ञानी है; उसके भीतर रात्रि-अंधकार (माया मोह) नहीं रह जाता।

आत्मज्ञान को 'अंतर कँवल' कहा गया है।

नामदेव— झिलमिलि-झिलमिलि नूरा रे। जहाँ बाज अनहदतूरा रे।
ढोल दमामा बाज रे। तहाँ सबद अनाहद बाज रे।।
फिर रायां जोति प्रकासी रे। जहां अपैआप अविनासी रे।।

अनहद बाजै नीझर झरै उपजै ब्रह्म गियान।
अविगत अंतरि प्रगटे, लागै प्रेम धियान।। 44 ।। 166

भावार्थ : कबीर कहते हैं सहस्रार में स्थिति होने पर सतत अमृतरस (राम रसायन) पीने का सुख मिलता है। मन शांत होने पर समाधि की अवस्था में भीतर अनहद की ध्वनि का अनुभव होता है। इस परमशांति की अवस्था में सत्य (ब्रह्म ज्ञान) का साक्षात्कार होता है अर्थात् द्वैत विनष्ट होकर अद्वैतभाव। यही अविगत (अव्यक्त) का का हृदय में प्रागट्य है। फिर तो उसी ज्योति में आत्मज्योति मिलकर एक हो जाती है—सतत प्रेम-ध्यान अर्थात् ज्ञान के साथ भक्ति का उदय।

नीझर झरै=हरिरस, रामरसायन, नामामृत।

आकासे मुख औंधा कुवां, पाताले पनिहार।
ताका पांणी को हंसा पीवै, बिरला आदि बिचार।। 45 ।। 167

भावार्थ : कबीर सहस्रार की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं वह आकाश में औंधा (उलटा) कुआं सदृश है। उस कुएँ का पानी कोई बिरला साधक-ज्ञानी-जीव ही पीता है। उस पानी को पीने के लिए पनिहारिन-कुंडलिनी का उत्थान करना पड़ता है।

विवृति : कुंडलिनी का निवास पाताल में और कुएँ की स्थिति आकाश में। आकाश पाताल का ऐक्य ही आनन्द का मूल है। जीव और आत्मा अथवा व्यक्त और अव्यक्त का मिलन ही योग है।

गोरख— पाताल की गंगा ब्रह्माण्ड चढ़ाइबा तहां बिमल बिमल जलपीया।

सिव सकती दिसि कौण जु जोवै, पछिम दिसा उठै धूरि।
जल मैं स्यंघ जु घर करै, मछली चढ़ै खजूरि ॥ 46 ॥ 168

भावार्थ : कबीर कहते हैं कुंडलिनी रूपी मछली खजूर (हरितरु अथवा सहस्रार) पर चढ़ जाती है—कुंडलिनी के उत्थान-जागरण के लिए पिंगला, (शिव) इड़ा (शक्ति) को एक करके सुषुम्ना (जो पश्च भाग में है) के मार्ग से ऊर्ध्व ले जाया जाता है। सिंह ज्ञान का प्रतीक है।

गोरखनाथ— (1) नाद अनाहद गरेजे, **पछिम** ऊगा भांण।
(2) इली सोधि घरि प्यंगुली पूरी सुषमनी चढ़ असमान ॥

अमृत बरसै हीरा निपजै, घंटा पड़ै टकसाल।
कबीर जुलाहा भया पारषू, अनभै उतर्‌या पार ॥ 47 ॥ 169

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि ध्यानस्थ होने पर अनाहत नाद होता रहता है—गगन (शून्य) में गर्जन होता है। अमृत स्नान का आनन्द ही ब्रह्म सुख है—यही हीरा-मोती है। हीरा-मोती प्रकाश के प्रतीक है, ये आत्मज्ञान के लिए प्रयुक्त हुए हैं। कबीर जुलाहा पारष (ज्ञानी) हो गया है—ईश्वरानुभूति से वह भवसागर (जन्ममरण) से पार हो चुका है।

अनभै— गोरख अनभै कासौं कहै।

ममिता मेरा क्या करै, प्रेम उघाड़ी पौलि।
दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौड़ि ॥ 48 ॥ 170

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि दयाल (प्रभु) के साक्षात्कार अथवा आत्मानुभव से मेरे सारे शूल (कष्ट) समाप्त हो चुके हैं। अब सुख की शय्या है।

मेरे भीतर भगवत् प्रेम उदय हो चुका है—उससे मैं भगवान् के निकट आ गया हूँ। प्रेम ने पौरी (प्रतोली = दरवाजा) खोल दिया है। अब ममता (मैं-पर का भाव) मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकती है। ममता को निर्मूल करने के लिए भक्ति-प्रेम ही साधन है।

ममता = द्वैतभाव, मैं और पर का भाव।

नामदेव— ममता तुटेना मज केशिराजा। अंगीभाव दूजा लागे पाठीं ॥

सौड़ि = सौरि < शय्योपस्करा: = बिस्तर।

[डॉ० गुप्त ने सौड़ि को 'सउड' से संबंधित बताया है। 'पद्मावत' में 'सौर सुपेती' है।]

———

6. रस कौ अंग

कबीर हरि रस यूं पिया, बाकी रही न थाकि (छाकि)।
पाका कलस कुभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि ॥ 1 ॥ 171

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मैंने अमृतरस-रामरस इतना पिया कि छक गया—मस्त हो गया। अब मैं रामरस में राता-माता हूँ। अब संसार मेरा बिगाड़ नहीं सकता—मैं कुम्हार के पकाए हुए घड़े की भाँति हूँ जिसे दुबारा चाक पर चढ़ने की अपेक्षा नहीं रह जाती अर्थात् मैं मुक्तावस्था को प्राप्त हूँ। तुल०

(1) नीझर झरै अमी रस निकसै तिहि मद रावल छाका।
कहै कबीर यहु बास विकट अति ग्यान गुरु ते बांका ॥ रामकली
(2) कबीर हरि रस पीया जाणिये जे कबहूँ न जाइ खुमार ॥

राम रसाइन प्रेम रस पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है मांगै सीस कलाल ॥ 2 ॥ 172

भावार्थ : कबीर कहते हैं रामरस-हरिरस-प्रेमरस मधुर है, मस्त करने वाला है। पर, यह हरिरस दुर्लभ है—इसके लिए पिलाने वाला कलाल (कलवार) सर माँगता है—जीवन देना पड़ता है। अर्थात् ईश्वर-भक्ति सांसारिक मोह-माया के त्याग पर ही सम्भव है। तुल० एक बूंद भरि देइ रामरस ज्यूं भरि देइ कलाली। 3 रामकली

कबीर भाठी कलाल की बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपे सोई पीवै नहीं तो पीया न जाइ ॥ 3 ॥ 173

भावार्थ : कबीर कहते हैं हरिरस की मदिरा पीने के लिए कलाली-भाठी के पास भीड़ लगी है पर, यह अमृत-रस वही पाता है जो सीस सौंपता है—प्राण की बाजी लगाता है। बिना आपा-ममता-मोह छोड़े हरि-रस पाना सम्भव नहीं।

सं० कल्य = मदिरा, प्रा० कल्ला। कल्यपाल > कल्लाल = कलाल।

कबीर हरि रस पीया जाणियें जे कबहूँ न जाइ खुमार।
मैमंता घूमत रहै नाहीं तन की सार ॥ 4 ॥ 174

भावार्थ : कबीर कहते हैं सच्चा हरिरस का पियक्कड़ वह है जो सदा हरिरस में माता रहे—उसे और कुछ न रुचे। हरिरस पीने वाले को अपने शरीर के सार-संभाल की चिंता नहीं रहती—वह मस्त-छाका रमता है। अर्थात् उसका मन राममय रहता है। वह उसी में मगन रहता है।

सार < सारयति, सार।

कबीर मैमंता तिण नां चरै, साले चितां सनेह।
बारि जू बांध्या प्रेम कै डारि रह्या सिरि खेह ॥ 5 ॥ 175

भावार्थ : कबीर हरिरस में लीन भक्त को मैमंत (मतवाली हाथी) सदृश बताते हैं—हाथी द्वार पर बँधा है वह प्रेम से सिर पर धूल डालता है। संत हरि प्रेम से बँधा होता है उसे खाने-पीने और अपने शरीर के रखरखाव की चिन्ता नहीं, उसका चित्त राम-सनेह से आतुर पीड़ित रहता है।

कबीर मैमंता अविगतरता अकलप आसा जीत।
राम अमलि माता रहै जीवत मुकति अतीत ॥ 6 ॥ 176

भावार्थ : कबीर कहते हैं राम-रस में मत्त भक्त सदा उस अविगत (अव्यक्त ईश्वर) में लीन रहता है। वह दुःख-विषाद रहित है। वह आशा-आकांक्षा रहित है—वह 'निरास' स्वभाव का है, वह जीवित है पर मुक्तावस्था में है, विषयों से परे अतीत है।

विवृति : अकलप (क्लृप् = काटना) अवधी कल्पना = दुखी होना। अतीत = विषयातीत, द्वन्द्वातीत। [डॉ० गुप्त ने अकल्प का अर्थ निरीह किया है। 'क० वा०' —अकलप = निर्विकल्प।]

अमलि = मदिरा का नशा। सं० अम्ल

कबीर जिहिं सर घड़ा न डूबता अब मैंगल मलि मलि न्हाइ।
देवल बूड़ा कलस सौं पंखि तिसाई जाइ ॥ 7 ॥ 177

भावार्थ : कबीर अपनी आध्यात्मिक सम्पन्नता की बात करते हैं—पहले जिस हृदय सागर में पानी का अभाव था—घड़ा भी नहीं भरा जा सकता था अब वही सरोवर अथाह है। उसमें मदमाता मन मल-मल कर नहाता है। उस अथाह जल में कलस सहित सम्पूर्ण मन्दिर (शरीर-मन) डूब गया है पर सरोवर-जल में जीव (पंखि) की तृषा (प्यास) अतृप्त ही रहती है। तुल० (7.1, 7.2)

विवृति : डॉ० गुप्त ने 'पंखि तिसाई जाइ' का अर्थ किया है—किन्तु पक्षी उसके निकट आकर भी तृषित रह जाता है, क्योंकि वह जल उसके पीने के योग्य नहीं है। 'क० वा०' में व्याख्या है, 'जहाँ से एक पक्षी भी प्यासा लौट जाता था···'। (2) मैंगल का अर्थ उक्त दोनों टीकाओं में मदमत्त हाथी किया गया है।

कबीर सबै रसाइण मैं कीया हरि सा और न कोइ।
तिल एक घट में संचरै तौ सब तन कंचन होइ ॥ 8 ॥ 178

भावार्थ : कबीर कहते हैं बहुतेरे रसायन (जीवनी शक्ति देने वाले प्रयोग) तैयार किए गए हैं पर हरिरस-प्रेमरस अथवा रामरसायन अद्भुत-अद्वितीय है। राम-रसायन का एक बूंद भी क्षण भर में सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है और शरीर-मन को निष्कलुष-पवित्र, कंचन सा निर्मल बना देता है।

[रासायनिक—शुद्ध पारा से बनाई गई औषधि सद्यः शरीर में संचरण करने वाली एवं प्रभावकारी होती है।]

———

7. लांबि कौ अंग

कबीर काया कमंडल भरि लिया उज्जल निरमल नीर।
तन मन जोबन भरि पीया, प्यास न मिटी सरीर॥ 1 ॥ 179

भावार्थ : कबीर कहते हैं प्रेम-रस अथवा भक्ति-सरोवर के निर्मल जल से अपने अंग-अंग को डुबो लिया अथवा मेरा यह शरीर भक्ति भाव से ओत-प्रोत है। इस राम रसायन-प्रेम-रस को तन-मन-यौवन से छककर पिया पर मन की प्यास बनी ही है अर्थात् भक्त सदा अतृप्त ही रहता है। तुल०

कबीर जिहि सर घड़ा न डूबता अब मैंगल मलि मलि न्हान्ई।
देवल बूड़ा कलस सौं, पंखि तिसाई जाइ॥ 6.7

काया (पिंड) में ब्रह्मांड की अनुभूति—निर्मल नीर **आत्मज्ञान** है। अथवा,
'गगन मंडल मैं रमूं अकेला। उरध मुषि वंकनालि अमीरस भेला॥ गोरखनाथ

मन उलटा दरिया मिला, लागा मलि मलि न्हांन।
थाहत थाह न पावही, तू पूरा रहमान॥ 2 ॥ 180

भावार्थ : कबीर कहते हैं अंतर्मुखी होते ही मेरा मन उन्मनी अवस्था को प्राप्त हो गया है—नदी समुद्र से एक हो गयी है, जल-जल में अथवा बूंद समुद्र में ऐक्य हो गया है। मन उस प्रेम रस-सागर में मल-मल कर नहा रहा है अर्थात् शरीर-मन परिशुद्ध हो रहा है। हे रहमान (कृपालु) तेरी कृपा का, तेरे प्रेम की थाह नहीं है। अथवा तेरी कृपा बिना पूर्ण प्रेम सरोवर की थाह कौन जान सकता है?

गोरखनाथ (1) दसवै द्वार **उनमन** बासा सबद **उलटि समाना**।
(2) मूल सहसर जीव सींव धरि **उनमनी** अचल थियायनं॥

[डॉ० गुप्त की व्याख्या है, 'मेरा मन उलट (लौट) कर तुम नदी से मिल गया और उसमें मल-मल कर स्नान करने लगा, वह तेरी थाह लेने लगा किन्तु वह उसे न मिली क्योंकि ऐ रहमान (कृपालु) तू पूर्ण है और मन अपूर्ण है।' 'क० वा०' में व्याख्या है, मेरा मन विषयों से निवृत्त होकर अन्तर्मुखी हो गया और ब्रह्मज्ञान रूपी समुद्र में प्रवाहित हो गया।··· किन्तु उसकी गहराई की थाह नहीं लगती। हे दयालु! तू पूर्ण है अर्थात् असीम की थाह तो लग सकती है किन्तु जो सर्वथा असीम और परिपूर्ण है उसकी थाह लगना असम्भव है।]

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ।
बूंद समानी समुंद में सो कत हेरी जाइ॥ 3 ॥ 181

भावार्थ : हे सखी, भगवान को खोजते-खोजते मैं उस अविगत से एक हो गया—उसमें सहज समा गया। जब बूंद (जीव) परमब्रह्म-समुद्र में मिल जाय तो अलग अस्तित्व कहाँ ? भेद मिटकर अभेद-अद्वैत भाव। तुल०

मन उलटा दरिया मिला। 7.2

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ।
समुंद समाना बूंद मैं, सो कत हेर्या जाइ॥ 4 ॥ 182

भावार्थ : कबीर अपनी आध्यात्मिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मैं ईश्वर ब्रह्म से एक हो गया हूँ—उसमें मिल गया हूँ वह मुझमें समाया है—इस अद्वैत स्थिति में अब उसे खोजने का प्रश्न ही नहीं अर्थात् वह तो भीतर ही है।

[डॉ० गुप्त की व्याख्या, 'उस अपने पृथक् अस्तित्व को ढूंढ़ते-ढूंढ़ते हे सखी, कबीर स्वयं गुम हो रहा; जब सागर जलबिन्दु में समा गया तब वह सागर कहाँ खोजा जा सकता है ?'

'क० वा०' में व्याख्या है;—समुद्र (अंशी) ने बूंद (अंश) को आत्मसात् कर लिया। अब उस बूंद का पृथक् अस्तित्व कैसे खोजा जा सकता है ?]

बूंद और समुद्र क्रमश: पिंड और ब्रह्मांड है। पिंड का ब्रह्मांड से एकत्व अथवा ब्रह्मांड की पिंड में अनुभूति—यही ऐक्य तत्वज्ञान है। तुलनीय, साखी 189

गोरखनाथ— अंतरि एक सौं परचा हुवा तब अनंत एक मैं समाया।

8. जरणां कौ अंग

कबीर भारी कहौं त बहु डरौं, हलका कहौं तो झूठ।
मैं का जांणौं राम कूं, नैनूं कबहूं न दीठ ॥ 1 ॥ 183

भावार्थ : कबीर कहते हैं राम को कभी नेत्रों से देखा नहीं इसलिए उसे भारी—हलका क्या बताऊँ—न वह भारी है और न हलका। कोई विशेषण नहीं है उसके लिए। दोनों ही परिचय असत्य हैं; भारी कहता हूँ तो भय लगता है (अद्‌भुत कहने से) हलका कहता हूँ तो यह झूठ है।

कबीर दीठा है तो कस कहौं, कहूं न को पतियाइ।
हरि जैसा है तैसा रहौ, तू हरषि हरषि गुण गाइ ॥ 2 ॥ 184

भावार्थ : कबीर कहते हैं यदि मैं कहूँ कि मैंने उसे नेत्रों से देखा है तो भी क्या बताऊँ कि वह कैसा है और फिर मेरे कहने पर कौन प्रतीति करेगा। इसलिए इस पचड़े में न पड़ो कि वह राम कैसा है। हमें तो उसका गुणगान ही उल्लासपूर्वक करना है।

1—पतियाना
2—पतीजना
3—पतीना
4—पतियारा
} <प्रत्यय = विश्वास (प्रत्याययति = जाना)।
'कहा न को पत्याइ'। 41.10
'तीन बेर पतियारा लीन्हा। मन कठोर अजहूं न पतीना। 4 बिलावल

गोरख— आस्ति कहै तो कोइ न पतीजै बिन आस्ति क्यूं सीधा ?

कबीर ऐसा अदबुद जिनि कथै अदबुद राखि लुकाइ।
बेद कुरानो गमि नही, कह्या न को पतियाइ ॥ 3 ॥ 185

भावार्थ : कबीर कहते हैं यह भी न कहो कि वह अद्‌भुत है—अद्‌भुत (रहस्यमय) की बात भी अपने भीतर ही रखो; उसका अनुभव मात्र करो। तुम्हारे कहने से कोई प्रत्यय तो करेगा नहीं—वहाँ बेद-कुरान (हिन्दुओं के धर्म ग्रंथ और मुसलमान के कुरान) की पहुँच नहीं है, अर्थात् ब्रह्म-राम इन्द्रिय-बोध और भाषा से परे हैं वह अगम्य है। तुल०

राम भणि राम भणि राम च्यंतामणि।
भाग बड़े पायौ छाड़ै जिनि ॥

असंत संगति जिनि जाइरे भुलाइ। साध संगति मिलि हरिगुण गाइ।
रिदा कंवल मैं राखि लुकाइ। प्रेम गांठि दे ज्यूं छूटि न जाइ ॥ 122 गौड़ी

गोरखनाथ— अष्टकुल पर्वत जल बिन तिरिया अदबुद अचंभा भारी।

[डॉ० गुप्त का अर्थ है, जैसा अद्‌भुत तूने उसे देखा है वैसा अद्‌भुत तू उसे न कहे, उस अद्‌भुत दर्शन को तू छिपाकर रख...।' 'कबीर वाङ्मय' में व्याख्या है,

'अद्भुत को गोपनीय रखना ही अच्छा है। उसका वर्णन करने से केवल मिथ्या बोध ही होगा।']

विवृति : **अदबुद** < अदभुत। दभ् = (1) धोखा देना (दम्भ) (2) कष्ट देना।

गमि < गम्य, प्रा० गम्म = जो जाना पहचाना जा सके।

लुकाइ < लुप्त = छिपा (लुप्यते)

> करता की गति अगम है, तू चलि अपने उनमान।
> धीरे धीरे पाव दे, पहुँचेगे परवान ॥ 4 ॥ 186

भावार्थ : कबीर कहते हैं कर्त्ता-ईश्वर की गति अगम्य है अवर्णनीय है। इसलिए साधक अपनी अनुभूति, अपनी समझ से आगे पाव धरता जाय। चलते-चलते साधक को स्वयं उसका बोध होगा और उसे उसका प्रमाण मिलेगा।

विवृति : '**परवान**' का पाठांतर '**निरवाण**' (निर्वाणपद) भी है। '**उनमान**', उनवांन = समझ सूझबूझ। सं० अनुमान (मा = तौलना) :

> सुमिरत हूँ **अपनैं उनमानां**। क्यंचति जोग राम मैं जाना। रमैणी

> कबीर पहुँचैंगे तब कहैंगे, अमड़ैंगे उस ठांइ।
> अजहूँ बेरा समंद में बोलि बिगूचै कांइ ॥ 5 ॥ 187

भावार्थ : कबीर कहते हैं अभी क्या कुछ कहना, जब उस स्थान को पहुँचेंगे वहाँ स्थिर होंगे तभी कुछ कहा जा सकेगा। अभी तो उस ब्रह्मज्ञान का पथिक मात्र हूँ—अभी तो मेरा भवसागर पार करने का बेड़ा समुद्र में ही है, उसके बारे में बोलकर अपने को बरबाद-विनाश न करो—सिद्धि का बात अनुचित है। अपने को ज्ञानी न कहो।

(1) ऐसा भेद **बिगूचनि भारी**।

बेद कतेब दीन अरु दुनियाँ, कौन पुरिष कौन नारी। 57 गौड़ी

(2) राम राइ भई बिगूचनि भारी, भले इन ग्यांननि स्यौं संसारी। 15 सोरठि

(1) **बिगूचना**; बिगूतना = बर्बाद होना, विनष्ट होना, कठिनाई में पड़ना। (ग्रुच् = चोरी करना)।

[डॉ० गुप्त ने 'बिगूचना' का अर्थ अपनी पोल या कलई खोलना किया है। 'कबीर वा०', बिगूचैं = उलझन, संशय, बहकावा।]

---

9. हैरान कौ अंग

कबीर पंडित सेती कहि रहे, कह्या न मानै कोइ ।
ओ अगाध एका कहैं भारी अचरज होइ ॥ 1 ॥ 188

भावार्थ : कबीर कहते हैं मैं पंडितों से बार-बार कहता हूं, कि वह एक है, अगाध है, अगम्य है, पर भेदवादी पंडित हमारी बात को नहीं मानते । मुझे आश्चर्य होता है कि इतनी सहज बात को क्यों नहीं मानते ?

[डॉ० गुप्त—'उसको वे अगाध और एक कहते हैं, यह भारी आश्चर्य की बात है ।]

बसै अपिण्डी पिण्ड मैं ता गति लखै न कोइ ।
कहै कबीरा सन्त जन बड़ा अचंभा मोहि ॥ 2 ॥ 189

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि यह अशरीरी-अविगत सबके पिण्ड में वास करता है—उसकी गति जानी नहीं जा सकती । हे संतो ! पर यह सहज बात भेदभाव करने वाले पंडितों की समझ में नहीं आती—मुझे इस पर आश्चर्य होता है ।

[डॉ० गुप्त, वह अशरीरी शरीरों में निवास करता है और उसकी गति कोई नहीं देखता है । तुमसे यह सुनते हुए हे संतों, मुझे बड़ा आश्चर्य होता है ।]

अपिण्डी = ब्रह्म, ब्रह्माण्ड । **पिण्ड** = शरीर ।

गोरखनाथ—

आऊं नहीं जाऊं निरंजन नाथ की दुहाई ।
प्यंड ब्रह्मण्ड षोजतां, अम्हे सब सिधि पाई ॥

काया गढ़ भीतरि नव लष पाई ।
दसवें द्वारि अवधू ताली लगाई ॥

काया गढ़ भीतरि देव देहुरा कासी ।
सहज सुभाइ मिले अविनासी ॥

बदंत गोरखनाथ सुणौ नर लोई ।
काया गढ जीतैगा विरला कोई ॥

———

10. लौ कौ अंग

जिहि बनि सीह न संचरै, पंखि उड़े नहीं जाइ।
रैणि दिवस का गमि नहीं, तहाँ कबीर रह्या लौ लाइ॥ 1 ॥ 190

भावार्थ : कबीर कहते हैं वह परमधाम जहाँ सतत हरि का निवास है सर्वथा शून्य है। वहां न सिंह और न पक्षिगण का प्रवेश है। वहाँ न रात होती है और न दिन। उस शांत लोक में कबीर रम रहा है।

कबीर सुरति ढीकुली लेज ल्यौ मन नित ढोलनहार।
कवंल कुआं में प्रेम रस, पीवै बारंबार॥ 2 ॥ 191

भावार्थ : कबीर ढेंकुली (गाँव में कुएँ से सिंचाई करने का एक यंत्र) के रूपक से सत्संगियों को समझाते हैं—'कुआं ब्रह्मरंध्र है जो प्रेम-आनंदरस से सदा भरा पूरा है। उस कुएँ के जल को मन ढेंकुली से खींच कर पा सकता है : लौ रस्सी है और सुरति नाम-सुमिरन ढीकुली।

द्वादस कूवां एक बनमाली, उलटा नीर चलावै।
सहजि सुषमनां कूल भरावै दह दिसि बाड़ी पावै॥
ल्यौ की लेज पवन का ढीकूं मन मटका जु बनाया।
सत की पाटि सुरति का चाठा सहजि नीर मुकलाया॥
त्रिकुटी चढ़्यौ पावटौ ढारै अरध उरध की क्यारी।
चंद सूर दोउ पांणति करिहैं गुरमुखि बीज बिचारी॥ 12 आसावरी

रविदास— 'प्रेम पाटी सुरति लेखनि करिहौं, ररा, ममा लिखि अंक दिखाऊँ।
तथा, स्वांस स्वांस तुझ नाम संभारउं।

ढेंकुली–प्रा० ढेंका। कश्मीरी ढेंकली। बिहारी, ढेंकुल, ढेका।

गंगा जमुन उर अंतेरे, सहज सुंनि ल्यौ घाट।
तहाँ कबीरै मठ रच्या, मुनि जन जोवैं बाट॥ 3 ॥ 192

भावार्थ : कबीर कहते हैं—गंगा जमुना (इड़ा-पिंगला अथवा चंद्र-सूर्य) पर, जोग द्वारा अधिकार कर लेने से मैं शून्य (औघट घाट) में स्थित हूँ। अपने को मुनि कहलाने वालों को वह स्थान दुर्लभ है, वे रास्ता जोहते खड़े हैं।

घाट=औघट घाट=शून्य=सहस्रार।

मठ=गढ़ी।

---

11. निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग

कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सौं, बहु गुणियाले कंत।
जो हँसि बोलौं और सूं, तौ नील रंगाऊँ दंत ॥ 1 ॥ 193

भावार्थ : कबीर कहते हैं अपने प्रेम-प्रीति के सम्बन्ध में—मेरा अपने गुणी कंत (भगवान) के प्रति वैसा ही अनन्य प्रेम है जैसा एक पतिव्रता का अपने पति के प्रति होता है। मैं छिनार नहीं जो दूसरों से हँसकर-मुसकुराकर-भौं मटकाकर बोलूं और दाँतों को नीले-काले रंग से रंग लूं (कलंकित कर लूं)।

विवृति : नील = गाढ़ा नीला, काला।

प्रीतड़ी < प्रीति (प्री = प्यार करना)।

हँसकर बोलना = आकर्षण का एक भाव।

गुणियाले < गुणिन्।

कंत < कांत = पति, प्रेमी, (कम्)। प्रा० कांत, कांता (स्त्री०)।

नैनां अंतरि आवतूं, ज्यूं हौं नैन झंपेउं।
नां हौं देखौं और कूं नां तुझ देखन देउं ॥ 2 ॥ 194

भावार्थ : कबीर कहते हैं मेरे प्रियतम मेरे नेत्रों के भीतर बसो जब मेरे नेत्र बन्द होने लगे तो तुम उसी में बन्द हो जाओ—इससे मेरे नेत्र किसी अन्य को न देख सकेंगे और प्यारे तुम भी किसी और के आकर्षण में न फँसोगे। अर्थात् मैं आपको और आप मुझे सदा एक टक देखते रहें यही मेरी कामना है—जीवन का यही परम आनन्द है।

कबीर कोरे योगी नहीं रससिक्त प्रेमी-कवि थे; उनके रहस्यवाद और रामभक्ति का यह अंग अत्यन्त मधुर है।

झंपना < प्रा० झंपइ = ढकना (प्रा० झंपड़ी = पलक), पलकों का गिरना। झौंप = हलकी नींद।

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागै है मेरा ॥ 3 ॥ 195

भावार्थ : कबीर अपने राम से बात करते हुए कहते हैं—हे मेरे पति ! मैं तो समर्पित हूँ, मेरा क्या है ? मैं तो आपकी हूँ इसलिए मेरे पास जो कुछ भी सौंदर्य-प्यार है सब आपका ही है। हे प्यारे, जो तुम्हारा है वह तुम्हें ही समर्पण करने में सुख है ! मेरा क्या है—मेरी सारी ममता, मेरा सारा अहंभाव [illegible]

विवृति : कबीर राम को समर्पित हैं। समर्पण ही एकमात्र उपाय है मैं-मेरा (आपा) से मुक्ति के लिए। कबीर योगी थे—उनकी भक्ति प्रपत्तियोग की है। जीवन एक थाती है, इस पर अपना अधिकार नहीं—इसे देना ही सुख है।

सौंपना < समर्पयति (समर्पण, शतपथ ब्राह्मण) ऋ = हिलना। अर्पयति।

मेरा क्या लगता है—अर्थात् जो चीज आपकी है उसे देने में हिचक क्या! इस वस्तु के स्वामी आप ही हैं—मैंने इसके निमित्त क्या किया है?

जीवन के प्रति मोह-आसक्ति न होना ही परमार्थ और आत्मज्ञान है। यह बोध समर्पण से ही सम्भव है।

कबीर रेख सिंदूर की, काजल दिया न जाइ।
नैंननि रमइया रमि रहा, दूजा कहाँ समाइ ॥ 4 ॥ 196

भावार्थ : कबीर कहते हैं जिन नेत्रों में राम के प्रेम-अनुराग की ललाई (स्यंदूर की रेखा) है अथवा जो प्रेम में रात (रक्त) हैं, उनमें काजल की गुंजाइश नहीं। अथवा जिन नेत्रों में रमण (प्रियतम-पति) रमण कर रहा है वहाँ और कोई नहीं समा सकता है। मेरे नेत्रों में तो मेरा रमण (राम) समाया हुआ है, इन नेत्रों से तो वही सर्वत्र दिखाई पड़ रहा है। तुल०

कबीर अंखड़ियां प्रेम कसाइयां।—3.25

['कबीर वाङ्मय' में व्याख्या—'मैंने तो अपने मस्तक पर सिंदूर की रेखा अर्थात् पूर्ण सौभाग्य का चिह्न लगा रखा है'''।]

समाना < समाविश्। सं० रमणः = प्रेमी, पति। रमइया = राम (पति)। (2) रमण करने वाला।

कबीर सीप समंद की, रटै पियास पियास।
समदहि तिणका बरिगिणै, स्वाति बूंद की आस ॥ 5 ॥ 197

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि भक्त तो पतिव्रता पत्नी सदृश है जिसकी आसक्ति केवल पति के साथ रहती है, उसे अन्य से क्या लेना-देना—भक्त उस सीप सदृश है जो केवल स्वाति बूंद की रट लगाता है [स्वाति जल से सीप में मोती पैदा होता है, ऐसी मान्यता है।] सीप समुद्र में है पर वह समुद्र को तृणवत् मानता है अर्थात् उससे वह विरक्त रहता है क्योंकि प्रेम एक से ही होता है। सीप समर्पित है स्वाति बूंद के प्रति। भक्त-साधक-प्रेमी एक मात्र अपने लक्ष्य-प्रियतम की ओर देखता है—अन्य विषय उसके लिए व्यर्थ हैं।

रटना = बार-बार दोहराना (रटति); रट् = रोना, चीखना, दुःखदर्द कहना। अवधी, र र ना = माँगने के लिए आतुर होना; ररा = भिखारी।

सीप < प्रा० सुत्ति, सं० शुक्ति।

कबीर सुख को जाइ था, आगे मिलिया दुक्ख।
जाहि सुक्ख घर आपणैं, हम जाणैं अरु दुक्ख ॥ 6 ॥ 198

भावार्थ : कबीर कहते हैं ईश्वर-भक्त सुख (विषय) के पीछे नहीं भागता है उसे तो प्रेमी का विरह ही प्रिय है। प्रिय की वेदना में ही वह आनंद लेता है। कबीर कहते हैं कि मैं, लोगों की भाँति—'लोकवेद की भाँति'—सांसारिक आकर्षणों की ओर भागा जा रहा था, इतने ही में गुरु ने विरह की आग प्रज्वलित कर दी उस प्रियतम के लिए। फिर तो मैंने सुख को कह दिया 'अपने घर लौट जाओ,' हमें तुम्हारी अपेक्षा नहीं है। हमने दुःख को अपना लिया है। इस विरह-दुःख को हमीं जानते हैं अथवा हमारा (दुःख देने वाला) राम। अर्थात दुःख में सुख है, वही हमारा आत्म-प्रकाश है—

कबीर पीछे लागा जाइ था, लोक-वेद के साथि।
आगे थैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥ 1.11

विवृति : सुख सांसारिक माया है। नर उस माया-दीपक में पतंग की भाँति अपने को भस्म करता है। गुरु कृपा से वह माया से मुंह मोड़कर ईश्वर से, पतिव्रता की भाँति, लौ लगाता है :

'माया को संग त्याग, हरिजू की सरन लाग।' नानक

कबीर माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि इवै पड़ंत।
कहै कबीर गुरु ग्यान तैं एक आध उबरंत ॥ 1.20

सुख = देह-सुख, आनंद। ऋ० वे० में सुख का आशय था रथ का सहजता से चलना। महाभारत में सुख का अर्थ विकसित हुआ 'सहजता से'।

दुःख—शतपथ ब्राह्मण में सुख के विरोध में है। कबीर-काव्य में 'सुहेल (सुखकारी) और 'दुहेल' विशेषण प्रयुक्त हैं। सुख का प्राकृत 'दुह'।

कबीर भक्ति को 'दुहेली' कहते हैं—

'कबीर भगति दुहेली राम की जैसी अग्नि की झाल। 45.26

दोजग तौ हम अंगिया, यहु डर नाहीं मुझ।
भिस्त न मेरे चाहिये, बाझ (बाज) पियारे तुझ ॥ 7 ॥ 199

भावार्थ : कबीर अपने प्रियतम के प्रति समर्पित हैं—उस प्राणप्रिय के बिना (उससे वंचित) उन्हें बिहिश्त (स्वर्ग) नहीं चाहिए। प्रिय का प्यार मिले तो उन्हें दोज़ख़ (नर्क) स्वीकार है। उन्हें स्वर्ग से प्रेम नहीं, नर्क से भय नहीं उन्हें केवल भक्ति चाहिए। भक्ति तो दुहेली है ही, दुःख से डरना क्या ! विरह-दुःख को अंगीकार करनेवाला ही भक्त है।

विवृति : दोजग, = दोजकि (पृथ्वीराज रासो), फा० दोज़ख़।

अंगियाना = अंगवना = स्वीकारना, अपनाना। अंग + करोति = अंगीकरोति, अंगवै—कीतिलता; पदमावत।

बाझ = बाज, बाजि < वंजित (वृज् = टेढ़ा करना)।

जो वो एकै जांणिया, तौ जाण्या सब जांग।
जो वो एक न जांणिया, तो सब ही जांण अजांग ॥ 8 ॥ 200

भावार्थ : कबीर कहते हैं उस एक परमेश्वर (अद्वैत) को जानने वाला सब जानता है; जो उस एक को नहीं जानता है वह सब कुछ जाननेवाला होते हुए भी अज्ञानी है।

एक < एकः = परमेश्वर।

कबीर एक न जाणियां, तौ बहु जांण्यां क्या होइ।
एक तैं सब होत हैं, सब तैं एक न होइ ॥ 9 ॥ 201

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि उस एक परमेश्वर राम को न जाना तो बहुज्ञ (बहुत जानकारी) होना व्यर्थ है; क्योंकि उस एक मूल से ही सब है—यह विस्तार उस एक का ही है। विस्तार से वह नहीं हुआ बल्कि उसी का विस्तार यह है अतः उस एक को जानो—पहचानो। उसको जानने पर उसके विस्तार से स्वतः अभेद भाव उत्पन्न होगा। फिर तो सर्वत्र वही—उसी की लाली, उसी की लीला। वही एक अनेक रूपों में है—यह अभेद-ज्ञान ही परमज्ञान है।

सं० बहुज्ञ = बहुत जानना, अधिक जानकारी रखना।

जब लगि भगति सकामता, तब लग निर्फल सेव।
कहै कबीर वै क्यूं मिलै, निहकामी निज देव ॥ 10 ॥ 202

भावार्थ : कबीर कहते हैं भक्ति निष्काम ठीक है—परमेश्वर निष्काम है—आसक्ति रहित है। उसे किसी से आशा नहीं। हमें सकाम (अपनी कामनाओं-इच्छाओं की पूर्ति के लिए) भक्ति नहीं करनी चाहिए। किसी आशा से प्रीति करना अथवा सेवा करना व्यर्थ है। वह मिलेगा तो कामना रहित होने पर ही।

निष्काम (निस् + काम) = सांसारिक इच्छाओं से परे; निस्स्वार्थ। काम = इच्छा, लालसा।

आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास।
पांणी मांहैं घर करै, ते भी मरै पियास ॥ 11 ॥ 203

भावार्थ : कबीर कहते हैं एकमात्र उस राम की आसा करे, संसार आसा की पूर्ति नहीं कर सकता। संसार से आसा करना निरासा को बुलाना है। एक वही हमारा है। उससे प्रीति करने पर व्यक्ति में और कोई लालसा नहीं रह जाती—वह तृप्त हो जाता है। उस जलाशय से सम्बन्ध जोड़ ले तो फिर प्यास से मरना कहाँ! अतः, मनुष्य को उसी की भक्ति करनी चाहिए।

भक्ति का आशय है समर्पण—केवल उसी का होकर रहना; उसी की आशा, उसी से प्रेम। उसी का भरोसा। वही आशा को पूरा करता है।

पियास = पियासा < पिपासित । (पा = पीना) ।

डॉ० गुप्त की व्याख्या है "—पानी में जो घर करते हैं वे भी पियासा से हैं ।" 'कबीर वाङ्मय' में है "जैसे सीप समुद्र में रहती है फिर भी जल से वह तृप्त नहीं होती । भक्त संसार में रहते हुए भी संसार से तृप्त नहीं होता ।"

जो मन लागै एक सूं, तौ निरबाल्या जाइ ।
तूरा दुइ मुखि बाजणां, न्याइ तमाचे खाइ ॥ 12 ॥ 204

भावार्थ : कबीर कहते हैं अनन्य भक्ति ही निरापद और हितकर है—भगवान की आसा करे और किसी की नहीं । ऐसा अनन्य भक्त ही सफल है । एक मुख से एक ही साथ दो तूर्य बजानेवाले को तमाचा खाना पड़ेगा, यही न्याय है ।

केवल उस एक से प्रीति लगावे और सारी इच्छाओं को त्याग दे तभी जीवन सफल होगा ।

न्याइ < न्याय (इ = जाना) (1) औचित्य, ठीक । (2) लोकोक्ति । निरबाल्या —(कष्ट रहित ?) डॉ० गुप्त ने 'निर्वाह' और डॉ० जयदव सिंह ने 'निस्तार' अर्थ किया है ।

कबीर कलिजुग आइ करि, कीये बहुत जु मीत ।
जिन दिल बंधी एक सूं, ते सुख सोवै निचींत ॥ 13 ॥ 205

भावार्थ : कबीर कहते हैं इस कलियुग में मनुष्य अनेक इच्छाओं में फंस गया है—बहुतों से आसा करता है, बहुत लोगों को हितैषी मानता है । पर ऐसा व्यक्ति निश्चिंत नहीं—सुख (आनंद) से सोने वाला केवल वह भक्त है जिसका मन उस एक परमेश्वर से लगा है ।

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं ।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउं ॥ 14 ॥ 206

भावार्थ : कबीर अपनी अनन्य भक्ति के बारे में कहते हैं कि मैं तो एक मात्र राम का सेवक—राम का कुत्ता—हूँ, मेरा नाम मोतिया (प्यार का नाम) है, मेरे गले में राम के प्रेम की रस्सी पड़ी है—वह जहाँ ले जाय, जिधर ले जाय वहाँ जाता हूँ । अर्थात् मेरा स्वामी एक वही है—पूर्ण समर्पित हूँ उसके प्रति । हमारा धर्म कुत्ते सदृश सेवक का है । वह स्वामी मुझे प्यार करता है—मुझे दुलार से मोती-मुतिया कहता है । मैं तो उसके प्रेम से बंधा हूँ । तुल०

बौरी मेरे मनवां तोहि धर टांगू ।
तैं तो कीयो मेरे खसम सूं खांगू ॥
प्रेम जेवरिया तेरे गलि बांधू ।
वहाँ ले जाउं जहाँ मेरो माधौ ॥

तो तो करै त बाहुड़ों, दुरि-दुरि करै तौ जाउं ।
ज्यूं हरि राखै त्यूं रहौं, जो देवै सो खाउं ॥ 15 ॥ 20

भावार्थ : कबीर अपनी प्रेमासक्ति की बात कहते हैं—मेरा मालिक-खसम मुझे जैसे रखे उसी प्रकार रहने में मैं सुखी हूँ, जो दे वही पाकर प्रसन्न रहता हूँ । मैं उसका कृत हूं । वह दुर-दुर करे तो दूर जाता हूँ; तू तू करके बुलाता है तो लौट आता हूँ । उसकी मर्जी में खुश हूँ ।

कबीर का बल प्रेमरंगी भक्ति पर है ।

बाहुड़ौं—<सं० व्यावृत्य, पंचतंत्र । व्यावुटन=लौटना (वृत्=घूमना लौटना) । व्यावुटन=बहुरना; बहोरना ।

मन परतीति न प्रेम रस, नां इस तन में ढंग !
क्या जाणौं उस पीव सूं, कैसे रहसी रंग ॥ 16 ॥ 20

भावार्थ : कबीर अपने को पतिव्रता पत्नी की भाँति मानते हैं । वे प्रियतम से समागम की कल्पना कर रहे हैं—प्रथम मिलन में क्या होगा ? मुझे तो एकांत की केलि अथवा प्रेम-क्रीड़ा का अनुभव नहीं—मुझे मिलन-प्रसंग का ढंग-ढब भी नहीं मालूम ! न मैं अभी उस प्रेम-रस (रस केलि) को जानती हूँ, मेरे मन में प्रतीति (आत्म-विश्वास) नहीं कैसे उनके साथ सानन्द रमण करूंगी !

विवृति : रहस<सं० रभस=आनन्द । रंग=प्रेम । तुमसूं लागा रंग खालिक । दादू

'औ दीन्ही संग सखी सहेली । जो संग करहिं रहस रस केली' । 54 पद०
'सब दिन अनंद गंवावा । रहस कोड एक संग' । 332 पद०
तब लगि डर हा मिला न पीऊ । भान कि दिस्टि छूटिगा सीऊ ॥
हिए छोह अपना औ सीऊ । पिउ न रिसाइ लेउ बरु जीऊ ॥
हहूँ रंग बहु जानति लहरैं जेति समुद ।
पिय की चतुराई सकिउं न एको बुंद ॥ 324 पद०

× ×

आपुन रस आपुहि पै लेई । अधर सहैं लागें रस देई ।
हिया थार कुच कंचन लाडू । अगुमन भेंट दीन्ह कै चाडू ॥
हुलसी लंक लंक सों लसी । रावन रहसि कसौटी कसी ।
जोबन सबै मिला ओहि जाई । हौं रे बीच हुति गई हेराई ॥ 325 पद

× ×

कहं अस रहस भोग अब करना । ऐसे जियन चाहि भल मरना । 413 पद

× ×

आइ पेम रस कहा संदेसू । गोरख मिला मिला उपदेसू । 182 पद

'प्रेम रस', 'तन मैं ढंग', 'रहसी रंग' प्रयोग प्रेम-क्रीड़ा से सम्बन्धित हैं, । द्रष्टव्य लेखक की कृति—'जायसी काव्य : प्रतिभा-संरचना' ।

डॉ० गुप्त का अर्थ—'मेरे मन में स्वामी के प्रति प्रतीति नहीं है, न प्रेम रस है, न इस शरीर में कोई ढंग है, इसलिए क्या जानूं उस प्रिय से किस प्रकार रंग (अनुराग) रहेगा ।'

'कबीर वाङ्मय'—'कबीर कहते हैं कि न तो मुझे अपने प्रिय की पूरी जानकारी है, न मेरे भीतर प्रेम-रस का उन्मेष हुआ है और न मुझे इस शरीर से उनको प्रसन्न करने का ढंग ही ज्ञात है; न जाने उस प्रिय से किस प्रकार मिलन के आनन्द का उत्सव होगा ।

(टीकाकारों के अनुसार) रहसि < रहस्य = एकांत । रंग = (1) अभिनय नृत्यादि (रंज् = रंगना) ।

रहसि रंग = रहस रसकेलि, रहसभोग, रहस कोड । रंग = प्रेम; 'चाँद के रंग सुरुज औ राता' । 308 पद० । रंगरेलि = कामक्रीड़ा । रंग रभस = रहस रंग ।

उस संम्रथ का दास हौं कदे न होइ अकाज ।
पतिव्रता नांगी रहै, तौ उसही पुरिस कौं लाज ।। 17 ।। 209

भावार्थ : कबीर अपनी अनन्य प्रीति की बात कहते हैं—मैं पतिव्रता हूँ—मैं एक मात्र उसके ही आश्रित हूँ । मेरा पुरुष (पति) मेरी लज्जा रखे, मुझे क्या चिंता । मैं तो समर्पित हूँ । मेरा काम सेवा करना है । मेरा स्वामी सब प्रकार से समर्थ है उसके रहते मेरा कोई अकाज नहीं होता, वह मेरी हर प्रकार से परवाह करता है । मेरी लज्जा उसके हाथ है । पतिव्रता-दासी निहकर्मी होती है—वह अपने लिए कुछ नहीं करती ।

विवृति : कदेन < न कदापि = कभी नहीं ।

दास—सं० दास = गुलाम । काज < कार्य (विरोधी, अकाज) ।

नागी < नग्न ऋ० वे०, नग्नक, अथर्व० । सम्रथ < समर्थ (अर्थ = सम्पत्ति) = योग्य ।

लाज = लज्जा (लज्ज्) ।

घरि परमेसुर पांहुणां, सुणौं सनेही दास ।
षट रस भोजन भगति करि, ज्यूं कदे न छाड़ै पास ।। 18 ।। 210

भावार्थ : कबीर कहते हैं भीतर परमेश्वर पाहुण (प्राघुण = अतिथि) रूप में है । हे राम-सनेही भक्तो, उस पाहुण को भक्ति रस से पूर्ण (षट् रस युक्त) भोजन दो जिससे वह तुम्हारी प्रीति के बस बना रहे—कभी तुम्हें छोड़कर न जाय । भगवान अतिथि है, उसकी सेवा में कमी न होनी चाहिए । भक्ति में सारे रस समाविष्ट हैं ।

भारतीय वाङ्मय में अतिथि देव को भरपूर प्रेम देने, उसका सत्कार करने का विधान है । अतिथि यहाँ आलंकारिक प्रयोग है । कबीर का भाव है कि अतिथि (प्रिय) प्रसन्न-संतुष्ट रहे ऐसी सेवा करे । भगवान (अतिथि) को भक्ति का भोजन चाहिए ।

□□

12. चितावणी कौ अंग

कबीर नौबति आपणी, दिन दस लेहु बजाइ।
ए पुर पटण ए गली, बहुरि न देखै आइ ॥ 1 ॥ 211

भावार्थ : कबीर कहते हैं हे मनुष्यो ! चेतो, इस मनुष्य शरीर का उपयोग करो भगवद्-भक्ति के लिए—यह जन्म नश्वर है, संसार का सारा सुख-वैभव क्षणिक है। यह चार दिन की चाँदनी है,—दस दिन नौबत बजा लो (ऐश्वर्य का नगाड़ा बजा लो) अन्ततः काल सब कुछ समाप्त कर देगा। भोग-विलास का यह संसार—यह पुर, यह पाटन (बाजार) यह गली—पुनः नहीं देखने को मिलेंगे। यह शरीर सब कुछ छोड़कर चला जायगा।

विवृति : नौबत=नगाड़ा (नौबतखाना=नक्कारखाना)—राजाओं अमीरों के द्वार पर महोत्सव के अवसर पर शहनाई बजाने की प्रथा अब भी है। इसे नौबत बजाना, बधावणा कहा जाता है। तुल०,

कबीर बस संसार का, झूठा माया मोह।
जिहि घरि जिता बधावणा, तिहि घरि तिता अंदोह ॥ 12.28

कबीर कहा गर्रबियौ इस जोबन की आस।
केसू फूले दिवस चारि, खंखर भये पलास ॥ 12.8

बहुरि=फिर, दोबारा। बहुरना=लौटना 'कबीर तो तो करै त बाहुड़ौं।' 11.15

पटण < सं० 'पट्टन—पत्तन=शहर कस्बा।

पट्टन 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' में प्रयुक्त है।

पुर, पटण, गली--इसमें क्रम है—पुर के अन्दर पाटन, पाटन के अन्दर गलियाँ। पुर पट्टन का प्रयोग बहुधा एक साथ है :—

'पुर पट्टन नहिं नगर सुहाई। छिताई चरित। पुर—ऋग्वे० में पुर' गढ़ के आशय में था। महाभारत में यह गढ़-किला और नगर दोनों अर्थों में है। संस्कृत वाङ्मय में इस देह को नवद्वार वाला पुर (गढ़) कहा गया है। उपर्युक्त पुर नगर और शरीर दोनों आशय में है यथा,

कबीर पटण कारिवां, पंच चोर दस द्वार।
जम राणा गढ़ भेलिसी, सुमिरि लै करतार ॥ 127

बिनदस लेहु बजाइ। सूर—'ऐसी जियनि दसौ दिन जीजै।'

तुल० सं० दशांत = अन्तिम दशा = मरण।

जिनके नौबति बाजती, मैंगल बँधते बारि।
एकै हरि के नांव बिन, गए जन्म सब हारि।। 2 ।। 212

भावार्थ : कबीर कहते हैं जिन अमीरों के यहाँ नौबत बजती थी—मंगलोत्सव मनाया जाता था, जिनके द्वार पर मदमस्त हाथी बँधते थे वे भी बिना हरिशरण जीवन की बाजी हार गए, जीवन उसी का सार्थक है जो हरि का सतत स्मरण रखे।

विवृति : जन्म हार जाना = जन्म की बाजी हारना।

सूर—'सूर एक जो नाम बिना नर फिरि फिर बाजी हारि।'
'प्रबल माया ठग्यौ सब जग जूआ हार।।'

मैगल < मदकल = मद बहने से मत्त हाथी।

सूर, अति उनमत्त निरंकुस **मैगल** चितारहित असोच।

हारि < हारि (हृ) = खेल न जीतना। (हारयति)

कबीर ढोल दमामा दुड़गड़ी, सहनाई संगि केरि।
औसरि चल्या बजाय करि, है कोइ राखै फेरि।। 3 ।। 213

भावार्थ : कबीर कहते हैं राजा लोग उत्सव-रागरंग जीवन भर करते हैं—ढोल, दमामा (धौंसा, नक्कारा), दुड़बड़ी, सहनाई-भेरी (सं० भेरी = नगाड़ा) उनके यहाँ बजते हैं पर औसर (अन्तिम समय) आने पर उन्हें यहाँ से चला जाना पड़ा।

औसर = (1) मौका (2) समय। सूर : सुधि बिसरी तन की तिहि औसर। 10.301 'अन्त अवसर अरध नाम 1.119

कबीर, प्राणी लाल औसर चल्यौ रे बजाइ। 16 केदारौ

अब र पोच औसर जब आवा। करि सनमान पूरि जन पावा।। अष्टपदी रमैणी

जायसी, तब लगि सो औसर होइ बीता। 651 पद०

डॉ० गुप्त ने औसरि का अर्थ समारोह किया है जो प्रसंगानुकूल नहीं है।

औसर रचना = उत्सव मनाना। सूर, नन्दद्वार औसर रच्यौ।

कबीर सातौ सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग।
ते मन्दिर खाली पड़े, बैसण लागे काग।। 4 ।। 214

भावार्थ : कबीर कहते हैं आज वे घर सूने हैं वे—मनुष्यरहित हैं, उनपर केवल कौवे

बैठते हैं जिन्हें बड़े-बड़े लोगों ने चुन-चुन कर बनवाया और जिनमें कभी संगीत के सातों सबद और छतीसों (स्वर) बजते थे। काल किसी को नहीं छोड़ता इसलिए औसर रहते हरि की शरण लें।

कबीर थोड़ा जीवना, मांड़ै बहुत मंड़ान।
सब ही ऊभा मेल्हि गया, राव रंक सुलतान ॥ 5 ॥ 215

भावार्थ : कबीर कहते हैं जीवन अल्प है पर मनुष्य बड़े-बड़े मंडप-महल बनाता-सजाता है—ऐसा लगता है मानो यहीं रहना है। पर बात उल्टी है। राजा-रंक-सुल्तान—सभी यह सब ऊँचा, उठा हुआ मंडप (महल) आदि यहीं छोड़कर चले गए।

विवृति : मांड़ना = मंडन करना, सजाना। (मंड्)

मंड़ान = मण्डप (महल) तुल० 'काल्हि जु बैठा माड़ियां आज मसांणा दीठ। 46.15

ऊभा < ऊर्ध्व (ऋवे०) प्रा० उब्भ = ऊँचा, खड़ा, (ऊभी स्त्री०)

जायसी, 'बर पीपर सिर ऊभ जो कीन्हा।' 381 पद०

"कबीर पंथी ऊभी पंथ सिर बुगचा बांध्या पूठि।
मरना मुँह आगे खड़ा जीवण का सब झूठ॥" 46.22

ऊभा मेल्हि गया = सभी ऊँचे-ऊँचे महल यहीं छोड़कर चले गए। मेल्हि गया = छोड़ गया। मेल्हना = छोड़ना। प्रा० मिल्हइ। दूर मेल्हना = दूर छोड़ना।

'कबीर पूरे सौं परचा भया, सब दुख मेल्हे दूरि।' 1.35

'सदा अनन्दी राम के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि।' 31.8

'सँवरि सँवरि मन झूरइ। रोइ रोइ मेलइ धाह।' 101 मृगा०

'काटत बेली कूपल मेल्ही, सींचतड़ां कुमलाय।' गोरख

[कबीर वाङ्मय, मेल्हि गया = सभी की बड़े उत्साह से निर्मित योजनाएँ ध्वस्त हो जाती हैं।']

कबीर एक दिन ऐसा होइगा, सब थै पड़ै बिछोह।
राजा राणां छत्रपति, सावधान किन होइ ॥ 6 ॥ 216

भावार्थ : कबीर चेतावनी देते हैं कि हे राजा, राणां, छत्रपति सावधान हो जाइए जीवन जीना सीखिए—यहाँ के वैभव बिछुड़ जायेंगे। इस दुनियां से अकेले जाना पड़ेगा। अतः, इस माया के बन्धन में न बंधें।

बिछोह = बिछुड़न, अलगाव । **बिछोइ** :
'सुभग सरोवर हंस जल घटतहि गएउ **बिछोइ** । 430 पद०
प्रा० छट्ट = त्यक्त । तुलनीय, सं० क्षोभ; वि + क्षोभ ।

कबीर पट्टन कारिवां, पंच चोर दस द्वार ।
जम राना गढ़ भेलिसी, सुमिरि लेहु करतार ।। 7 ।। 217

भावार्थ : कबीर कहते हैं यमराज (काल) इस गढ़ (शरीर) को नष्ट कर देगा । यह पट्टन, (पत्तन = नगर), यह कारिवां = काफिला सुरक्षित नहीं है । इस नगर (शरीर) में पञ्च विकार पञ्चचोर हैं और इसके दस द्वारों से इसे लूटा जा रहा है । ऐसी स्थिति में हे मनुष्य, तू सृष्टिकर्त्ता को सुमिरना न भूल ।

दस द्वार = दो नेत्र, दो कान, दो नासिका विवर, एक मुख, एक मल द्वार, एक मूत्र द्वार, एक ब्रह्मरंध्र ।

भेलिसी (राजस्थानी) = नष्ट करेगा ।

कबीर कहा गरबियो, इस जोबन की आस ।
केसू फूले दिवस चारि, खंखर भये पलास ।। 8 ।। 218

भावार्थ : कबीर कहते हैं मनुष्य यौवन-सौंदर्य पर गर्व करता है जब कि यह दिन चार का ही है जैसे किंशुक (पलास) का सुरंग-सौंदर्य—फूल झड़ा और पेड़ खंखर (पुष्प-पत्र हीन) हो गया ।

केसू < किंशुक । फूल आने से पूर्व पत्ते झड़ जाते हैं और पत्ते झड़ने पर, नए पत्ते निकलने से पूर्व, पेड़ ठूंठ सा दिखाई पड़ता है ।

खंखर—तु० कंकाल = ठठरी मात्र । पलास < पलाश ।

कबीर कहा गरबियो, देही देखि सुरंग ।
बीछड़ियां मिलिबो नहीं, ज्यों कांचली भुवंग ।। 9 ।। 219

भावार्थ : कबीर कहते हैं इस देह के रंग-रूप पर गर्व कैसा ! यह तो क्षणिक है । जैसे सर्प केंचुली छोड़ता है और वह फिर उसे प्राप्त नहीं कर सकता उसी प्रकार यह सुन्दर देह केंचुली सदृश छूटना ही है । फिर यह शरीर कहाँ मिलती है । द्रष्टव्य, साखी 227.

कबीर कहा गरबियो, ऊँचे देखि अवास ।
काल्हि पर्‌यू भुइं लेटणा, ऊपरि जमिहैं घास ।। 10 ।। 220

भावार्थ : कबीर कहते हैं मनुष्य गर्व छोड़ी ये महल—ये ऊँचे खड़े प्रासाद—देखकर इठलाना व्यर्थ है । एक दिन तुम्हें मिट्टी में मिल जाना है और तुम्हारी कब्र पर घास जमेगी ।

कबीर कहा गरबियौ चांम लपेटे हड ।
हैबर (हय वर) ऊपरि छत्र सिर ते भी देबा खड ॥ 11 ॥ 221

भावार्थ : कबीर कहते हैं— यह चमड़े की शरीर इस चाम लपेटी हड्डी पर क्या गर्व ? एक न एक दिन यह शरीर खड—मिट्टी में—मिल जायगा। जो श्रेष्ठ घोड़ों पर चढ़ते हैं और जिनके सिर पर छत्र तना रहता है वे राजा भी धरती के गड्ढे में मिल जाते हैं।

कबीर कहा गरबियौ, काल गहे कर केस ।
नां जानौं कहं मारिहै, कै घर कै परदेस ॥ 12 ॥ 222

कबीर यहु ऐसा संसार है, जैसा सेंबल फूल ।
दिन दस के ब्यौहार कौं, झूठै रंगि न भूलि ॥ 13 ॥ 223

भावार्थ : कबीर सचेत करते हैं मनुष्यों को—इस संसार के तड़क-भड़क आकर्षण में न भूलो, यह तो उसी प्रकार क्षणिक सुहावना है जैसा सेमल फूल (बाहर से सुरंग और भीतर निस्सार) संसार के इस असत्य रंग पर मुग्ध न हो—दस दिन की सांसारिक माया पर गर्व न कर।

कबीर, 'धन धंधा ब्यौहार सब माया मिथ्यावाद ।' 34 सोरठि

विवृति : ब्यौहार—व्यापार, धंधा । (ह) ।
सेमर, सेमल < शाल्मली ।

कबीर जामण मरण बिचारि करि, कूड़े काम निवारि ।
जिनि पंथौं तुझ चालणां, सोई पंथ संवारि ॥ 14 ॥ 224

भावार्थ : कबीर का कथ्य है जीवन मरण पर विचार करें—काल सर्वोपरि है । कूड़ा (झूठ-फरेब) से बचें । परमार्थ पथ (आत्मज्ञान) ही लक्ष्य है । हरि का ध्यान करो उसी की शरण जाओ । उसी राम नाम पथ को सवारो । तुल०

"पंथ निहारूं बाट संवारूं । दादू

विवृति : कूड़े काम = बुरे काम यथा लोभ-बड़ाई ।
'कबीर हरि सूं हेत करि, कूड़ै चित्त न लाव ।' 16.27
'कूड़ बड़ाई बूड़सी, भारी पड़िसी काल्हि ।' 12.52
'लोभ बड़ाई कारणैं, अछता मूल न खोइ ।' 12.41
कूड़ा < सं० कूट = असत्य, झूठ, धोखा ।
निवार < निवारयति (बृ) = दूर रखता है । कूड़े काम निवारि = झूठे कामों से बचो ।

[टीकाकारों ने कूड़ा का अर्थ निकृष्ट किया है ।]

संवार < संवारयति (वृ = ढकना) ।

बिन रखवारे बाहिरा, चिड़ियैं खाया खेत ।
आधा परधा ऊबरे, चेति सकै तो चेति ।। 15 ।। 225

भावार्थ : कबीर कहते हैं यह जीवन दिन प्रति दिन समाप्त हो रहा है—भोग विलास में नष्ट हो रहा है; जो थोड़ा बहुत समय है उसका उपयोग परमार्थ में करे । जिस प्रकार बिना रखवार चिड़ियाँ खेत चुन लेती हैं उसी प्रकार बिना राम ये इन्द्रियाँ हमें सत्वहीन बनाए जा रही हैं ।अतः जो कुछ आधा-टूका बचा है—जो समय शेष है—उसको परमार्थ में लगावें ।

विवृति : रखवार = रक्षक राम अथवा गुरु (गुरु को खेवणहार कहा गया है ।) बाहिरा = बाहर-बाहेर अथवा बाह्य इन्द्रियाँ । आधा-परधा = अर्ध-अपरार्ध ।

प्रा० ऊबरा = बचा, उव्वारेइ (वृ) ।

जतन बिन मृगनि खेत उजारे ।
टारे टरत नहीं निस बासुरि बिडरत नहीं बिडारे ।।
बुधि मेरी किरषी, गुरु मेरौ बिझुका आखर दोइ रखवारे ।
कहै कबीर अब खान न देहूँ बरियां भली सम्भारे ।। 1 मल्हार

हाड़ जरै ज्यौं लाकड़ी, केस जरै ज्यौं घास ।
सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास ।। 16 ।। 226

भावार्थ : कबीर इस शरीर की नश्वरता देखकर उदास (अनासक्त) हो उठते हैं—हड्डियाँ लकड़ी सदृश और बाल घास सदृश जल रहा है । यह है शरीर का क्षणिक सौंदर्य ! यह दृश्य देखकर कबीर संसार से (विषयों से) उदास (विरक्त) हो जाते हैं :

'मन जीत्यां जग जीतिये, जौ विषया रहै उदास । 1 केदारौ

उदास = उद + आस् ।

कबीर मंदिर ढहि पड़ा, ईंट भई सैवार ।
कोई चेजारा चिणि गया, मिल्या न दूजी बार ।। 17 ।। 227

भावार्थ : कबीर इस शरीर को देवल-मंदिर मानकर कहते हैं—यह एक दिन ढह जायगा, विनष्ट ही जायगा और (दफनाने के बाद) कब्र पर घास (सेवाल = सेवार) गयी दिखाई देगी । इस मन्दिर को चुनने वाले कारीगर ने एक बार बना दिया, दूसरी बार यह मनुष्य तन कहाँ मिलना है ? इसलिए तन मन को उस परमात्मा राम की प्रीति में लावें ।

ढहना—प्रा० ढसइ = गिरता है । चिनना < चिनोति । प्रा० चिणइ, चिणिज्जइ ।

कबीर देवल ढहि पड़्या, ईंट भई सैंवार।
करै चेजारा सौं प्रीतड़ी, ढहै न दूजी बार ॥ 18 ॥ 228

देवल < देवकुल, गु० देवल, म० देवुल।

कबीर मंदिर लाख का, जड़िया हीरै लालि।
दिवस चारि का पेखणां, बिनसि जाइगा कालि ॥ 19 ॥ 229

भावार्थ : कबीर कहते हैं यह शरीर-मंदिर नश्वर है लाक्षा के मंदिर सदृश। इस मंदिर का सारा सौंदर्य (जो हीरा लाल सदृश चमकवाला है) केवल चार दिनों का है (यह यौवन-सौंदर्य क्षणिक है)। अतः इस शरीर पर गर्व न करें, करतार से प्रीति जोड़ें।

कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी ज बँधी एह।
दिवस चारि का पेखणां, अंति खेह की खेह ॥ 20 ॥ 230

भावार्थ : कबीर कहते हैं यह शरीर मिट्टी-धूल है, यह मिट्टी की पुड़िया है, मिट्टी एकत्र कर बनायी गयी है। इसका सौंदर्य चार दिन देखने योग्य है, अंततः यह धूल राख ही होगा। अतः इस माटी पर क्या गर्व !

सं० धूलि = माटी का बारीक चूरा।

सकेलि प्रा० संकेल्लिअ। "उक्ति व्यक्ति प्रकरणम् = संकेल—संकेलयति।" [सं० संकोचयति से इसका सम्बन्ध नहीं है जैसा डॉ० गुप्त ने बताया है।]

खेह—राख, धूल। तु० 'मेहरिन्ह सेंदुर मेला, चहहिं भई जरि खेह।' 531 पद०। प्रा० खेह = धूलि, रज।

पुड़ी < सं० पुट। पेखण < प्रेक्षण, प्रा० पेक्ख = देखना।

कबीर जै धंधौ तौ धूलि, बिन धंधै धूलै नहीं।
ते नर बिनठे मूलि, जिन धंधे मैं ध्याया नहीं ॥ 21 ॥ 231

भावार्थ : कबीर का कथ्य है धंधा (माया—सांसारिक व्योहार) में फँसने पर धूलि ही मिलेगी, यदि माया में नहीं फँसेगा तो मुख में धूल नहीं पड़ेगी अर्थात् विनष्ट नहीं होंगे। धंधा (संसार) में रहकर जिन्होंने उस करतार का ध्यान, उस चिजारे की भक्ति नहीं की अथवा हरिनाम नहीं लिया उसकी बात सब प्रकार से विनष्ट हो गयी, वह जीवन हार गया क्योंकि उसने राम नाम को नहीं जाना। तुल०

'कबीर राम नाम जाण्या नहीं, बात बिनठी मूलि।
हरत इहाँ ही हारिया, परति पड़ी मुखि धूलि ॥ 12,32
'धन धंधा व्योहार सब माया मिथ्या वाद। 34 सोरठि

'कहै कबीर जग धंधा काहे न चेतहु अंधा। वही
'कबीर तत पाया तन बीसर्‌या, जब मनि धरिया ध्यान।
तपनि गई सीतल भया, जब सुन्य किया अस्नान। 5.32
'सार सुख पाइए रे। रंगि रमहु आतमाराम ।।' 1 केदारा
'एकै हरि के नांव विन। गए जनम सब हारि ।।' 12.2

[डॉ गुप्त ने 'धंधा' का अर्थ 'द्वन्द्व' और 'धूल' का अर्थ शरीर किया है। 'कबीर वा०' में 'धंधे' का अर्थ कर्म और धूलि का धुलना है।]

कबीर सुपने रैणि कै, ऊघणि आये नैण।
जीव परा बहु लूट में, जागै तौ लेण न देण ।। 22 ।। 232

भावार्थ : कबीर जाग्रत और स्वप्नावस्था (अर्थात् ज्ञान और मोह) की तुलना करते हैं। स्वप्न में—अज्ञान में—जीव राम से पृथक् अनुभव के कारण नाना कष्टों का अनुभव करता है—वह समझता है कि वह लुट रहा है पर जब जीव ब्रह्मज्ञान का अनुभव करता है अथवा जब विमल हृदय से ज्ञानचक्षु खुलता है तब उसे अनुभव होता है। संसार से न लेना है और न देना। लेन-देन तो मालिक से है। तुल०

'दादू दास भजन करि लीजै, सुपिनै जग डहकायौ।'
'तुम सूं लेणा तुम सूं देणा।' दादू

ऊघड़ि, प्रा० उग्घड < उद्+घट् = खुलना, उग्घडइ = खुलते हैं। उग्घडिअ < उद्घटित, उद्घाटित। 'सुपने रैणि कै' अर्थात् माया।

कबीर सुपिनैं रैणि कै, पारस जीय मैं छेक।
जे सोऊं तो दोइ जणां, जे जागूं तौ एक ।। 23 ।। 233

भावार्थ : कबीर अज्ञान-ज्ञान, स्वप्न-जाग्रत के अन्तर को समझाते हुए कहते हैं कि स्वप्न (अज्ञान) में जीव और पारस (राम) में अन्तर रहता है इसी से वह अपने को सारे कष्टों से युक्त समझता है पर ज्ञान चक्षु खुलते ही उसे राम से ऐक्य की अनुभूति होती है। अद्वैत भाव ही ज्ञान है। दो की अनुभूति अज्ञान है। स्वप्न अज्ञान का द्योतक है।

विवृति : तन दरिया कहै मिट गइ दूती। आपो अरप जीव संग सूती ।।

पारस—स्पर्शमणि जिसके संसर्ग से लौह स्वर्ण में बदल जाता है। कबीर का आशय है कि पारस (राम) से सतत नाता होना ही ज्ञान है। यथा,

'तेजपुंज पारस धणीं, नैनों रह्या समाइ।' 5.33
'पारस कौं जे लोह छुवैगा। बिगरि बिगरि सो कचन ह्वैगा।'
कहै कबीर जे राम कहैगा। बिगरि बिगरि सों रामहिं ह्वैगा। 13 सोरठि

जायसी ने पदमावती को पारस कहा है :

'पारस रूप चांद देखराई। देखत सुरुजि गएउ मुरछाई।' 303

कबीर इस संसार में, घणे मनिष मतिहीन।
राम नाम जानैं नहीं, आये टापा दीन ॥ 24 ॥ 234

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि इस संसार में अधिकांश व्यक्ति अज्ञानी हैं—आँखों पर पट्टी बाँधे हैं, उन्हें राम नाम का बोध नहीं है अर्थात् राम ऐसे प्रकाशमान पारस को वे अपनी अज्ञानता के कारण नहीं देख पाते।

कहा कीयो हम आइ करि, कहा कहैंगे जाइ।
इत के भए न उत के चाले मूल गंवाइ ॥ 25 ॥ 235

भावार्थ : कबीर कहते हैं इस संसार में जन्म लेकर हमने जन्म सफल नहीं किया हरि नाम लेकर—मूल ही गँवा बैठे अर्थात् जीवन की बाजी हार गए। संसार के धंधे में पड़ कर भगवान को गँवा दिया। ऐसा वाणिज्य किस काम का ? हमसे जीवन का हिसाब माँगा जायगा तो क्या उत्तर देंगे ? न संसार के हुए और न परमार्थ के।

मूल गँवाना—'कौने लाभ कहँ मूर गंवाइहु।' 139 म-मा०
'तहि निद्रा जनि सोवसि मूरख जेहि सभ मूर नसाइ।' 67 म मा०

कबीर आया अणआया भया, जे बहु रता संसार।
पड़्या भुलावा गाफिला, गए कुबुधी हारि ॥ 26 ॥ 236

भावार्थ : कबीर कहते हैं कुबुद्धि (अज्ञान) के कारण जो संसार के धंधे में ही रात दिन लीन रहते हैं और भगवान का ध्यान नहीं करते वे अपने कर्तव्य-कर्म के प्रति गाफिल-लापरवाह हैं, वे भुलावे में है। वे जीवन का दाव हार जाते हैं—उनका मनुष्य शरीर में आना सार्थक नहीं होता है।

कबीर का बल है विषयों से उदास रह कर मनुष्य पारस सदृश राम से अपने को जोड़े ताकि वह भी राम हो जाय। यही जीवन की जीत है। संसार के लोभ-बड़ाई के आकर्षण के भुलावे में न फँसना ही जीवन की सफलता है। संसार में अनुरक्त न होकर 'हरिरात' हो—

कहै कबीर जे हरि रंग राता। पायौ राजा राम परमपद दाता ॥ 3 मारू

कबीर हरि की भगति बिना, ध्रिग जीवन संसार।
धूंवां केरा धौलहर, जात न लागै बार ॥ 27 ॥ 237

भावार्थ : कबीर हरिभक्ति को जीवन का लक्ष्य मानते हुए कहते हैं कि संसार में जीवन की सफलता यही है कि हम हरिरात (ईश्वर में अनुरक्त) बनें। राम भगति करें। इसके अभाव में जीवन धिक्कार है। जीवन परम पद पाने के लिए मिला है और वह हरिभगति से ही सम्भव है।

संसार और यहाँ का ऐश्वर्य धूएँ सदृश है—धूएँ का महल देखते-देखते विनष्ट हो जाता है। तुल०

कबीर ऊँच धौलहर माटी चित्री पौलि ।
एक राम के नाउं बिन जम पाड़ैगा रौलि ।। 46.18

धौलहर < धवलगृह = प्रासाद ।

बार < सं वार (अभा०) = समय । 'हरित नास्ति जेहि करत न बारा । 221 पद०

[बार का अर्थ टीकाकारों ने विलम्ब किया है ।]

कबीर जिनि हरि की चोरी करी, गये राम गुण भूलि ।
ते बिधनां बागुलि कीये, रहे अरध मुखि झूलि ।। 28 ।। 238

भावार्थ : कबीर कहते हैं जिन्होंने राम के—उस करतार के—जिसने मानव शरीर दिया—गुणों को भुला दिया अर्थात् जो उसके कृतज्ञ नहीं हैं, जो हरि को भुलाकर—उसके सम्मुख न होकर—उससे विमुख रहते हैं, जो उसको सर्वत्र अनुभव न कर चोर सदृश रहते हैं वे मनुष्य होते हुए भी बगुला हैं जो सतत नीचे मुख किए हुए (चोर सदृश) अपने लक्ष्य-भक्ष्य की ताक में रहता है । तुल०

कबीर उज्जल देखि न धीजिये, बंग ज्यूं मांडै ध्यान ।
धीरै बैठि चपेटसी, यूं ले बूड़ै ग्यांन ।। 27.2

सं० बक > बकुला, बगला, बगुला ।

कबीर माटी मलणि कुंभार की, घणी सहै सिरि लात ।
इहि औसरि चेत्या नहीं, चूका अब की घात ।। 29 ।। 239

भावार्थ : कबीर एक अन्योक्ति से चेतावनी देते हैं—कुम्हार की माटी मलने की प्रक्रिया में कितनी रौंदी जाती है लात से, पर वह अपने को अज्ञानता के कारण उससे मुक्ति नहीं पा सकती । मनुष्य सचेतन है पर वह सांसारिक यातनाओं को बार-बार सहता हुआ भी चेतता नहीं । यदि मनुष्य-योनि पाकर भी वह अपने राम का ध्यान-सुमिरन नहीं करता तो उसका जीवन व्यर्थ है—अबकी बार चूक गया तो फिर यह मनुष्य-तन नहीं मिलने का, ऐसा अवसर फिर कहाँ । कुंभार की मलिन माटी प्रतीक है इस शरीर का ।

विवृति : मलणि < प्रा० मलण = मर्दन, मलन । मलणि < मलिन ।

[डॉ० गुप्त ने 'मलणि' का अर्थ, माटी का विशेषण मानकर, मलिन किया है ।]

घणी < सं० घन = भारी, जोरदार, कठोर ।

घात, तु० सं० घात = चोट (हन्) । घात = दाँव ।

'अबी घात लगाई ।' 9.14 सूरसागर ।

चूका, प्रा० चुक्क = गलती करना, चुक्कइ (च्यु) ।

कबीर इहि औसरि चेत्या नहीं, पसु ज्यूं पाली देह ।
राम नाम जाण्या नहीं, अंति पड़ी मुख खेह ।। 30 ।। 240

भावार्थ : कबीर कहते हैं इस मनुष्य शरीर को पाकर राम नाम से प्रीति न किया— उस राखनहार मुक्ति देने वाले को न जाना, केवल शरीर-पेट को ही पशु सदृश पालते रहे तो मूर्खता ही होगी । हे मनुष्य ! चेतो अन्यथा जीवन अकारथ जायगा; मृत्यु सब कुछ समाप्त कर देगी । हाथ से अवसर निकल जायगा । तुल०

पसुवत उदर भरूं । नानक

विवृति : मुंह खेह (मिट्टी) पड़ना = मृत्यु होना ।

खेह = धूल, मिट्टी, राख । तु० सं० क्षोभ = हिलना ।

कबीर-काव्य का सारा बल राम-हरिप्रीति पर है । जग से—माया से—दूर रह कर श्रीराम के चरणों में प्रीति । कबीर ज्ञानी नहीं शुद्ध वैष्णव । पढ़िए लेखक की कृति **वैष्णव कबीर : रहस्यवाद-मानवतावाद**

कबीर राम नाम जाण्यां नहीं, लागी मोटी खोड़ि ।
काया हांडी काठ की, नां ऊं चढ़ै बहोड़ि ।। 31 ।। 241

भावार्थ : कबीर कहते हैं यह शरीर फिर नहीं मिलने का । अतः इससे राम को प्राप्त करो—आत्माराम को जानो । यदि इस शरीर का उपयोग नहीं किया तो बड़ा भारी दोष लगेगा क्योंकि नरदेह पाकर भी मूल को नहीं जाना । जैसे काठ की हांडी दूसरी बार नहीं चढ़ाई जा सकती वैसे ही यह शरीर फिर मिले या न मिले—अर्थात् इसके उपयोग का अवसर फिर हाथ नहीं आने का ।

विवृति : खोडि = खोरि < सं० खोर = लंगड़ा ।

मोटी खोडि = भारी अपराध । **मोटी** = भारी यथा 'मोटी हाय ।' तु० सं० मूत = बंडल, गठरी । **बहोडि** = बहुरि = फिर, दुबारा ।

कबीर राम नाम जाण्या नहीं, बात बिनंठी मूलि ।
हरत इहां ही हारिया, परति पड़ी मुख धूलि ।। 32 ।। 242

भावार्थ : कबीर कहते हैं राम नाम का सुमिरन-ध्यान ही सार तत्व है । जो उस हरि भक्ति को नहीं जानता है उसका जन्म ही व्यर्थ है । वह इस संसार में जीवन की बाजी हार गया—वह भवसागर पार नहीं हो सकेगा, जन्म-मृत्यु से उसे छुटकारा नहीं मिलेगा । अंततः काल उसे खा जायगा । तुल०

'ते नर बिनठे मूलि, जिन धंधे मैं ध्याया नहीं ।12.21

विवृति : मूल = जड़ । कबीर-काव्य में 'मूल' ईश्वर-हरि-राम हैं । दादू—

एक ठौर सूझे सदा, निकटि निरंतर ठांउं ।
तहां निरंजन मूरि लै अजरावर तिहि नांउं ।।
'भावै ले सिरि करवत दे, जीवन मूरि न छांडौ ते ।'

हरत का अर्थ टीकाकारों ने हरण करते—दूसरों का अपहरण करते हुए—किया है। मैं समझता हूँ 'हरत' हारना के आशय में है। कवि कहना चाहता है कि जीवन की बाजी हारते-हारते मनुष्य (जो राम को नहीं जानता है) मृत्यु के मुँह चला जाता है। और सारी बात बिगड़ जाती है।

परति का अर्थ डॉ० गुप्त ने पड़ते (परते) किया है। 'कबीर वा०' में 'परतें'= मिट्टी की परतें है। मैं समझता हूँ 'पड़ी परति' संयुक्त प्रयोग है—'मुखि धूलि पड़ी परति।'

मूलि का संकेतार्थ टीकाकारों ने स्पष्ट नहीं किया है।

कबीर राम नाम जाण्यां नहीं, पाल्यो कटक कुटुंब।
धंधा ही मैं मरि गया, बाहर हुई न बुंब ॥ 33 ॥ 243

भावार्थ : कबीर, जग-माया-धंधा के चक्कर में न पड़ कर राम भक्ति की साधना—हरि सुमिरन और आंतरिक शुद्धि—पर बल देते हैं। अपना पेट, सारे परिवार का पेट पालने में मनुष्य अपनी शक्ति गँवा देता है यही उसकी भूल है। मैं-मैं हम-हम करते उसकी सारी शक्ति विनष्ट हो जाती है; उसके जीवन की सार्थकता का पता ही नहीं चलता 'बाहर हुई न बुंब।' तु० बम-बम।

विवृति : **कटक** का अर्थ सेना किया गया है पर यहाँ कटक समूह—'कुटुम्ब कटक'—के आशय में है। **धंधा**—

'रह्यौ अलख, जग **धंधै** लावा।' रमैणी
'करि बिसतार जग **धंधै** जाया।' रमैणी
'कहै कबीर जग **धंधा**, काहे न चेतहु अंधा।' 34 सोरठि
'धन **धंधा** ब्यौहार सब, माया मिथ्यावाद।' 34 सोरठि

गोरख— वेदे न सास्त्रे कतेबे न कुराणें पुस्तके न बंच्या जाई।
ते पद जानां बिरला जोगी और दुनी सब **धंधै** लाई।

डॉ० गुप्त ने **धंधा** का अर्थ 'द्वन्द्व' किया है।

कबीर मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारंबार।
तरवर थें फल झडि पड्या, बहुरि न लागै डार ॥ 34 ॥ 244

भावार्थ : कबीर मानव-जन्म की महत्ता पर बल देते हुए कहते हैं यह शरीर बार-बार नहीं मिलता है अतः इसे परमार्थ—हरि भक्ति—में लगाना चाहिए। जिस प्रकार किसी वृक्ष में फल लगे और झड़ जाय, फिर दुबारा वह फल पेड़ में नहीं लग सकता उसी प्रकार एक बार विनष्ट हुआ शरीर फिर मिलने वाला नहीं। अन्यत्र कवि ने शरीर को काठ की हांडी कहा है जो दूजी बार नहीं चढ़ाई जा सकती।

कबीर का कथ्य है कि शरीर का लाभ यही है कि इससे उस राखनहार राम

सार्थकता जगन्नाथ के भजन में है—'कहै कबीर जगनाथ भजहु रे, जनम अकारथ जाइ।' 16 केदारौ।

> कबीर हरि की भगति करि, तजि विषया रस चोज।
> बार बार नहीं पाइए, मनिषा जनम की मौज ॥ 35 ॥ 345

भावार्थ : कबीर कहते हैं मनुष्य-जन्म दुर्लभ है—यह बार-बार नहीं मिलने का। अतः इस शरीर को विषयों में न रमायें—इसका लाभ हरि-राम की भक्ति करने में है।

विवृति : **चोज**=आनन्द, मौज। प्रा० चोज्ज < चोद्य (चुद्)

देव—'देव न बियोगी, अब योगी से सयोगी, भये भोगी भोग अंक परयंक **चित चोज के**।'

'कञ्चन सरोज कलिका मुख उरोज ओज, उदित मनोज **चित चोज** अधिकात है।'

सुखसागर तरंग

सूर— 'दृष्टि टारि ध्यानहुँ तै टारत, बाउ सबनि को **चोज**। 10, 3974

'दोजहि गारी ठह्कई **चोजा**।' छिताई चरित

मौज—(अरबी)=आनन्द, उमंग, चोज। 'सूर मन-मन **मौज** बढ़ावें।

सू० 10.2911

> कबीर यहु तन जात है, सके तो ठाहर लाइ।
> कै सेवा करि साध की, कै गुण गोव्यंद गाइ ॥ 36 ॥ 346

भावार्थ : कबीर कहते हैं यह शरीर तो चला जाने वाला है। इसे कौन रोक सकता है ? इसलिए अच्छे कर्म कर लें। जीवन की सार्थकता संत-साधु के सत्संग अथवा उनकी सेवा में है। भक्त का काम है हरि गुणगान, हरि-सुमिरन। सन्त-सग से हृदय निर्मल होगा और हरि गुन गाने से मन रमा रहेगा परमेश्वर में। तुल० तुलसीदास—

> 'श्रुति पुरान सबको मत यह, सत्संग सुदृढ़ धरिये।
> निज अभिमान मोह ईर्षा बस, तिनहिं न आदरिये ॥'
> 'भव सरिता कहँ नाउ सन्त यह कहि औरनि समुझावत।
> राखु सरन उदार चूड़ामनि, तुलसिदास गुन गावत ॥'

कबीर-तुलसी एक ही पथ के पथिक हैं—साधन है सतसंग, लक्ष्य है हरिसुमरन।

> कबीर यह तन जात है, सकै तो लेहु बहोड़ि।
> नागे हाथूं ते गये, जिनकै लाख करोड़ि ॥ 37 ॥ 347

> कबीर यह तन कांचा कुंभ है, चोट चहूँ दिसि खाइ।
> [illegible] परलै जाइ ॥ 38 ॥ 348

भावार्थ : कबीर बार-बार चेतावनी देते हैं कि इस नश्वर शरीर का भरोसा नहीं—यह तो कच्चे घड़े के समान है, कैसे भी इसे रखो चोट खाता रहता है, इसका प्रलय-विनाश स्वाभाविक है। अतः, इसके रहते हरिभक्ति कर मृत्युभय से बचें। क्योंकि

'एके हरि का नाउं बिन बांधे जमपुरि जाहि ।' 264

परलै < प्रलय = विनाश । 'ब्रज बोरौं परलै के पानी ।' सूर

गोरख— सतगुरु मिलै त ऊबरै, नहीं तो परलै हूवा ।

> कबीर यहु तन कांचा कुंभ है, लीयां फिरै था साथि ।
> ढबका लागा फूटि गया, कछू न आया हाथि ।। 39 ।। 349

> काची कारी जिनि करै, दिन दिन बधै बियाधि ।
> राम कबीरै रुचि भई, याही ओषदि साधि ।। 40 ।। 350

भावार्थ : कबीर कहते हैं सांसारिक व्याधि (माया-मोह) दिन-दिन हमें फाँस रहे हैं, अथवा दिन-दिन काल हमें मार रहा है। भव से मुक्ति के लिए कोई झूठा-मिथ्या उपाय न काम देगा। कबीर के अनुसार इसकी औषध राम नाम है, इसके सुमिरन-भजन से ही भव-रोग मिटेगा। काची कारी अर्थात् झूठा आचरण—

'झूठे झूठ बियापिया अलख न लखई कोइ ।'

विवृति : काची = कच्चा, मिथ्या, झूठा; यथा, 'कांची प्रीति' (देव) ।

(क० बा० में **कांची कारी** का अर्थ है टाल-मटोल करना ।)

> जहां जुह्रा मरन ब्यापै नहीं, मूवा न सुणियै कोइ ।
> चलि कबीर तिहि देसड़े बैद विधाता होइ ।। 41.1

मीरा— 'बैद संवलिया होइ ।'

तुलसी— राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे ।
घोर भव नीर निधि नाम निज नाव रे ।
'ग्रसे कलि रोग—।'

> कबीर अपने जीव तैं, ए दोइ बातैं धोइ ।
> लोभ बड़ाई कारणै, अछता मूल न खोइ ।। 41 ।। 351

भावार्थ : कबीर बार-बार जीवन-मूल (भगवद्भक्ति) पर बल देते हैं। कबीर का मूल राम है, रामभक्ति है। सूरदास ने हरि को 'जीवन मूरि' कहा है। 'मूल' के बाधक हैं लोभ और मान की इच्छा। बड़ाई की चाह मैं-मेरा की भावना को पोषित करती है। लोभ-बड़ाई के भाव को मूलतः उखाड़ फेंकने पर कबीर का आग्रह है। इसके

मैं मैं मेरी जिनि करै, मेरी मूल बिनास।
मेरी पग का पैखड़ा, मेरी गल की पास ।। 12.61

ग्यानी मूल गंवाइया, आपै भये करता।
तावैं संसारी भला, मन में रहै डरता ।। 20.27

विवृति : कबीर राम भक्त हैं, ज्ञानी नहीं। कबीर का मूल वही राम है। राम के आश्रित व्यक्ति सांसारिक लोभ-बड़ाई से दूर रहता है। ज्ञानी होते हुए भी व्यक्ति सांसारिक दुर्बलताओं का शिकार हो जाता है, कबीर का बल रामानन्द के समर्पण-योग पर है जिससे मैं का भाव निर्मूल होता है। भक्त राम को समर्थ अपने को दीन मानता है। यही भक्ति तुलसी की है। कबीर का राम निर्गुण नहीं समर्थ, कृपालु और भवसागर पार ले जाने वाला है। राम की पूंजी सबके पास है—उसे गँवाना जीवन की बाजी हारना है।

लोभ, बाधक है योग में—योग का मूल दया दान है :

'जोग का मूल है दया दानं भणत गोरखनाथ ये ब्रह्मग्यानं।'

अछत = विद्यमान, वर्तमान, उपस्थित। क्षि = रहना। सं० आक्षेति (ऋ०) आक्षियति अथर्व०) पा० अच्छति, प्रा० अच्छइ = है। अछ, अछए = है (कीर्तिलता) अच्छति, आच्छ, आच्छसि, अच्छिअ (उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण)

'इहां ही आछै इहां ही अलोप।' गोरख

'तुम अछत साल्व मोहि बांधि लायो। 10.4221 सू०

'धाइ एक आछइ तेहि ठांए।' 33 मृगा०। 'जो पुच्छ सो आच्छ' उ० व्य० प्रकरण

'बिरिखि जो आछहि चंदन पासां। 22 पद०
'परिमल पेम न आछै छपा। 211 पद०
'जनहुं दिया दिन आछत बरे। 48 पद०

[डॉ० गुप्त ने 'आछ' को सं० अस् से सम्बन्धित बताया है जो अशुद्ध है। डॉ० अग्रवाल ने व्युत्पत्ति नहीं दी है।]

'अछता'—अक्षत = अखण्ड के आशय में नहीं जैसा 'क० वाङ्मय' में है।

कबीर खंभा एक गइंद दोइ, क्यूंकरि बंधसि बारि।
मानि करै तो पीव नहीं, पीव तौ मान निवारि ।। 42 ।। 352

भावार्थ : कबीर मान-बड़ाई की इच्छा के विरोध में कहते हैं, जहाँ मान—मैं और अहंकार का भाव—है वहाँ राम (प्रिय) नहीं। भक्ति में मैं का तिरोभाव है। प्रियतम और मान एक साथ सम्भव नहीं। इसी को अन्योक्ति के सहारे कबीर कहते हैं—एक खम्भे में दो हाथी नहीं बाँधे जा सकते द्वार पर, एक ही हाथी एक खम्भे पर रहेगा।

'माया मोह धन जोबना, इनि बंधे सब लोइ ।'
झूठै झूठ बियापिया, कबीर अलख न लखई कोइ ।। रमैणी
'विद्या अस्तुति मान अभिमाना । इनि झूठै जीव हत्या गियानां ।।'
'अहंकार कीन्हें माया मोहू ।' रमैणी
'माया तजी तो का भया, जौ मान तजा नहिं जाइ ।'
मानि बड़े मुनिवर गिले, मान सबनि कौं खाइ ।। 16.17

निवारि = छोड़ो (नि + वृ = ढकना) सं० निवार, निवारण, निवारयति । प्रा० निवारय ।

गोरख— 'काम क्रोध अहंकार निबारौ ।'
'आजु नेह सौं होइ निबेरा ।' 261 पद०
'तरुन वृद्ध कौ करै निवार ।' 10.497 सू०
'कुल की कानि निवारि ।' 10.1443 सू०
'कौतुक ही प्रभु काटि निवारे ।' मानस

[डॉ० गुप्त ने 'निबेरा' को निवृत्ति = मुक्ति से जोड़ा है । डॉ० अग्रवाल ने प्रा० णिव्वड = अलग होना से सम्बन्धित बताया है ।]

कबीर दीन गंवाया दुनीं सौं, दुनी न चाली साथि ।
पाइ कुहाड़ा मारिया, गाफिल अपणै हाथि ।। 43 ।। 253

भावार्थ : कबीर दुनी (दुनियां) से मुँह मोड़कर दीन (धर्म) से अपने को जोड़ने पर बल देते हैं । दीन ही जीवन का मूल है । काल आने पर दुनियाँ साथ नही जाती । दुनियां के धंधे में जो फँसा रहेगा--राम के आश्रित न होगा—वह अपने हाथ से अपने ही पैर में कुल्हाड़ा मारेगा—मूल गंवाएगा । ऐसा काम गाफिल (जिसे दीन की चिन्ता नहीं) ही करता है ।

विवृति : दीन, अरबी । दुनी, (दुन्य, अरबी) । गाफ़िल, अरबी ।
सं० कुठार, कुठारक > प्रा० कुढार, कुहाड । पं० कुहाड़ा
'अपने हाथ अपने पाँव में कुल्हाड़ा मारना' मुहा० है ।

यहु तन तौ सब बन भया, करम भए कुहाड़ि ।
आप आप कौं काटिहैं, कहैं कबीर बिचारि ।। 44 ।। 254

भावार्थ : कबीर कहते हैं इस शरीर के बन (अंगों को) को हमीं अपने कर्मों से—मिथ्याचरण से—नष्ट करते हैं । कबीर सचेत करते हैं कि झूठे कर्मों में—अभिमान-मोह—में न फँसे । शरीर नहीं आत्मा को मानें । कर्म के बंधन से ही बार-बार जन्मते हैं ।

दादू— करम कुहाडा अंग बन काटत बारंबार ।
अपने हाथों आपइ काटै है संसार ।
दादू आपै मारे आपकौं आप आजहूँ षाइ ।

तुलसी— 'सो आचरन बिसारि सोच तजि, जो हरि तुम कहँ भावत।'
'जाते विपति जाल निसिदिन दुख, तेहि पथ अनुसरिये।'

कबीर कुल खोया कुल ऊबरै, कुल राख्यां कुल जाइ।
राम निकुल कुल भेंटि लै, सब कुल रह्या समाइ॥ 45 | 255

भावार्थ : कबीर जाति-पांति कुल-कुटुम्बजन्य भेद से ऊपर उठने की बात कर रहे हैं। 'लोक वेद' और कुटुम्ब के रास्ते पर चल कर माया-मोह, मैं-मेरा से मुक्ति नहीं। कबीर की चेतावनी है कि कुल के बन्धन की रक्षा करने पर राम से नाता छूट जायगा। यदि जाति-कुल का भेद मिटाकर धर्म-मार्ग पर चलेंगे तो इहलोक-परलोक दोनों बनेगा। राम का कोई कुल नहीं है। राम में अपने को आटा में नमक सदृश एक कर दे--उसी में समा जाय। 'कुल खोया' अर्थात् 'जाति-पांति कुल सब मिटे।' भेद समाप्त हो।

कुल (1) परिवार, कुटुम्ब (2) जाति

कबीर मोर-तोर की जेवड़ी बलि बंध्या संसार।
कांहसि कड़ूंबा सुत कलित दाझणि बारंबार॥ 368

विवृति : कबीर हिन्दू-तुर्क के भेद को मिटाने के लिए, परस्पर घृणा दूर करने के लिए, कुल जाति से ऊपर उठने की बात कर रहे हैं। ईश्वर एक है, वह सभी का है, किसी कुल से उसका सम्बन्ध नहीं। हम ईश्वर के हैं इसलिए हमारा वही कुल है उसी में हमें समाना चाहिए।

कुल का अभिमान परस्पर घृणा का कारण है—मनुष्य कुल (जाति-पांति, वंश) के अभिमान से ऊपर उठे तभी वह राम के निकट पहुँच सकता है।

रैदास —जब राम नाम कहि गावैगा तब भेद अभेद समावैगा।
कह रैदास मेटि आपा पर तब वा ठौरहि पावैगा!

दादू— निर्बैरी सब आतमा, पर आतम जानै।
सुखदाई समता गहै, आपा नहि आनै॥
'मेरा मेरा छोड़ गँवारा, सिर पर तेरे सिरजनहारा।
अपने जीव विचारत नहीं, क्या ले गइला बंस तुम्हारा॥'

कबीर यथार्थ के, जीवन-जगत के, सांसारिक विषताओं के कवि हैं। भेदजन्य विनाश के विरोध में वे खड़े हैं। टीकाकारों ने 'कुल ऊबरै' का अर्थ किया है, 'कुल ईश्वरीय संबंध—उबर (बच) सकता है।' 'असीम पूर्ण बचता है अर्थात् उसकी उपलब्धि होती है।' पर 'खोना' 'उबरना' दोनों कुल (वंश-कुटुम्ब) से संबधित हैं—ईश्वर के बचने अथवा ईश्वरीय सम्बन्ध के बचने की बात जमती नहीं; राम तो निकुल है।

'कहै कबीर ते ऊबरे, जे रहे राम ल्यौ लागि ।' रमैणी

गोरख— सतगुरु मिलै त ऊबरै नहीं त परलै हूवा ।

ऊबरे < सं० उद्‍वर्त (वृत्=घूमना) । प्रा० उव्वर, उव्वरिअ ।

कबीर दुनियां के धोखै मुवा चलै जु कुल की काणि ।
तब कुल किसका लाजसी, जब ले धर्‍या मसाणि ।। 46 । 256

भावार्थ : कबीर कुल-मर्यादा (जाति-पांति-वंश की सीमा) के विरोध में खड़े हैं । उनका कहना है कि मैं (आपा) से ऊपर उठने के लिए कुल की सीमा तोड़नी होगी । भेद से अभेद में जाने के लिए कुल बाधक है । कुल का मोह धोखा है—इस धोखे में मनुष्य मूल (राम) को गँवा देता है । कबीर सबसे पूछते हैं श्मशान पर दाह संस्कार के समय —कुल की बात कहाँ रहती है, कुल की मर्यादा, लज्जा तब कहाँ ? कौन सा कुल तब मर्यादा-लज्जा की बात करता है ? मृत्यु पर कुल की काणि काम नहीं देती । अतः उसकी रक्षा करने से क्या लाभ—

मन रे राम नामहिं जानि ।
थरहरी थूंनी पर्‍यो मंदर, सूतो खूंटी तानि ।
भाई बन्ध बोलाइ बहुरे, काज कीनौं आनि ।
कहै कबीर या मैं झूठ नाहीं, छाड़ि जीय की बानि ।
राम नाम निसंक भजि रे, न करि कुल की कांनि ।। 15 केदारो
नलिनीं के सुवटा की नाईं जग सूं राचि रहै रे ।
बंसा अग्नि बंस कुल निकसै, आपहिं आप दहै रे ।। 11 केदारो

कबीर के मन में भागवत का यह प्रसंग होगा जब व्रज बनिताओं ने 'कुल कानि' छोड़कर कृष्ण को प्राप्त किया—

तुलसी—तज्यो पिता प्रह्लाद बिभीषन बन्धु भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यौं कन्त व्रज बनितनि भये मुदमङ्गलकारी ।।

'रामपद' में सनेह के लिए संसार (जगमाया) की चिन्ता छोड़नी होगी । लज्जा-मर्यादा घातक है पूर्ण आनंद में ।

कबीर दुनियां भांडा दुख का भरी मुहाँ मुंह भूष ।
अद्‍या अलह राम की, कुरहै (कुरलै) ऊणी कूष ।। 47 । 257

भावार्थ : कबीर कहते हैं दुनियां तो दुःख का घड़ा है—यह मुहांमुंह (लबालब) भूष (लोभ-तृष्णा, मैं-मेरा) से भरा है । गर्भ (कूख) में आते ही दुःख में चीत्कार शुरू हो जाती है । राम-अल्लाह की दुआ (प्रार्थना, स्तुति) से ही यह क्रंदन समाप्त हो सकता है । राम नाम का भरोसा हो—हरिभक्ति हो—तो सांसारिक दुःख से मुक्ति मिल

अद्या < अरबी, अद्इय: (दुआ का बहुवचन)। दुआ = प्रार्थना, गुणगान।

कूष < कुक्षि = कोख, गर्भ।

ऊणी < सं० ऊन = कम। ऊन मानना = दु:खी होना। ऊणी = दु:खी।

देव–सून तन, ऊन मन,"'भावत कछू न रही, दून दुख दीन ह्वै। 572 सुखसागर तरंग
'वृन्दावन आली वनमाली बिन सूनो देव, देखो दुख दूनो, ऊनो मानै सब सहचर।
570 सुख सागर तरंग

कुरलै—कबीर अम्बर कुंजा कुरलिया। 3.2

कबीर का बल राम-भक्ति, राम की प्रार्थना, राम के गुणगान पर है।

[डॉ० गुप्त ने 'अदया—कूष' का अर्थ किया है, यह अल्लाह राम की अदया ही है कि मैं (उस पर भी) एक कुलक्ष्य (कुदेश) और एक ऊन (हीन) कुक्षि (कुल) में उत्पन्न हुआ।'

'कबीर वाङ्मय' में व्याख्या है 'अल्लाह या राम की दया के बिना यह तृष्णा समाप्त नहीं हो सकती। हे जीव! जब सारा संसार एक अतृप्त वासना का भण्डार है तो ऐसे में किस कोष या खजाने के लिए चीखता रहता है।']

पर, अदया 'अ + दया' नहीं है। और न 'कूष' 'कोष' है। कबीर—

रे रे जीव अपनां दुख न संभारा। जिहि दुख व्यापा सब संसारा॥
माया मोह भूले सब लोई। क्यंचित लाभ मांनिक दीयौ खोई॥
मैं मेरी करि बहुत बिगूता। जननी उदर जनम का सूता॥ रमैणी
तिल सुख मारनि दुख बस मेरू। चौरासी लख कीन्हां फेरू॥ रमैणी
अमृत केवल राम पियारा। और सबै बिष के भण्डारा॥ रमैणी
तहां अनन्द जहां राम निहोरा॥ रमैणी

जिहि जेवड़ी जग बंधिया, तूं जिनि बंधै कबीर।
ह्वैसी आटा लूण ज्यूं, सोनां सवां सरीर॥ 48॥ 258

भावार्थ : कबीर जग के बन्धन और राम भक्ति से मुक्ति की बात कहते हैं—संसार माया है, झूठा है, यह बन्धन है। कबीर अपने को सचेत करते हुए कहते हैं कि हे कबीर तू 'मोर-तोर की जेवड़ी' (रस्सी) से न बंध। तू राममय हो—राम में लौ लगा कर उनसे एक हो जा जैसे आटा में नमक रखने पर वह उससे एकत्व प्राप्त कर लेता है। ऐसा करने पर ही स्वर्ण सदृश शरीर राम में समा सकेगा। माया से चिपटे रहने पर न हृदय शुद्ध होगा और न राम मिलेंगे। तुल०

कबीर मोर-तोर की जेवड़ी बलि बंध्या संसार॥
कबीर गुर गरवा मिल्या रलि गया आटैं लूण।

'जिन्ह सहजै विषिया तजी, सहज कहीजै सोइ ॥' 21.1

सहजैं सहजैं सब गए, सुत बित कामिणि कांम ।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या दास कबीरा राम ॥ 21.3

श्री मद्भागवत में इसी 'ऐकात्म्य' का वर्णन है (11.19.27)। कबीर परम भागवत हैं।

[डॉ० गुप्त—'कर्मों को जिस जेवड़ी से संसार बँधा है, हे कबीर उससे तू न बंधे—तब तेरा यह सोने का सा शरीर (उसमें विलीन होकर) आटे में मिले हुए नमक जैसा रहेगा।'

कबीर वाङ्मय—'जिस माया की रज्जु से जगत् बँधा हुआ है, तू उससे मत फँस। यदि तू उसमें फंसता है तो तेरा यह सोने के समान बहुमूल्य शरीर'''वैसे ही हो जायगा जैसे आटा में नमक'''माया में लिप्त हो जाने पर तेरा सारा व्यक्तित्व उससे पृथक् न हो पायेगा।']

कहत सुनत जग जात है, विषै न सूझे काल ।
कबीर प्याले प्रेम के, भरि भरि पीव रसाल ॥ 49 ॥ 259

भावार्थ : कबीर कहते हैं समय कहने-सुनने में समाप्त होता जा रहा है, मनुष्य का ध्यान काल की ओर, विषय रस में लगे रहने के कारण नहीं है; अर्थात् मनुष्य का ध्यान विषयासक्ति के कारण हरि-रस, राम-भगति की ओर नहीं है। कबीर तो उस मधुर हरि-रस का भर-भर प्याला पीता है। उसका प्रेम मुक्तिदायक राम से है।

'राम राम राम रुचि मानैं। सदा अनन्द राम ल्यौ जाने।' रमैणी

कहत-सुनत = कहन-सुनन में। 'क० वा०'—'उपदेशों के कहते-सुनते।'

कबीर हद के जीव सूं, हित करि मुखां न बोलि ।
जे लागे वेहद सूं, तिन सूं अंतर खोलि ॥ 50 ॥ 260

भावार्थ : कबीर हद-बेहद का प्रयोग संसार और राम के लिए क्रमशः करते हैं। उनका कहना है कि जो सांसारिक विषयों में रमा है उससे हित करना, प्रेम करना अपने को धोखे में, दुःख में डालना है। जो सन्त बेहद (राम) से जुड़े हैं उनसे ही अपने हृदय की बात खोले।

हित = प्रेम (सं० हित = भलाई)—सूर—'तन-कुटुम्ब सो हित परिहरै।' 5/4

'सूरदास गोपिन हित कारन।'

देव—'हेरति हरिन नैनी हितु सो हितैहितै। 372 सु० सा० त०

हद (अरबी) = सीमा। अन्तर खोलना = हृदय को—रहस्य को—बात बताना।

कबीर केवल राम की तूं जिनि छाड़ै ओट।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि मनुष्य संसार में सब प्रकार से पीड़ित है—इसकी दशा उस लौह-सदृश है जो घन और निहाई के बीच में चोट सहता है। इस कष्ट से मुक्ति के लिए मनुष्य राम की शरण में रहे—उसकी ओट में वह निर्द्वन्द्व रहेगा। हरि उसे कर्मों के भोग अथवा मृत्यु से मुक्त कर देंगे।

अहरणि < प्रा० अहिगरणी < अधिकरणी।

ओट = शरण, बचाव। 'बड़ी है राम नाम की ओट।' सूर

कबीर पहली बुरा कमाइ करि, बांधी बिष की पोट।
कोटि करम फिल पलक में, जब आया हरि की ओट ॥ 219
कबीर काजल केरी कोठड़ी, काजल ही का कोट।
बलिहारी ता दास की, जे रहै राम की ओट ॥ 21.12
कबीर धर्वाण धवंती रहि गई, बुझि गए अंगार।
अहरणि रह्या ठमकड़ा, जब उठि चले लुहार ॥ 46.21

कबीर केवल राम कहि सुध गरीबी झालि।
कूड़ बड़ाई बूड़सी, भारी पड़िसी काल्हि ॥ 52 ॥ 262

भावार्थ : कबीर राम के आश्रय की महिमा गाते हुए कहते हैं कि दास की गरीबी भली—बड़प्पन कूर (मिथ्या) है; यह मनुष्य को पतित करता है—उसे डुबोता है। झूठी बड़ाई का बोझ डुबो देगा। बड़ाई-अहंकार से बचें।

कबीर— मन लागो मेरो फकीरी में।

जो सुख पायो नाम भजन में सो सुख नाहि अमीरी में।
भला बुरा सब को सुनि लीजै करि गुजरान गरीबी में।

कूड़ = कूर : कूड़ा < कूट = मिथ्या, झूठी। [हिंदी शब्दसागर—'कूड़, कूर' < सं० क्रूर]
'कूर कथा',—

रस की कथा सुनी न तिहि कूर कथा की चाहि।
जिन दाखै चाखी नहीं, मिष्ट निबौरी ताहि ॥

चरन दास—इनका मत कूरा हो।

[डॉ० गुप्त ने दूसरी पंक्ति का अर्थ किया है, यदि कल तू भारी पड़ गया तो उस बड़प्पन के कूड़े में तू डूब जायगा।

कबीर वाङ्मय—'व्यर्थ का बड़प्पन नष्ट हो जायगा और भविष्य में यह तुझे बहुत मँहगा पड़ेगा। तू उसके बोझ से दब जायगा।']

कबीर काया मंजन क्या करै कपड़ धोइम धोइ।
उजल हुवा न छूटिए, सुख नींदड़ी न सोइ ॥ 53 ॥ 263

के दाग हैं वे बाहरी सफाई से छूटने को नहीं। हे साधक ! सुख की नींद नहीं सो, समय को विषय में नहीं लगा। चित्त का मार्जन करे। यह राम-भगति से ही सम्भव है।

मंजन < मार्जन (मृज्)। प्रा० मज्जन = स्नान, नहाना-धोना।

दाग पुराना छूटत नाहीं धोवत बारह मासा।—कबीर

कबीर निरभै राम जपि जब लगि दीवै बाति।

तेल घट्या बाती बुझी तब सोवैगा दिन राति ॥ 2.10

कबीर उजल कपड़ पहिर करि, पान सुपारी खांहि।

एकै हरि का नांउ बिन बांधे जमपुरि जांहि ॥ 54 ॥ 264

भावार्थ : कबीर वाराणसी के चिकन पहने लोगों को देखकर कहते हैं ये उज्ज्वल-निर्मल कपड़े पहने पान-सुपारी खाने में मस्त हैं—इन्हें यह ध्यान नहीं कि काल सर पर है। परमार्थ के लिए राम भक्ति करें ताकि काल का भय समाप्त हो।

हरि कृपा से कर्मों के बन्धन छूट जाते हैं यह संकेत है। पान सुपारी खाना प्रतीक है इन्द्रिय सुखों में लिप्त होने का।

कबीर तेरा संगी को नहीं, सब स्वारथि बंधी लोइ।

मनि परतीति न ऊपजै, जीव बेसास न होइ ॥ 55 ॥ 265

भावार्थ : कबीर कहते हैं मनुष्य अनुभव करता है कि संसार स्वार्थमय है हमारा कोई सङ्गी-साथी नहीं फिर भी मन में भगवान की प्रतीति (पक्की आस्था) नहीं उत्पन्न होती—जीव को यह विश्वास नहीं होता कि उसका हितू एक मात्र राम है।

[डॉ० गुप्त—'....तेरे मन में उस (स्वार्थी) पर प्रतीति न उत्पन्न होनी चाहिए और तेरे जीव में उसके प्रति विश्वास न होना चाहिए।'

कबीर वाङ्मय—'किन्तु तू ऐसा अज्ञानी है कि इस कटु सत्य के प्रति तेरे मन में प्रतीति नहीं होती और न तेरे हृदय में विश्वास जमता है।'...]

कबीर माइ बिड़ाणी बाप बिड़, हम भी मंझि बिड़ां।

दरिया केरी नाव ज्यूं, सजोगे मिलियां ॥ 56 ॥ 266

भावार्थ : कबीर कहते हैं इस संसार में कोई अपना नहीं, सब बेगाने (बेराने)—एक दूसरे से मूलतः कोई परिचित नहीं, किसी से कोई सम्बन्ध नहीं। माँ, बाप और उनसे उत्पन्न हम सब एक-दूसरे के लिए विराने हैं यह तो संयोग है कि हम सब एक कुटुम्ब के रूप में हो गए हैं। यह संयोग वैसा ही है जैसा नावों का दरिया में मिलना :

बिड़ < फा० बेगानः = अपरिचित।

'जैसे नदी नाव कर संग। ऐसे ही मात-पिता सुत संग ॥' 1 बजित

कबीर इत पर घर, उत घर, बणजण आये हाट।

भावार्थ : कबीर कहते हैं मूल घर तो परलोक है। मनुष्य-बणिजारा के लिए संसार दिसावर है। संसार-हाट में हमें वाणिज्य करना है। जो भागवत है वह कर्म रूपी किराने को बेचकर मुक्ति पथ पर लग जाता है। अर्थात् भागवत भगवान के प्रति समर्पित होकर कर्मों से मुक्त हो जाता है—उसके कर्म-भोग भगवत्कृपा से समाप्त हो जाते हैं। जीवन परमार्थ के लिए है—यहाँ आकर जीवन सँवारे। ऐसा व्यापार करे कि मूल न गँवाये। मूल तत्व को न भूले।

खोटी खाटै खरा न लीया, कछु न जानी साटि।
कहै कबीर कछू बनिज न कीयो, आयो थो इहि हाटि ।। 14 केदारो

चोखो बनज व्योपार करीजै।
आइ नैं दिसावरि रे राम जपि लाही लीजै रे।
सकल दुनीं मैं लोभ पियारा।
मूल ज राखै रे सोई बणिजारा रे।
सायर तीर न वार न पारा।
कहि समझावै रे कबीर बणिजारा रे। 32 आसा०

यह संसार हाट करि जानूं। सब कोई बणिजणि आया।
चेति सकै तो चेतौ रे भाई। मूरिख मूल गँवाया। 33 आसा०

'रहना नहिं देस बिराना है। कबीर

गोरख— तत बणिजील्यौ तत बणिजील्यौ, ज्यूं मेरा मन पतियाई।

अच्छा बणिजारा वह है जो मूल (भगवान) को न भूले—पेट के धंधे में उसे न भूले। कर्म करे, कर्म किराना बेचकर भगवत्पथ पर चल दे। वाणिज्य में बिक्री करना है तो कर्म को बेचे, मूल की रक्षा करे। यह संसार दिसावर है—परघर है। परघर=परदेस=बिराना देस, दिसावर।

नान्हा काती चित्त दे, मँहगै मोल बिकाइ।
गाहक राजा राम है, और न नेड़े आइ ।। 58 ।। 268

भावार्थ : कबीर का बल मूल पर, कर्म पर, पवित्र आचरण पर है—वे सम्यक् कर्म के पक्षधर हैं। वे कहते हैं कातना है तो बारीक सूत कातें और पूरे मनोयोग से कातें। यह काती मँहगी बिकेगी, इसके चाहनेवाले राम हैं—राजा राम। उत्तम कर्म-धर्म का ग्राहक वही है और दूसरा नहीं।

कबीर का कथ्य है कि मनुष्य कूड़ा कर्मों में समय नष्ट न करे—उत्तम से उत्तम पारमार्थिक जीवन जिये। जो व्यक्ति जितना ही उत्तम काम करेगा वह उतना ही प्रिय दास होगा राम का। गुण का ग्राहक संसार नहीं, राम है। कर्म सर्वोत्तम करे फल भगवान पर छोड़ दे। दादू—

कंकर बंध्या गांठड़ी, हीरे के बेसास।

कबीर डागल उपरि दौडणा, सुख नींदड़ी न सोइ।
पुनैं पाये द्यौहड़े, ओछी ठौर न खोइ ॥ 59 ॥ 269

भावार्थ : कबीर कहते हैं बड़े पुण्य से वह देवघर (शरीर) मिला है। इसका उपयोग होना चाहिए। अनुचित कर्म नहीं किया जाना चाहिए। विषयों से दूर हो—सुख की नींद छोड़ें, गरीबी से रहें। जीवन पाना कठिन है—डागल (कंकड़-पत्थर) पर दौड़ना है।

द्यौहड़े < प्रा० देवहर, अवधी देहुरा, देहरा = देवघर मन्दिर। गोरख—'काया गढ़ भीतरि देव देहुरा कासी।' देवहर (उ० व्य० प्र०)

देव—द्यौहरे की देवी सी। 605 सुख सागर तरंग।

ओछा < प्रा० उच्छ = नीच।

कबीर मैं मैं बड़ी बलाइ है, सकै तौ निकसो भागि।
कब लग राखौं हे सखी, रुई पलेटी आगि ॥ 60 ॥ 270

भावार्थ : कबीर कहते हैं मैं-मेरा का भाव अथवा अहंकार बड़ी बला (मुसीबत) है। इस मैं के कारण ही राम नहीं मिलते जिस प्रकार आग से लिपटी रुई को भस्म होने से कोई रोक नहीं सकता—वह क्षणभर में विनाश कर सकती है उसी प्रकार मैं से युक्त मानव कभी भी आध्यात्मिक दृष्टि से विनष्ट हो सकता है। अत: 'मैं' से बचे।

बला (अरबी) = संकट, विपत्ति। रुई < प्रा० रूअ (रुई < रोम, शब्दसागर)

कबीर मैं मैं मेरी जिनि करै, मेरी मूल बिनास।
मेरी पग का पैंखड़ा, मेरी गल की पास ॥ 61 ॥ 271

भावार्थ : मैं-मैं, मेरी मेरी (मेरापन, अहंभाव) मूलधर्म (भगवद्भक्ति) का विरोधी है। 'मैं' आग है जो सद्विचारों को विनष्ट कर देती है। आध्यात्मिक दृष्टि से 'मैं' पैर की बेड़ी अथवा गले की फांसी है। अर्थात् 'मैं' (भेद) का बन्धन तोड़ने पर ही आत्मसाक्षात्कार सम्भव है।

जिनि = जिन = जनि (सू० सा०) = जणि (उ० व्य० प्र०) = मत, नहीं। तु० सं० निर् प्रा० णि।

भारतीय संस्कृति में 'मूल' अध्यात्म है, परमार्थ है; स्वार्थ या संसार नहीं।
सूर—देखि के नारि मोहित जो होवै। आपनो मूल या विधि सो खोवै। 8/11

कबीर नाव जरजरी, कूड़े खेवणहार।
हलके हलके तिरि गये, बूड़े जिन सिरि भार ॥ 62 ॥ 272

भावार्थ : कबीरदास कहते हैं भव पार होने के लिए हरिनाम की नाव चाहिए। शास्त्र ज्ञान, कर्मकांड का भरोसा नहीं वह तो जर्जर (टूटा-फूटा) है। उससे पार जाने की संभावना ही नहीं। खेवणहार यदि परमात्मा, संतसंग अथवा गुरु है तभी नाव पार लगेगी। कूड़े

है ? पार वही जायगा जिसके सिर पर अहंकार-अनास्था आदि का बोझ न हो। जो अनासक्त है, आत्माराम है, सत्संगी वही हलका है और वही पार हो सकेगा। नाव ठीक हो और खेवट भी ठीक हो तभी नाव पार लगेगी। सतगुरु के ज्ञान-दीपक से ही मनुष्य हलका होता है अन्यथा वह माया-तृष्णा, 'मैं' के बोझ से भारी रहता है।

नाव शरीर को भी कह सकते हैं यथा, सूर—'भवसागर बोहित वपु मेरो।' 1.213 पर उक्त साखी में नाव हरिभगति, हरि रस, रस भाव, सत्संग है। खेवणहार राम, सतगुरु हो तो हरि-प्रेम पार करेगा। ही वादविवादी, बकवादी, तार्किक, शाक्त कूड़े खेवणहार से नाव नहीं पार होगी।

कबीर— विष तजि राम जपसि अभागे। का बूड़े लालच के लागे।
ते सब तिरे राम रस स्वादी। कहै कबीर बूड़े बकवादी ।। 2 ललित
'कूड़ बड़ाई बूड़सी, भारी पड़िसी काल्हि।' 12.52
'इतथैं सबै पठाइयै, भार लदाइ लदाइ ।।' 14.2
'भाव भगति हित बोहिथा. सतगुरु खेवणहार।' रमैणी
'को बोहिथ को खेवट आही। जिहि तरिय सो लीजै चाही।'
'भेरा देखा जरजरा, तब ऊतरि पड़या फरकि। 1.25

चरनदास— गुरु सिष दोऊ एक से, एकै व्यवहारा हो।
गए भरोसे डूबि कै, वै नरक मझारा हो ।।
सुक देव कहैं चरनदास सूं, इनका मत कूरा हो।
ज्ञान मुक्ति जब पाइयें, मिलै सतगुरु पूरा हो ।।

दादू— दादू संसार बिचारा जात है बहिया लहर तरंग।
भेरे बैठा ऊबरै, सति साधौं के संग ।।

खेवणहार—तु० बरणिहार, पठणिहार (उ० व्य० प्र०)

कबीर की भाषा व्यंजना प्रधान और परिपुष्ट है। 'हलके-हलके तिरि गये' से सहज रहनि एवं सहज करनी की और 'बूड़े तिन सिरि भार' से सम्पत्तिशाली, अहंकारी की व्यंजना है।

सूर— 'नाव रसभाव हरि, नहीं आनै।' 10.1019

लेखक की कृति

वैष्णव कबीर : रहस्यवाद-मानवतावाद

विषय-क्रम

13. मन कौ अंग

कबीर मन के मतै न चालिये, छाड़ि जीव की बांणि ।
ताकू केरे सूत ज्यूं, उलटि अपूठा आंणि ।। 1 ।। 273

भावार्थ : कबीर कहते हैं हमारे शरीर के भीतर एक मन है दूसरा जीव = आत्मा । साधक-भक्त को मन के मत अथवा मन के अनुकूल नहीं चलना चाहिए क्योंकि मन चंचल है वह इन्द्रियों को विषयों की ओर ले जाता है । मन का स्वभाव आत्मा का विरोधी है; आत्मा की बान है स्थिरता, शांति । मन बहिर्मुखी है और आत्मा अंतर्मुखी ।

मन जब ईश्वर-चिंतन अथवा परमार्थ से भागने लगे तो उसे फिर पलट कर आत्मा की ओर ले आवे । यह उलटी प्रक्रिया अथवा 'उलटि सामने' की क्रिया सतत समाधि अथवा उन्मनी के लिए अपेक्षित है । इस तत्व को, समझाने के लिए कबीर जुलाहे के व्यवसाय से एक सादृश्य देते हैं—तकुए से सूत को उतारने के लिए उसे बिना टूटे उल्टे घुमाना पड़ता है । इसी प्रकार मन को अध्यात्म-पथ पर अखंडित 'सहज की डोरी' से ले चलना चाहिए ।

विवृति : **मत** < मन् = सोचना समझना । **बाणि** = बान < **वर्ण** = रंग, चमक; स्वभाव । **ताकू** < **तर्कु** = सूत कातने का यंत्र । **अपूठा** < अप्पुट्ठ, < अस्पृष्ट = बिना छुवा, शुद्ध । मराठी अपूट = बिना टूटा ।

सूर— निकट रहत पुनि दूरि बतावत, हो रस माहँ **अपूठे** । 10.3891
'रावन हति ले चलौं साथ ही, लंका धरौं **अपूठी** ।' 9.87

['मानक हिंदी कोश' में **अपूठा** को सं० आ + पृष्ठ से संबंधित बताया गया है ।]

'कबीर केती लहरि समद की, कत उपजै कत जाइ ।
बलिहारी ता दास की **उलटी** मांहि समाइ ।। 28.11

गोरख—दसवें द्वार निरंजन उनमन बासा सबदै **उलटि समाना** ।

कबीर चिंता चित्त निवारिये, फिर बूझिये न कोइ ।
इंद्री पसर मिटाइये, सहजि मिलैगा सोइ ।। 2 ।। 274

भावार्थ : कबीर चिंता (मन) के विरोध (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः) अथवा इन्द्रियों के प्रसरण—बहिर्मुखी वृत्ति—के विरोध में साधक को खड़े होने को प्रेरित कर रहे हैं । इन्द्रियों द्वारा जो कार्य किया जाता है उसका मूल मन-चित्त है । इन्द्रियार्थ (रूप,

शब्द, रस, गंध, स्पर्श) से इन्द्रियों का निवारण कर जब मन को उलट कर सुरति से आत्मा में केन्द्रित किया जायगा तब सहज समाधि लगेगी और निरंजन मिलेगा—उसका प्रकाश प्राप्त होगा। अध्यात्म-आत्मानुभूति का यही मार्ग है। पातंजलि योग-सूत्र है: 'प्रसरति मनः कार्यारंभे।' प्रसर, प्रसरण (प्रसृ=आगे बढ़ना, फैलना) के निरोध से मन धंधे में न फँसेगा, चिंता न करेगा।

चिंता < चिन्‌ = मन्‌। बूझना < बुध्‌ (बुध्यते)। पसर < प्रसर। (टीकाकारों ने पसर को प्रसार से सम्बन्धित बताया है)।

दादू— जब लग यह मन थिर नहीं, तब लग परस न होइ।
दादू मनवां थिर भया, सहजि मिलैगा सोइ॥
क्यूं करि उलटा आणिए, पसरि गया मन फेरि।
दादू डोरी सहज की, यौं आणैं घरि घेरि॥

'इंद्री पसर मिटाइये' का आशय इन्द्रिय-वध (इनसेंसबिलिटी) नहीं इसका आशय है इन्द्रिय-सुख से उदासीन। 'सेंसबिलिटी' नष्ट करने पर तो सद्‌गुणों की बात समाप्त हो जाती है। कबीर दया-दान-सत्संग की महिमा कहते अघाते नहीं। गोरख के शब्दों में 'जोग का मूल है दयादान, भणत गोरखनाथ ये ब्रह्म ग्यांन'। अतः 'चिंता चित्त निवारिये' का आशय है विनाशकारी-नकारात्मक भावों से दूर रहना।

कबीर आसा का इंधन करौं, मनसा करौं विभूति।
जोगी फेरी फिल करौं यौं बिन नांवै सूति॥ 3 ॥ 275

भावार्थ: कबीर दृढ़ निश्चय के साथ अपने मनोरथ, अपनी इच्छा के बंधन को समाप्त करने की बात कर रहे हैं—आसा (आशा), मनसा (मन की इच्छा) को जला डालूं तभी आवागमन का फेरा (फिर-फिर आना) फिल = नष्ट होगा और नामरूपहीन सूति (स्वपिति = समाधि) प्राप्त होगी। मनस्यति = सोचता है।

करम फिरावै जीव कौं, करमौं कौं करतार। दादू

[डॉ० गुप्त ने दूसरी पंक्ति का अर्थ किया है, 'योगी की अपनी फेरी को विनष्ट कर डालूं इस प्रकार से बिना नाम की (नाम रूपहीन मुक्तावस्था को) प्रसूति की स्थिति प्राप्त कर लूं।

'क० बा०' में व्याख्या है,—जोगी के समान चक्कर लगाने वाले इस मन को नष्ट कर दूं। इस प्रकार से मैं बस जीवन सूत्र को बीनूं। तभी प्रभु से मिलन होगा।]

सूति < स्वपिति (स्वप्) ध्यानावस्थित होना।

पंच संगी पीव पीव करै, छठा जु सुमिरै मन।
आई सूति कबीर की, पाया राम रतन॥ 2.7

फेरी = फिर-फिर—

कबीर तूं तूं करता तूं भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं ॥ 2.9

कबीर सेरी सांकड़ी, चंचल मनवां चोर।
गुण गावै लै लीन होइ, कछू एक मन में और ॥ 4 ॥ 276

भावार्थ : कबीर कहते हैं भक्ति तत्व का मार्ग संकरा है। दुःख यह है कि उस संकरे मार्ग में भी चोर सदृश मन चंचलता से प्रवेश कर जाता है। इसका विश्वास नहीं। भक्त भगवान के गुणगान में लीन है पर अकस्मात् चंचलमन विक्षेप कर बैठता है—भक्त को बहका देता है। मन ही बंधन मन ही मोक्ष है।

सेरी < सरणि,-णी = मार्ग, द्वार।

जेहि सेरी साधू नीकले, सो तौ मेल्ही मूंदि। 24.15 कबीर

सांकड़ी, सांकड़, सांकर < सं. संकट प्रा. संकड, संकडिअ = तंग।

कबीर भगति दुबारा संकुड़ा राई दसबें भाइ। 13.26

'दादू अनहद कैसे कहिए भगतितत यहु मारग संकरा।'

[डॉ० गुप्त ने 'कबीर सेरी सांकड़ी' की व्याख्या की है 'विषयों की गली सांकरी है।' 'क० वा०' में 'सेरी' को फारसी बताया है पर फा० सेर का अर्थ तृप्त है।]

चोर < सं. चोर (चोरयति)

दादू जीवै पलक में, मरता कलप बिहाइ।
दादू यह मन तसकरा, जिनि कोई पतियाइ ॥

शंकराचार्य, 'काम क्रोधश्च लोभश्च देहे तिष्ठन्ति तस्कराः।'

कबीर मारौं मन कूं, टूक टूक ह्वै जाइ।
विष की क्यारी बोइ करि, लुणत कहा पछिताइ ॥ 5 ॥ 277

भावार्थ : कबीर कहते हैं यह चंचल मन ही सारे विषय-विकारों का मूल है। मन माया में फंसकर हमें पथ-भ्रष्ट करता है। मन के अनुसार चलने का आशय है विष की क्यारी बोना अथवा विषयों को बढ़ावा देना। विषय-रस का फल है आध्यात्मिक विनाश, राम-रस अथवा मूल (आतमा) का नाश। विष का बीज विष ही उत्पन्न करेगा। अतः विष के मूल मन को मारना ही श्रेयस्कर है।

लुणत < लू = काटना। लुनना, लवनी।

कबीर इस मन को बिसमिल करौं, दीठा करौं अदीठ।
जो सिर राखौं आपणां, तौपर सिरि जलौ अंगीठ ॥ 6 ॥ 278

भावार्थ : कबीर कहते है इस मन को टूक-टूक कर दूँ, दृष्ट (जगत) को अनदेखा कर दूँ— जगत से उदास हो जाऊँ। यदि ऐसा नहीं किया अर्थात् यदि सिर को सौंपा नहीं भगवान के चरणों में और उसकी रक्षा के चक्कर में पड़ गये तो माया की झाल (अग्नि) से बच न सकूंगा यह मेरा सर्वनाश कर देगी।

बिसमल < फा० बिसमिल = क्षत, घायल ।

'बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, ओर न दूजा कोई ।' 58 गौड़ी
'दादू गला गुसे का काटिये, मीयां मनी कूं मारि ।
पंचों बिसमिल कीजिए, ये सब जीव उबारि ।।
'कबीर दूरि भया तौ का भया सिर दे नेड़ा होइ ।'
जब लग सिर सौंपे नहीं, कारिज सिधि न होइ ।। 45.18
दादू माथा फोड़ नैन द्वै, राम न सूझै काल ।
साध पुकारै मेरु चढ़ि, देखि अगनि की झाल ।।
'आपा अगनि जु आप मैं, अहनिसि जरै सरीरा ।' दादू

[डॉ० गुप्त, "इस मन को बिसमिल और दृष्ट जगत को अदृष्ट करना चाहता हूँ, यदि मैं अपने सिर की रक्षा करूँ तो भी हो न हो सिर अंगीठी में जल जाएगा ।" 'कबीर वाङ्मय'—मैं अशुद्ध मन को सर्वरूपेण इस प्रकार आहत कर दूँ कि अदृष्ट परमात्मा की अनुभूति होने लग जाय अथवा जो इन्द्रिय मार्ग द्वारा मन की विषयभोग की ओर दौड़ लगाने की प्रवृत्ति है, वह सर्वरूपेण प्रत्यावर्तित हो जाय । यदि मैं अपना सिर रखूं अर्थात् मैं आपापन को पूर्णरूप से न्यौछावर न कर दूँ तो फिर मेरे सिर पर अंगीठी पड़े अर्थात् मेरे ऊपर अंगारे दहकाए जाँय ।"]

कबीर मन जाणैं सब बात, जाणत ही औगुण करै ।
काहे की कुसलात, कर दीपक कूवैं पड़ै ।। 7 ।। 279

भावार्थ : कबीर कहते हैं मन दुर्गुण-सद्गुण सब पहचानता है । वह स्वतंत्र है बुराई या अच्छाई की ओर जाने के लिए पर उसकी प्रवृत्ति नीचे की ओर ढरने की होती है—वह मूल आत्मा की ओर न चलकर संसार की ओर मुड़ता है । ऐसी स्थिति में कहाँ है अपना कुशल-भला । मन की दशा उस व्यक्ति की सी है जो हाथ में प्रकाश लेकर भी अंधकूप में गिरे—

विष अमृत एकै करि लीन्हा । जिन चीन्हां सुख तिहकूं हरि दीन्हा ।।
सुख दुख जिनि चीन्हां नहीं जाना । ग्रासे काल सोग रुति मानां ।।
होइ पतंग दीपक मैं परई । झूठै स्वादि लागि जीव जरई ।।
करि गहि दीपक परहि जु कूपा । यह अचिरज हम देखि अनूपा ।। रमैणी

दादू— हिरदै राम न आवही, आवै विषै विकारा ।
हरि मारग सूझै नहीं, कूपि परत नहीं बारा ।।

कबीर हिरदा भीतरि आरसी, मुख देखणा न जाइ ।
मुख तौ परि परि देखिये, जे मन की दुबिधा जाइ ।। 8 ।। 280

भावार्थ : कबीर कहते हैं अपना मन निर्मल हो तो वही दर्पण है । उस दर्पण में बार-बार अपने को देखें, पहचाने । पर यह संशय-भ्रम दूर होने पर ही संभव है । हरि

कबीर— कबीर दुबिधा दूरि करि, एक अंग ह्वै लागि।
बहु सीतल बहु तपति है, दोऊ कहिये आगि ।। 2.31

दादू— मन ही मंजन कीजिए, दादू दरपन देह।
माहैं मूरति देखिए, इहि औसरि करि लेह ।।

कबीर मन दीया मन पाइए, मन बिन मन नहीं होइ।
मन उनमन उस अंड ज्यूं, अनल अकासां जोइ ।। 9 ।। 281

भावार्थ : कबीर का कथ्य है मन ही मनुष्य का बंधन और मन ही मनुष्य का मोक्ष—मन को भगवान् को समर्पित कर दिया तब मन (आत्मा) मिला। बिना मन दिए उन्मन अवस्था संभव नहीं। जब मन संसार से उलटकर उनमन (समाधिस्थ) होता है तब वह निराधार होने से अनल पक्षी के सदृश है जो अंतरिक्ष—न धरती और न आकाश—में अंडा देती है।

सं० अनल = आत्मा।

कबीर अनल अकासां घर किया, मधि निरंतर बास।
बसुधा ब्योम बिगता रहै, बिन ठाहर बिन बास ।। 31.3

दादू— अनल पंखि आकास कूं, माया मेर (मेरु) उलंघि।
दादू उलटै पंथ चढ़ि, जाइ बिलंबै अंगि ।।

दादू स्वांगी सब संसार है, सात समंदा पार।
अनल पंखि कहां पाईए, पंखी कोटि हजार ।।

अनल पंखि परे पर दूरि, ऐसो राम रह्यौ भरपूरि ।।

इब मन मेरा ऐसे भई, दादू कहिबा कहया न जाई ।।

मन ही सों मन थिर भया मन ही सों मन लाइ।
मन ही सों मन मिलि रह्या, दादू अनत न जाइ ।।

[डा० गुप्त ने 'अनल' को कुकनूस = ककनू पक्षी माना है पर अनल भिन्न कल्पित पक्षी है। कोश के अनुसार अनल पक्ष आकाश में ही रहती है और वहीं अंडा देती है। योगी का मन निराधार-निरपख होने पर शून्य (मध्य) में स्थित होता है, इसीलिए उसका सादृश्य अनल पंखि से है। द्रष्टव्य, 'मधि कौ अंग']

कबीर मन गोरख गोब्यंदौ, मन ही औघड़ होइ।
जो मन राखै जतन करि, तौ आपै करता सोइ ।। 10 ।। 282

भावार्थ : कबीर कहते हैं मन की गति ऊर्ध्व और निम्न दोनों है। उच्च भावनाओं अथवा भगवद् भक्ति से यह गोरख जैसा सिद्ध है और दिव्य गोबिंद है—इन्द्रियों का स्वामी है। पर यही मन आचारहीन शाक्त (औघड़) भी हो सकता है। औघड़ से अभिप्राय

यदि मन को वश में रखे, इसे जोग-जुगुति से अपने अधीन रखे तो यही मन आत्मा, करतार, ईश्वर हो जाय।

'औघड़' मन की असंयत अधोगामिनी वृत्तियों का सूचक है। [टीकाकारों ने औघड़ का अर्थ द्वन्द्व से परे किया है।]

कबीर सतगुर मिल्या त का भया, जे मनि पाड़ी भोल।
पासि बिनठा कप्पड़ा, क्या करे बिचारी चोल ।। 1.24

दादू— यह मन पंगुल पंच दिन सब काहू का होइ।
दादू उतरि अकास तैं, धरती आया सोइ ।।

कबीर एक दोस्त हम किया, जिस गलि लाल कबाइ।
सब जग धोबी धोइ मरै, तौ भी रंग न जाइ ।। 11 ।। 283

भावार्थ : कबीर अपनी भगवद्भक्ति अपने रंगराता होने की बात एक सादृश्य से व्यक्त करते हैं—हमने मन से मित्रता करके उसको ऐसे पक्के लाल रंग में रंग दिया है जैसे—मजीठ में रंगा—क़बा = चोगा। हमारी प्रेम-प्रीति का रंग पक्का है। अर्थात हमारा मन भक्ति में इतना दृढ़ है कि मुझको इस रंग से कोई अलग नहीं कर सकता, ईश्वर प्रेम से विमुख नहीं कर सकता। धोबी रँग छुड़ाता है पर ईश्वर में रंगे व्यक्ति का रंग कोई नहीं छुड़ा सकता।

दादू— हीरा मन परि राषिए, तब दूजा चढ़े न रंग।
जब मन लागा राम सौं, तब दादू एकै अंग ।।

[डा० गुप्त ने दोस्त ईश्वर को माना है। पर प्रसंग मन का है।]

पानी हूँ तैं पातरा, धूंवां हू ते झीन।
पवनां बेगि उतावला, सो दोस्त कबीरै कीन ।। 12 ।। 284

भावार्थ : मन को वश में कर ले—उसे अपने अनुकूल चलने के लिए मित्र बना ले तो सारी समस्या हल। कबीर कहते हैं यह मन पानी से भी पतला, धूंवां से भी झीना, पवन से भी वेगवान् पर अब वह मेरे बश में दोस्त सदृश हैं—मैं जैसा चाहूँगा वही वह करेगा, मुझसे प्रतिकूल नहीं चलेगा।

कबीर तुरी पलाणियाँ चाबक लीया हाथि।
दिवस थकां सांईं मिलौं, पीछै पड़िहै राति ।। 13 ।। 285

भावार्थ : कबीर कहते हैं पवन के घोड़े पर सहज की जीन कसकर, और चित्त (ज्ञान) चाबुक को हाथ में लेकर प्रयाण कर चुका हूँ। मैं दिन रहते-रहते प्रियतम से मिलूंगा क्योंकि रात में यात्रा संभव नहीं।

कबीर चित्त चमंकिया कीया पयानां दूरि।
काइथ कागद काढ़िया, तब दरगह लेखा पूरि ।।

तुरी < तुरग। पलाण < पर्याण, पल्याण = घोड़े की जीन, ऊंट की काठी,।

कबीर हरि रस यूं पीया, बाकी रही न थाकि । 6.1

गोरख— सहज पलाण पवन करि घोड़ा, लै लगाम चित चबुका ।
चेतनि असवार ग्यांन गुरु करि, और तजौ सब ढबका ॥

कबीर मनवां तौ अधर बस्या, बहुतक झीणां होइ ।
आलोकत सचु पाइया, कबहुँ न न्यारा सोइ ॥ 14 ॥ 286

भावार्थ : कबीर ब्रह्मानंद की बात करते हैं—सूक्ष्म मन संसार से दूर अधर=अंतरिक्ष में अनल पंखि की तरह निवास कर रहा है । वह उस ब्रह्म का साक्षात्कार करता हुआ सुखी हो रहा है—उससे कभी अलग नहीं, वह उस ब्रह्म में समा गया है । तु०

पेलै सीस उतारि करि, अधर येक सौं जाइ ।
दादू पावै प्रेम रस, सुष मैं रहै समाइ ॥

अधर=अंतरिक्ष, शून्य=ब्रह्मरंध्र ।
झीणा<प्रा० क्षीण=पतला ।
न्यारा<प्रा० णिआगिआ=घास निराना ।

[डॉ० गुप्त की व्याख्या है, "मेरा मन तो बहुत क्षीण (सूक्ष्म) होकर अधस् (इन्द्रियों और उनके विषयों में निवास कर रहा है, उसी (अध: प्रदेश) का अवलोकन करते हुए वह सचु (सुख) पाता है और उससे कभी न्यारा (अलग) नहीं होता है ।"]

['कबीर वा०' में 'अवलोकत' पाठ के स्थान पर 'अमरलोक' है ।]

कबीर मन न मार्‌या, मन करि सके न पंच प्रहारि ।
सील सांच सरधा नहीं, इन्द्री अजहुँ उघारि ॥ 15 ॥ 287

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि हम मन वश में न कर सके, हमारी पंच ज्ञानेन्द्रियाँ हमारे वश में अभी तक नहीं है—हम उन्हें अनुशासन में नहीं रख सके हैं । वे आज भी पूरी छूट के साथ हैं । हमारे आचरण में न शील है, न सत्य के प्रति आस्था है और न ईश्वर के प्रति श्रद्धा है ऐसी स्थिति में मन मरा कहाँ ? अभी भी समय है कि इन इन्द्रियों से अपना उद्धार कर लें, अपने को उबार लें ताकि जीव मोक्ष प्राप्त कर सके ।

दादू— दादू गला गुसे का काटिए मीयां मनी कूं मारि ।
पंचौं बिसमिल कीजिए ये सब जीव उबारि ॥

[डॉ० गुप्त ने 'उघारि' का अर्थ 'उघड़ी हुई' किया है । 'क० वा०' में उघारि ='खुली हुई' अर्थ किया गया है ।]

कबीर मन बिकरै पड़ा, गया स्वादि के साथि ।
गलका खाया बरजतां, अब क्यौं आवै हाथि ॥ 16 ॥ 288

भावार्थ : कबीर मन को मीन सदृश मानकर कहते हैं कि वह विकारग्रस्त हो स्वाद के चक्कर में बंसी (मछली फँसाने का कांटा) खा जाता है । मना करने पर भी यह विषय

गलका = गलक < प्रा० गलअ = वडिश, बंसी ।

‘स्वादि पतंग न सूझै आगि ।’

दादू स्वादि लागि संसार सब देषत परलै जाइ ।
इन्द्री स्वारथ साच तजि, सबै बंधाने जाइ ।।

[डॉ० गुप्त ने ‘बिकरै’ का अर्थ विक्रय किया है । ‘क० वा०’ में गलका = गले तक ।]

कबीर मन गाफिल भया, सुमिरण लागै नाहिं ।
घणी सहैगा सांसना, जम की दरगह माहिं ।। 17 ।। 289

भावार्थ : कबीर कहते हैं यह मन बेपरवाह है । उस सिरजनहार को स्मरण करने में लापरवाह है । फलतः मृत्यु के बाद यमराज के दरबार में इस जीव की बड़ी सांसत होगी, इसे महान् कष्ट उठाना पड़ेगा ।

सांसना = सांसत = कष्ट (शास् = दण्ड देना) । सं० शास्ति, प्रा० सासइ हि० सांसना, सासना ।

सूर— प्रह्लाद भक्त को बहुत सासना जार् यौ ! 1.109

घणी < सं० घन = घना । मारवाड़ी, घणो = बहुत ।

दरिगह < फा० दरगाह = दरबार, राजसभा ।

कबीर चित्त चमकिया, कीया पयानां दूरि ।
काइथ कागद काढ़िया, तब दरिगह लेखा पूरि ।। 22.3

कोटि करम पल मैं करै, यहु मन त्रिषया स्वादि ।
सतगुरु सबद न मानई, जनम गंवाया बादि ।। 18 ।। 290

भावार्थ : मन की चंचलता के विषय में कबीर कहते हैं कि विषयरस के लिए यह अनगिनत कर्म करता है क्षण भर में । यह सतगुरु के दिए ज्ञान को मानकर अपने को स्थिर नहीं करता—धंधे से अपने को दूर नहीं रखता, आतमाराम की खोज में लीन नहीं होता । इस चंचल मन के कारण मनुष्य का जन्म अकारथ जाता है । तु०

दादू— झूठ साच करि जाना रे, इन्द्री स्वादि लुभाना रे ।

बाद, बादि = व्यर्थ । सूर—अब तू बकति बादि री माई । 10.2339 हम इतने दिन बादि पच्यौ 10.1139 जायसी—’बाएँ पूरि बादि दिन भूरै । 367 पद०

कबीर मैमंता मन मारि रे घट ही माहैं घेरि ।
जब ही चालै पीठि दे, अंकुस दे दे फेरि ।। 19 ।। 291

भावार्थ : कबीर कहते है यह मन मदमत्त हाथी सदृश है—इसका भरोसा नहीं किधर जाय । अतः, जब यह भगवान के प्रतिकूल चले—तुम्हारे आदर्शों को न माने अथवा तुम्हें पीठ दिखावै तब तुम अंकुश से मार-मार कर अथवा पीड़ा देकर इसे राम की ओर लौटाओ । इस मन को काया के भीतर ही [illegible]

फेरना = लौटाना (प्रा० फिरइ, फेरण) ('हिन्दी शब्द सागर' में इसे प्रेरणा से सम्बन्धित बताया है जो अशुद्ध है।)

पदमावत—कौन सी घरी करै पिउ फेरा। 357

चांदायन—दिए असीस फिराए बागा। 39

> कबीर मैमंता मन मारि रे, नांन्हा करि करि पीसि।
> तब सुख पावै सुंदरी, ब्रह्म झलकै सीसि॥ 20 ॥ 292

भावार्थ : कबीर अहंकारी मन को संयमित करने की बात बार-बार कहते हैं। मन स्थिर होगा, विषयों से विमुख होगा तभी ब्रह्म सुख मिलेगा। सुन्दरी (आत्मा)! ऐसी साधना के बाद ही शीर्ष स्थान में ब्रह्म का प्रकाश दिखेगा। सुंदरी = पतिव्रता।

झलकना < प्रा० झलझलंत = चमकता।

> कागद केरी नाव री, पांणी केरी गंग।
> कहै कबीर कैसे तिरौं, पंच कुसंगी संग॥ 21 ॥ 293

भावार्थ : कबीर भवसागर से पार होने के लिए—मोक्ष के लिए चिंतित व्यक्तियों को समझाते हुए कहते हैं—जल में कागद घुल जायगा। यह शरीर कागद की नाव सदृश है यह भवसागर में कहाँ पार हो सकती है? पंच इन्द्रियाँ इसके साथी हैं, ज्ञान इन्द्रियाँ ही परमार्थ से विषय की ओर ले जाती हैं। भवसागर पार होने का एक ही उपाय है ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाना।

> कबीर उहु मन कत गया, जो मन होता काल्हि।
> डूंगरि बूठा मेह ज्यूं, गया निवांणां चालि॥ 22 ॥ 294

भावार्थ : कबीर मन की अस्थिरता की ओर इंगित करते हुए कहते हैं कि इसका विश्वास नहीं, कुछ क्षण परमार्थ की ओर फिर स्वार्थ की ओर—कभी ईश्वर के साथ कभी 'मैं' के साथ। मेरे देखते-देखते जो मन कल दिव्य था वह आज पुनः नीचे की ओर बहते पानी सदृश दुर्बलताओं का शिकार है। यह मन पहाड़ी के मेघ सदृश है जिसका स्वभाव है नीचे की ओर बहना।

डूंगरि < आदि **निवांण** < निपान = जलाशय। **बूठा** < वृष्ट = बरसा हुआ।

> कबीर मृतक कूं धीजौ नहीं, मेरा मन बीहै।
> बाजै बाव बिकार की भी मूवा जीवै॥ 23 ॥ 295

भावार्थ : कबीर मन की अस्थिरता पर चिंतित हैं—मन का कोई विश्वास नहीं। वह मर गया लगता है लेकिन फिर बात बिकार से उत्पन्न भूत की तरह जी उठता है और कुमार्ग की ओर अग्रसर होता है।

बाजना = पहुँचना (व्रज् = जाना)

धीजना = विश्वास करना। सं० धीयायति = ध्यायति = सोचना, जानना।

> मन माया पापी हाथि करि बैठी गोपि छिपाइ।

बीहना = भीत (भयभीत) होना । भी = भय ।

दादू— 'यह मन बहु बकवाद सौं, बाइ भूत होइ जाइ ।'

दादू मूवा मन हम जीवत देख्या, जैसे मड़हटि भूत ।
मूवा पीछै उठि-उठि लागै, ऐसा मेरा पूत ।।

कबीर काटी कूटी मछली, छींकै धरी चहोड़ि ।
कोई एक अषिर मनि बस्या, दह मैं पड़ी बहोड़ि ।। 24 ।। 296

भावार्थ : कबीर मन-मीन के स्वभाव की बात करते हुए कहते हैं कि इस मन को कितना भी मारो कहीं भी टांग दो—ब्रह्मरंध्र में भी ले जाओ—पर यह अचानक वासना का शिकार हो जाता है । मीन की भाँति जल—माया—की ओर लौट पड़ता है । मन को विषय विचारों से मुक्त करना गुरुकृपा, गुरुज्ञान अथवा भगवत् कृपा से ही संभव है ।

कबीर सेरी सांकड़ी, चंचल मनवा चोर ।
गुण गावै लै लीन होइ, कछू एक मन मैं और ।। 13.4

छीका < शिक्या । दह < ह्रद ।

कबीर मन पंषी भया, बहुत चढ़्या अकास ।
उहां हीं तै गिरि पड़्या, मन माया के पास ।। 25 ।। 297

भावार्थ : कबीर मन के मूल स्वभाव—माया में लिप्त होना—के बारे में अनेक ढंग से स्पष्ट करते हैं—वह मीन है, वह पक्षी है । पक्षी ऊपर आकाश में उड़ता है लेकिन फिर धरती पर; वही दशा इस मन की है । इसे विषय-रस से हटाकर ब्रह्मरस में लीन करता हूँ पर यह चंचल मन फिर संसार की ओर उन्मुख हो जाता है और काम-क्रोध-लोभ मायाजन्य विकारों में फँस जाता है ।

कबीर भगति दुवारा संकुड़ा, राई दसवैं भाइ ।
मन तो मैगल ह्वै रह्या, क्यूं करि सकै समाइ ।। 26 ।। 298

भावार्थ : कबीर मन की अस्थिरता और उसकी मायासक्ति की बात बार-बार करते हैं मन-हाथी मदगल है, अहंकार (मैं, मेरा) के कारण मन भक्ति-द्वार में कैसे प्रवेश कर सकता है—यह द्वार तो राई के दसवें भाग सदृश संकीर्ण है । सहज समाना मैं-पर का भेद मिटने और पूर्ण समर्पण से ही संभव है । राम सामीप्य के लिए कुटिलता छोड़नी होगी ।

राई < राजिका । संकुड़ा < संकट = संकरा ।

कबीर करता था तौ क्यूं रह्या, अब करि क्यूं पछताइ ।

भावार्थ : कबीर मानसिक भावों का चित्रण करते हैं—यह मन अंकुश नहीं मानता इसको रोकता हूँ विषयों की लपट में भस्म होने से पर काम-क्रोध-लोभ के आवेग में यह अपनी हानि कर बैठता है—परमार्थ से बिछुड़ जाता है फिर जब चैतन्य की ओर उन्मुख होता है तब अपनी करनी पर पछताता है—इसे ग्लानि होती है पर करनी का फल तो भोगना ही होगा—बबूल बोकर आम तो नहीं मिलेगा। जैसी करनी वैसी भरनी।

कबीर काया देवल मन धजा, विषै लहरि फरहराइ।
मन चाल्या देवल चलै, ताका सरबस जाइ॥ 28 ॥ 300

भावार्थ : कबीर ने मन को मीन, चोर, पंछी सदृश बताकर उसकी चंचलताजन्य अविश्वसनीयता की बात बार-बार कही है। इस साखी में मन का सादृश्य शरीर रूपी मंदिर की ध्वजा से है। मन ध्वजा की भाँति चंचल है—विषयों से वह चलायमान है। विषयोन्मुख व्यक्ति का धर्म-परमार्थ विनष्ट समझना चाहिए।

देवल < प्रा० देउल, सं० देवकुल। (देवल का विकास 'देवालय' से नहीं है।)

कबीर मनह मनोरथि छाड़ि दे, तेरा किया न होइ।
पाणी मैं घीव नीकसै, तो रूषा खाइ न कोइ॥ 29 ॥ 301

भावार्थ : कबीर कहते हैं मन की इच्छाओं के वश कोई आध्यात्मिक सफलता संभव नहीं है। यदि विषयेच्छा से आत्म-दर्शन मिले तो कोई क्यों मन को वश में करे—अध्यात्म पथ पर चले। जिस प्रकार पानी मथने से घी नहीं मिल सकता वैसे ही इच्छाओं की पूर्ति से भक्ति संभव नहीं। यदि इच्छाओं की पूर्ति से आत्मज्ञान होता तो सभी ससारी ज्ञानी हो जाते—यदि पानी से घी निकलता तो रूखा-सूखा कोई न खाता। अतः मनोरथ को छोड़ना होगा।

कबीर काया कसौ कमाण ज्यूं, पंचतत्त्व करि बाण।
मारौ तो मन मृग कौं, नहीं तो मिथ्या जांण॥ 30 ॥ 302

भावार्थ : कबीर मन को पंछी, मीन सदृश चंचल बता चुके हैं यहां वे मन-मृग को मारने की बात कर रहे हैं—काया को धनुष सदृश और पंच तत्वों को बाण सदृश करना होगा तभी मनमृग बेधा जा सकेगा। अर्थात आत्मोद्धार अपने ही से संभव है—इसी काया, इसी शरीर और इसी पंचतत्व से। काया पंचतत्व की ही है, इन्द्रियाँ काया के भीतर हैं। मन मृग को मारने के लिए इन्द्रियों की विषयोन्मुख प्रवृत्ति रोकनी होगी। यदि यह न हो सका तो सारा श्रम, सारा ज्ञान झूठ है—

काया कठिन कमाण है, खैंचो बिरला कोइ।
मारे पांचो मृगला, दादू सूरा सोइ॥

14. सूषिम मारग कौ अंग

(परम पद प्राप्त करने की प्रक्रिया)

कबीर कौण देस कहां आइया, कहु क्यूं जांण्या जाइ ।
उहु मारग पावै नहीं, भूलि पड़े इस मांहि ॥ 1 ॥ 303

भावार्थ : कबीर की मान्यता है कि मनुष्य का मूल घर परमात्मा के पास है दुनियाँ में हम बणजारा की तरह अस्थायी हैं। उनका दर्शन है कि हमें यह जानना चाहिए कि हम किस देस (परम देस) से और कहाँ आ गए हैं। पर, इस ब्रह्म मार्ग—आत्मलीन होने का पंथ—का पता न हम लगाते हैं और न हम अज्ञानी उस प्रियतम के पंथ को पाते हैं। हम संसार—माया—में भूले पड़े हैं। अथवा इसी में रत हैं। **मारग, पंथ** संत साहित्य में विशिष्ट प्रयोग हैं।

कबीर जामण मरण विचारि करि, कूड़े काम निवारि ।
जिनि पंथौं तुझ चालणां, सोई पंथ सवारि ॥ 12.14

कबीर आया अणआया भया, जे बहु रता संसार ।
पड़्या भुलावा गाफिला, गए कुबुधी हारि ॥ 12.26

दादू— 'कौन देस कहाँ जाईये, कीजै कौन उपाइ ।'
'परम देस तहाँ जाईये, आतमलीन उपाइ ।'
'पंथीड़ा पंथ पिछाड़ी रे पीव का, गहि विरहे की बाट ।'

[डा० गुप्त ने 'कबीर कौण देस कहाँ आइया' का अर्थ किया है 'कौन से देस में और कहाँ मैं आ गया' पर, देस परम देस के आकूत में है ।]

कबीर उतथैं कोइ न आवई, जाकौं बूझौं धाइ ।
इतथैं सबै पठाइये, भार लदाइ लदाइ ॥ 2 ॥ 304

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि उस रहस्य देश—परमदेस—को कोई जानता नहीं, जिससे पूछो सब अज्ञानी। और वहाँ—परमधाम—से कोई जाकर लौटता भी नहीं। संसार से जो जाते हैं वे सब मैं-मेरा (माया) के बोझ से दबे जाते हैं—माया की गठरी का बोझ अंतिम क्षण तक छूटता नहीं।

कबीर नाव जरजरी कूड़े खेवणहार ।

तू है तेरा सब संसारा, मैं मैं मेरा तिनि सिरि भारा। दादू

[डॉ० गुप्त की दूसरी पंक्ति की व्याख्या है, "यहाँ से सभी को (कर्म-संस्कारों का) भार लदा-लदा कर भेजा जाता है।"]

कबीर सब कौं बूझत मैं फिरौं, रहण कहै नहीं कोइ।
प्रीति न जोड़ी राम सूं, रहण कहाँ थैं होइ ॥ 3 ॥ 305

भावार्थ : कबीर 'रहण' (रहणी) राम से एकमेक होने पर बल दे रहे हैं। कबीरदास कहते हैं कि सबसे 'रहणि' पूछता फिरता हूँ पर कोई अपनी रहणी की बात नहीं बताता। जब राम से प्रीति की ही नहीं तो राम के साथ रहनि की बात कहाँ संभव है। गोरख ने कहा है 'सहज सुंनि में रहनि हमारी।' संत साहित्य में 'रहनि' पारिभाषिक प्रयोग है 'सुन्नि सिखर गढ़' में 'घर छाना' 'रहणि' है।

दादू— दादू जीए तेल तिलन में, जिए गंध फूलनि।
जिए मषण षीर में, ईए रब रहनि ॥

रहणी राजस ऊपजे, करणी आपा होइ।
सब थैं दादू निरमला, सुमिरण लागा सोइ ॥

दादू करणी हिंदू तरक की अपणी अपणी ठौर।
दुहुँ बिच मारग साध का, यहु संतों की रह और ॥

तुलसी— कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें संत सुभाव गहौंगो ॥

रहनि < प्रा० रहइ, रहए, रहेइ = रहता है। रहनि = ईश्वर के साथ ऐक्य, अद्वैत भाव।

[डॉ० गुप्त का अर्थ है, "सब किसी से मैं मालूम करता फिरता हूँ किन्तु कोई भी यहाँ (स्थायी रूप से) रहने की बात नहीं कहता है; जब राम से प्रीति नहीं जोड़ी तब (शाश्वत रूप से) रहना कहाँ से (किस प्रकार) संभव हो ?]

'कबीर वाङ्मय'—"लोग प्रभु की ओर जाने की बात करते हैं किन्तु उनको यह पता नहीं है कि यह जाना सरल नहीं है। इस ओर जाने के लिए कोई खुला मार्ग नही है। वह मार्ग अत्यंत सूक्ष्म है और वहाँ पहुँचने पर भी स्थिर रहने का ठिकाना नहीं है, बड़े-बड़े साधकों के भी पैर फिसल जाते हैं।"

कबीर चलौं चलौं सब को कहै, मोहि अंदेसा और।
साहिब सूं परचा नहीं, ए जांहिगे किस ठौर ॥ 4 ॥ 306

भावार्थ : कबीर कहते है सभी उस प्रियतम परम पुरुष के पास उसके दरस-परस के लिए जाने को कहते हैं पर उन संसारी लोगों ने साहिब (प्रियतम) से कभी परिचय ही नहीं किया—उससे कभी प्रेम-प्रीति का नाता जोड़े ही नहीं। मुझे भय है—संदेह है—ये कहाँ जायेंगे।

परचा, परच्यौ < परिचय, प्रा० परिचा । 'परचा' संत साहित्य में पत्नी-पति के प्रेम का प्रतीक है। तथा संत यह भी मानते हैं वह प्रिय तो सर्वत्र हैं—अपने भीतर वही है। फिर उसके ठौर की खोज क्या !

जाइबे कूं जाइगह नहीं, रहिबे कौं नहिं ठौर ।
कहै कबीरा संत हौ, अविगति की गति और ।। 5 ।। 307

भावार्थ : कबीर उस अविगत (अव्यक्त-निरंकार) ब्रह्म के बारे में संतों से बताते हैं कि उसका कोई विशिष्ट ठौर (स्थान) नहीं—वह तो सर्वत्र है, सब में समाया है फूल में गंध की तरह। उसकी जगह बताना असंभव है। अतः, उस परम पद पर न जाने की बात है और न वहाँ ठहरने की। वहाँ तक पहुँचने का मार्ग भी सूक्ष्म है—यह नहीं कहा जा सकता कि यही मार्ग है उसे पाने का—सारे मार्ग चाहे वह हिंदू के हों चाहे तुरुक के वहीं पहुँचते हैं। अविगत काल-स्थान से मुक्त है।

[डॉ० गुप्त—जाने के लिए कोई जगह नहीं है और रहने के लिए कोई ठिकाना नहीं है—ऐ संतो, उस अव्यक्त की गति अपर (अन्य) ही है।]

कबीर मारिग कठिन है, कोई न सकई जाइ ।
गये ते बहुड़े नहीं, कुसल कहै को आइ ।। 6 ।। 308

जन कबीर का सिखरि घर, बाट सलैली सैल ।
पांव न टिकै पिपोलका, लोगन लादे बैल ।। 7 ।। 309

भावार्थ : कबीर ब्रह्ममार्ग की सूक्ष्मता, उसकी कठिनाई का वर्णन करते हुए कहते हैं—कि इस मार्ग की दुरूहता वही बता सकता है जिसने इस पर चल कर परम सत्य पाया हो। पर ब्रह्म से एकमेक हो जानेवाला उस परमधाम से लौटता ही नहीं; तो कौन बतावे उस सूक्ष्म और उस तक पहुँचने के पंथ को ?

कबीर पुनः इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं कि वह मारग अत्यंत संकरा है—चींटी का प्रवेश भी संभव नहीं है, उसकी भी गति नहीं। ऐसी स्थिति में जो कर्मों का बोझ उतार कर हलके नहीं हैं अथवा जो माया-मोह के बोझ से दबे हैं उनकी गति वहाँ कहाँ ! वह शिखर (पर्वतीय) मार्ग शल्य = कांटा से युक्त (कंटाकाकीर्ण) है। वह औघट घाट है। वह स्थान शिखर गढ़ अथवा शून्य महल है—वहाँ गुरु प्रसाद से ही पहुँचा जा सकता है। कबीर दास ने उस घर को पा लिया है। कबीर का कथ्य है कि उस पंथ के पथिक को सांसारिक भार = बोझ—मैं मेरा—छोड़ना होगा तभी कर्मों की समाप्ति होगी और तभी प्रियतम की प्रीति प्राप्त होगी। प्रिय अन्यत्र नहीं, इस घट (शरीर) में ही है—

कबीर घट माहैं औघट पाइया, औघट माहैं घाट ।

कबीर मोती नीरजै, सुन्नि सिखर गढ़ माहि। 5.8

[क० वा० में 'सलैली' का अर्थ रपटीला है—पर रपटीले रास्ते पर तो आदमी तेजी से आगे बढ़ता है—कबीर का सूक्ष्म मार्ग सुगम नहीं अगम है।]

कबीर जहां न चींटी चढ़ि सकै, राई नां ठहराइ।
मन पावन का गमि नहीं, तहां पहूँचे जाइ ॥ 8 ॥ 310

कबीर मारग अगम है, सब मुनिजन बैठे थाकि।
तहां कबीर चलि गया, गहि सतगुरु की साषि ॥ 9 ॥ 311

सुरनर थाके मुनिजनां, जहाँ न कोई जाइ।
मोटे भाग कबीर के, तहाँ रहे घर छाइ ॥ 10 ॥ 312

भावार्थ : कबीर अपने आत्मसाक्षात्कार की स्थिति के सम्बन्ध में आश्वस्त हैं—वे कहते हैं कि जहाँ मुनिजन नहीं पहुँचे, अपनी हार मान लिए वहाँ—उस शून्य स्थान को कबीर ने गुरु की साक्षी पर, पा लिया अर्थात् कबीर का घर उस परम ब्रह्म के पास है। कबीर इस दृष्टि से बड़ा भाग्यवान है। वह स्थान इतना सूक्ष्म है कि वहाँ राई (राजिका) के लिए भी जगह नहीं और न वहाँ सब से छोटा जंतु चींटी का प्रवेश है। मन-पवन की पहुँच से 'सुन्नि सिखर गढ़' बाहर है।

गोरख कहते हैं, 'सहज सुंनि मैं रहनि हमारी।' यही भाव कबीर का भी है।

रहे घर छाइ = रहना, बसना। 'घर छाना' मुहावरा है—'बिद्या अंपिर पंडिता, तहाँ रहे घर छाइ।' —दादू

थाकि < प्रा० थक्क (थक्कइ)।

गोरख— अनहद सबदै संप बुलाया काल महादल दलिया लो।
काया के अंतरि गगन मंडल मैं सहजै स्वामी मिलिया लो ॥

□□

15. सूषिम जनम कौ अंग

कबीर सूषिम सुरति का जीव न जाणै जाल।
कहै कबीरा दूरि करि आतम अदृष्टि काल ॥ 1 ॥ 313

भावार्थ : सुरति (लौ, ध्यान) ही सब कुछ है मनुष्य चाहे शरीर की सुरति करे चाहे भगवान की यह उसके अधीन है। जो शरीर की सुरति में लगा है वह आवागमन (बार-बार जन्म-मरण) से मुक्त नहीं हो सकता। कबीर सचेत करते हैं कि सुरति की महत्ता को समझ कर काल अदृष्ट से उबरे। जीव (आत्मा) शरीर की सुरति छोड़कर आत्मा की सुरति करे। तु०

दादू जिसकी सुरति जहां रहै, तिसका तहां विस्राम।
भावै माया मोह मैं, भावै आतम राम ॥

दादू जब नाहीं सुरति सरीर की बिसरै सब संसार।
आतम न जांणै आपको, तब येक हित निरधार ॥

[कबीर वाङ्मय में है—'सूक्ष्म आध्यात्मिक जन्म जो साधना के द्वारा होता है—साखियों में इसी जन्म का वर्णन है।' पर ये साखियाँ आवागमन से सम्बन्धित है।]

प्रान पिंड कौं तजि चले, मुवा कहै सब कोइ।
जीव अछत जामैं मरै, सूषिम लखै न कोइ ॥ 2 ॥ 314

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि सूक्ष्म (जीव) बार-बार जन्मता-मरता है। यह सभी देखते हैं। फिर भी लोग इस आवागमन के जाल से मुक्त होने का प्रयास नहीं करते, शरीर और संसार की सुरति (ध्यान) में लगे रहते हैं। आत्मा (सूक्ष्म) से सुरति लगाने की चेष्टा नहीं करते अथवा इस आवागमन के पीछे जो मूल सूक्ष्म अविनासी-अविगत आत्मा है उससे लौ नहीं लगाते जिससे आवागमन समाप्त हो। अथवा आवागमन का कारण मन की वासना है जो सूक्ष्म है—वह वासना ही अगले जन्म का कारण बनती है; इस सूक्ष्म वासना की ओर लोगों का ध्यान नहीं जाता—

जहाँ मन राचै जीवतां मरता तिस घरि जाइ।
दादू बासा प्राण का, जहाँ पहली रह्या समाइ ॥
जप तप करणी करि गए, सरगि पहूँचे जाइ।
दादू मन की वासना नरक पड़े फिरि आइ ॥

['क० वा०'—'सूक्ष्म मृत्यु को जिसमें प्राण रहते हुए व्यक्ति मृत हो जाता है कोई नहीं देख पाता। यह सूक्ष्म मृत्यु माया, वासना और निम्न प्रवृत्तियों का विनाश है।' पर यहां सूक्ष्म (जीव) के जन्म-मरण के रहस्य की चर्चा है।]

16 / माया कौ अंग

माया तृष्णा-आशा है, कनक-कामिनी के भोग की बलवती इच्छा है। मन में आशा रखना और संचय के पीछे राम को भूल जाना माया पापिणी का प्रभाव है। भोग भोगने से शांति नहीं। भोग से विमुख होकर राम के चरणों में प्रीति लगाना ही जीवन की सार्थकता है। शंकराचार्य ने ब्रह्म को सत्य, जगत् को मिथ्या (माया) कहा है। यह शक्तिरूपा ब्रह्म की सहवर्तिनी और उस पर सर्वथा अवलंबित है। कबीर कहते हैं—तू माया रघुनाथ की खेलण चढ़ी अहेड़ै। 34 रामकली

जग हटवाड़ा स्वाद ठग, माया बेसां लाइ।
राम चरन नीका गहो, जनि जा जनम ठगाइ ॥ 1 ॥ 315

भावार्थ : कबीर कहते हैं मनुष्य स्वाद (इन्द्रीस्वाद = इन्द्रियों द्वारा विषय-रस का भोग) के पीछे भागता है। स्वाद ठग है। स्वाद के पीछे दौड़ने वाला लुट जाता है—जीवन का परमार्थपक्ष विनष्ट हो जाता है। जिस प्रकार अनेकरूपा वेश्या भोगी को लुभाती रहती है उसी प्रकार माया मोहिनी। यह जगत् अनेक स्वादों का हाट है। 'जनम ठगाना' हो तो आसा के पीछे भागे। जग-माया से मुक्ति न कर्मकाण्ड से है और ज्ञान-ध्यान से। मुक्ति-छुटकारा का एक ही उपाय है राम चरन में परम प्रीति अर्थात् भक्ति।

विवृति : 'झूठ सांच करि जाना रे, इन्द्री स्वादि लुभाना रे।' कबीर
'दुख को सुख करि मानें रे, काल झाल नहि जाने रे।' दादू
'जग से ह्वै छत्तीस रह, राम चरन छः तीन।' तुलसी

भर्तृहरि ने नृपनीति को, उसके अनेकरूपा—कभी सत्य कभी झूठ, कभी प्रिय कभी परुष—होने के कारण, 'वेश्याङ्गनेव' कहा है।

नीक, नीका—प्रा० णिक्क = अच्छा। नीका गहौ = भलीभांति पकड़ो, दृढ़ता-पूर्वक राम के चरणों में आश्रय लो। ठग < स्थग, प्रा० ठग। पंजाबी ठग। हाट, हाटि < सं० हट्ट, प्रा० हट्ट, अप० हट्ट = बाजार, दूकान। संसार हाट है (साखी 12)। स्वाद = सं० स्वाद। हिन्दी सवाद, सुआद।

कबीर माया पापणी, फंद लै बैठी हाटि।
सब जग तौ फंदै पड़्या, गया कबीरा काटि ॥ 2 ॥ 316

भावार्थ : पापिनी माया ने इस हाट (संसार) में फंदा (जाल) बिछा रखा है मोह-लोभ-काम का। सारा संसार इसके मोह-पाश में फँसकर मूल आनंद—ईश्वर—को भूल जाता है। हाँ, कबीर ने रामचरण में प्रीति करके जग जीत (लोक विजय) लिया है : जग जीतै जाइ जुलाहा। 39 रामकली

विवृति : कबीर के अनुसार इस फंदे से राम का दास ही बच सकता है। पर, वह दास कौन है :

> जन कौ काम क्रोध ब्यापै नहीं, त्रिश्नां न जरावै।
> प्रफुलित आनंद मैं, गोब्यंद गुण गावै॥
>
> जन कौ पर निंद्या भावै नहीं, अरु असति न भाषै।
> काल कलपनां मेटि करि, चरन चित राखै॥
>
> जन समद्रिष्टी सीतल सदा, दुबिधा नहीं आनै।
> कहै कबीर ता दास सूं, मेरा मन मानै॥ 2 बिलावल

फंद (अरबी)=छल, धोखा, जाल। फंध (सा० 340)

> 'एक कनक अरु कामनी जग में दुइ फंदा।' 35 रामकली

> कबीर माया पापिणी, लालै लाया लोग।
> पूरी किनहूँ न भोगई, इनका इहै बिजोग॥ 3॥ 317

भावार्थ : कबीर कहते हैं तृष्णा भोग-लालसा का अंत नहीं। माया (धन-ऐश्वर्य-मान आदि) से किसी का मन भरा नहीं। जहाँ आसक्ति है वहीं दुःख है। भोग्य पदार्थ के वियोग में मनुष्य रोता है। अतः, माया से विपरीत होकर रहने में ही शांति है।

विवृति : भर्तृहरि ने भी तृष्णा-स्रोत को विभंग करने का आग्रह किया है। 'आचारांग के सूक्त' (भगवान महावीर की वाणी) में है : विषय-लोभी मनुष्य अपनी आत्मा के प्रति बैर बढ़ाता है, विषयों में अत्यंत श्रद्धा रखने वाला अमरवत् आचरण करता है। बाद में वह दुःखग्रस्त हो क्रन्दन करता है।''

लालै लाया लोग=माया का आकर्षण-भाव ही लालन है (संस्कृत लल् (ललति) प्यार करने के आशय में है। लल् का अर्थ आमोद-प्रमोद करना भी है। हिंदी ललन, लल्ला सं० लल् से ही विकसित हैं।) सं० लाल्य (लल्) से 'लालै' का सम्बन्ध है।

भोगना < भुज्=आनंद मनाना, मौज करना। भोग का वैदिक अर्थ आनन्द था, बाद में यह सम्पत्ति के आशय में भी प्रयुक्त होने लगा। 'पूरी किनहूँ न भोगई' का आशय है कि इच्छा अतृप्त ही रहती है—संसार का समस्त वैभव किसी ने नहीं

राम नाम निज सार है, माया लागि न खोइ ।
अंत कालि सिर पोटली, ले जात न देख्या कोइ ।। 34 सोरठि

कबीर माया पापणी, हरि सूं करै हराम ।
मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम ।। 4 ।। 118

भावार्थ : कबीर का कथन है कि माया कुमति का मूल है । मनुष्य को स्वार्थ-परमार्थ, भोग और त्याग में चुनना है—जहाँ माया का आकर्षण है वहाँ राम की—नैतिकता, लोक कल्याण की—उपेक्षा होगी ही । कुमति (दुष्ट बुद्धि) मनुष्य को राम-जन बनने में बाधा डालती है—वह मुख से राम-राम कहने नहीं देती । अर्थात् सत्य से वह दूर ले जाती है ।

विवृति : कुमति का प्रभाव है :

पर निंद्या पर धन पर दारा, पर अपवादै सूरा ।
तार्थे आवागवन होइ फुनि-फुनि ता पर संग न चूरा ।।

काम क्रोध माया मद मछर, ए संतति हम मांहीं ।
दया ध्रम ग्यांन गुर सेवा, ए प्रभु सुपिनै नाहीं ।। 37 रामकली

कड़ियाली=लगाम, रोक । **हराम** (अरबी)=छल, धोखा, अविश्वास । 'हरि सूं करै हराम'=हरि के साथ विश्वासघात करती है । अर्थात् लोगों को हरि की ओर जाने नहीं देती ।

कबीर जाणौं जे हरि कौं मिलौं, मो मन मोटी आस ।
हरि बिचि घालै अंतरा, माया बड़ा बिसास ।। 5 ।। 319

भावार्थ : कबीर कहते हैं हरि मिलें तब जानूँ अपनी भक्ति—मन में तो आस (आशा) का फंदा अभी भी है—धन की इच्छा, कामिनी से आसक्ति, मान की लालसा और तृष्णा । यह हमारे और हरिभगत में अंतर (भेद) डालती है । जहाँ आसक्ति है वहाँ राम कहाँ ? संसार से सुख की अपेक्षा करनेवाला हरिचरणों में क्यों समर्पित होगा ? माया भटकाती है मनुष्य को साधन-पथ से । जीव और परमात्मा में अंतर डालनेवाली माया बिसाखिनो (विश्वासघातिनी) है ।

विवृति : कबीर कहते हैं आशा के चक्कर में जग काम-मोह के फंदे में पड़ा है—'आसा जीवै जग मरै ।' 16.12 तथा, 'आस रही मन मांही ।' 5 सोरठि

गीता में आशा-पाश की बात सुस्पष्ट की गयी है :

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।

अर्थात्, सैकड़ों आशाओं के जाल में फँसे हुए कामी और क्रोधी विषय-भोग के लिए अन्यायपूर्वक धन संचय करते हैं। इस प्रकार आशा मूल है आसक्ति का।

[टीकाकारों ने अर्थ किया है, "मेरे मन में बड़ी आशा है कि उससे मिलन होगा" पर, यह संदर्भ के अनुकूल नहीं है।]

बिचि = बीच। विच् (अथर्व० विविच्यते) = चाल या पछोड़कर अलग करना।

अंतरा = अंतर = भीतर; प्रा० अंतर = (1) भीतर (2) दूरी, हिंदी आंतर। **घालै** = डालती है; घालै अंतरा = भेद डालती है। प्रा० घल्लइ, घल्लिअ = फेंकना। अप० घल्लिअ = डाला-फेंका हुआ। हिं० घालना = (1) फेंकना (2) गिराना (3) डालना नष्ट करना [कोशों में 'घाला' का सम्बन्ध 'घटन' से बताया गया है जो अशुद्ध है। प्रा० घल्लइ को डॉ० टर्नर घृ = बुंद बुंद चूना, से सम्बन्धित बताते हैं और *घल्यति = डालता है की कल्पना करते हैं। कुछ कोशों में 'घालना' को 'घालन' से सम्बन्धित बताया है पर सं० 'घालन' मेरी जानकारी में नहीं है। मराठी में 'दृष्टि घालणें' है। तुकाराम ने घालन = संकट प्रयोग किया है।

मोटी = भारी; सं० मूत = गठरी [कोशों में 'मोट' को 'मुष्ट' से व्युत्पन्न बताया गया है जो अशुद्ध है। प्रा० मोडइ = ऐंठना से भी 'मोट' विकसित नहीं है।]

कबीर माया मोहणी, मोहे जाण सुजांण।
भाग्या ही छूटै नहीं, भरि भरि मारै बाण ॥ 6 ॥ 320

भावार्थ : कबीर मोहिनी माया की प्रभविष्णुता के बारे में कहते हैं—यह ज्ञानी-सज्ञानी किसी को नहीं छोड़ती। यह अपनी पूरी शक्ति से, वश करने के लिए (तृष्णा-काम के) बाण चलाती है। संसार छोड़कर भागने से माया नहीं छूटती :

मुनिजन पीर दिगंबर मारे, जतन करंता जोगी।
जंगल महि के जंगम मारे, तू रे फिरै बलवंती ॥
बेद पढ़ता बाह्मण मारा, सेवा करंता स्वामी।
अरथ करंता मिसर पछाड़्या, तू रे फिरै मैमंती ॥ 34 रामकली

विवृति : **मोहणी** = मोहिनी < सं० मुह् (मोहयति)।

जाण < ज्ञान। **सुजांण** < प्रा० सजाण < सज्ञान (विलोम, अयांण = अजान < अज्ञान)।

सं० भज् = उड़ना, भज्यते > भाजइ "ओसां प्यास न भाजई।" साखी 2.21।
भाग्या = भागा। सं० भग्न > प्रा० भग्ग [illegible]

[हिंदी कोशों में भगना, भागना को भाज् (=बाँटना, वितरण करना) से सम्बन्धित बताया गया है। पर, मूल क्रिया भज् है।]

छूटं = छूटता = मुक्त होता। *पुरानी अवधी छूटइ, हिं० छूटना। प्रा० छुट्ट = मुक्त। डॉ० टर्नर प्रा० छुट्ट के लिए क्षुद् (क्षुद्यते) की कल्पना करते हैं।

भरि-भरि = पूरा-पूरा लेकर। भृ = धारण करना। भरित = भरा हुआ, पूरा।

मारे = मारता है। मृ = मरना। मारयति = मारता है अथर्व०। पुरानी अवधी, मारइ।

कबीर माया मोहगी, जैसी मीठी खांड।
सतगुरु की कृपा भई, नहीं तर करती भांड ॥ 7 ॥ 321

भावार्थ : कबीर कहते हैं माया मीठी खांड है—पहले बहुत अच्छी-लुभावनी लगती है। पर अंत घातक है। सतगुरु की कृपा से उबर गया नहीं तो यह मुझे वेश्या का भांड़ बना देती। अर्थात् पूर्णतः अपने वश में कर लेती।

भई < भवति = भवा, भइल।
खांड < खण्ड।

कबीर माया मोहणी, सब जग घाल्या घाणि।
कोई एक जन ऊबरै, जिनि तोड़ी कुल की काणि ॥ 8 ॥ 322

भावार्थ : कबीर माया के विस्तार, उसके दुष्प्रभाव का अंकन करते हुए कुल (वंश)-अभिमान को भी उसके अन्दर लेते हैं। कुलासक्ति (मैं-मेरा) अहंकार है। इससे उबरने पर ही ईश्वर के प्रति लौ लगेगी। इस माया—मोर तोर की जेवड़ी—ने सारे जग को अपने वश में कर रखा है। जिस प्रकार घानी (कोल्हू) में तेल पेरा जाता है उसी प्रकार माया अपनी घाणि में डालकर संसार को पीड़ित कर रही है। कोई हरिदास ही इससे बच पाता है।

विवृति : डॉ० वासुदेव सिंह ने 'कुल की काणि' का अर्थ किया है 'लौकिक परम्पराओं और मर्यादाओं के बन्धन को तोड़कर'। पर, 'कुल' सं० कुल = वंश के आशय में है। मध्यकाल में 'कुलीन' (ब्राह्मण) का महत्व बहुत बढ़ा-चढ़ा था। कुलीनवाद (= पारिवारिक श्रेष्ठता का सिद्धान्त) ने समाज में जड़ जमा ली थी (द्रष्टव्य, हिंदू धर्मशास्त्र, राजबली पाण्डेय)। कबीर का कहना है राम 'निकुल' हैं—उनका कोई वंश नहीं—ईश्वर भक्त का भी कुल नहीं। इसलिए अपना कुल मिटाकर उस निकुल में समा जायें :

कुल खोये कुल ऊबरै कुल राखे कुल जाइ।
राम निकुल कुल भेंटि लै, सब कुल रह्या समाइ। 255

डॉ० सिंह ने 'कुल' के अर्थ दिए हैं—(1) समग्र पूर्ण ब्रह्म (2) ससीम (कुटुंब)। और निकुल का अर्थ किया गया है सीमाहीन। कुल=समूह, पूरा-समूचा अरबी है। प्रसंगानुसार 'कुल'=वंश; निकुल=वंशहीन है। कुल कुटुम्ब के आशय में ही यहाँ है; कुटुम्ब ही 'मोर-तोर' के भाव का पोषक है—

कबीर मोर तोर की जेवड़ी बलि बांध्या संसार।
कांहसि कडूंवा सुत कलित दाघणि बारंबार॥ 368

गीता में 'अभिजनवान्' (कुलीन) के दोषों को इस प्रकार बताया गया है :

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य, इत्यज्ञान विमोहिताः॥ 16.15

("मैं श्रीमान् हूँ, मैं अभिजन हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, मौज करूँगा—इस प्रकार के अज्ञान से विमूढ़ हुए।)

कुल पर अहंकार करनेवाला (अपने को बड़ा माननेवाला) ही काम-भोग में फँसा रहता है, और अंततः नरक में जाता है, उसका चित्त अनेक विचारों से भ्रमित रहता है। गीता के अनुसार :

अनेक चित्त विभ्रान्ता मोहजाल समावृताः,
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ। 16-16

कबीर जाति के दंभ, कुलीनता के अहंकार के समूलनाश के पक्ष में हैं सच्चा मानव बनने के लिए। कबीर का विरोध उस परम्परा से है जिसमें दीक्षा-संस्कार केवल विशुद्ध कुल वालों के लिए है (महापुराण 39-158 तथा 48-170)। कबीर का तर्क है श्मशान में 'कुल की कानि' कहाँ रहती है—अंत में कुल परिवार कोई साथ नहीं—

कबीर दुनियाँ के धोखै मूवा, चलै जु कुल की काणि,
तब कुल किसका लाजसी, जब ले धर्‌या मसाणि। 256
राम नाम निसंक भजि रे, न करि कुल की कांनि। 15 केदारो

शुक्ल जी मानते हैं कि कबीर का कुल-जाति का विरोध मुसलमानी संस्कृति का प्रभाव है। द्विवेदी जी का कहना है यह विरोध नाथ पंथियों से मिला है। पर, धन-कुल के अहंकार की आलोचना पूरे भारतीय वाङ्मय में है। बारहवीं सदी में कर्नाटक में ब्राह्मण परिवार में जन्म लिए बासव (बासवेश्वर) शैवधर्मी संत ने कुल का विरोध किया और निम्न वर्ग के लोगों को दीक्षा दी।

कबीर-काव्य में जिनका श्रद्धापूर्वक स्मरण किया गया है वे 'कुल की कानि' तोड़ने वाले ही हैं—प्रह्लाद, विभीषण, गोपियाँ, व्यास, शुकदेव, भर्तृहरि, गोरख, गोपीचंद, हनुमान आदि। कबीर कुलांकुर को नष्ट करने के लिए कहते हैं :

कुल अभिमान विचार तजि खोजौ पद निरबान,
अंकुर बीज नसाइगा, तब मिलै बिदेही थान। रमैणी

'कुल अभिमान', 'कुलांकुर' संस्कृत प्रयोग हैं। कबीर बहुश्रुत थे—उनका ज्ञान 'बेहद' है। वे पढ़े लिखे नहीं थे अपढ़ या गँवार थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

कबीर-काल में हिन्दू तुरुक का भेद कुल से सम्बन्धित था। उसे मिटाने के लिए—समसरि के भाव को उत्पन्न करने के लिए—कुल-भेद मिटाना था।

भूलै भरमि मरै जनि कोई, हिंदू तुरक झूठ कुल दोऊ। रमैणी

कबीर का मत है कि बिना जाति-पांति-कुल के अभिमान मिटे मनुष्य भगवान में समा नहीं सकता। भेद मिटेगा तभी एकमएक होगा—

कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटे लोण,
जाति पांति कुल सब मिटे, नाउ धरोगे कौण। 1.14

कबीर का ब्रह्म वाक्य है 'ऊँच नीच समसरिया, तार्थे जन निसतरिया।' 32 रामकली

कबीर माया मोहणीं, मांगी मिलै न हाथि।
मनह उतारी झूठ करि, तब लागी डोलै साथि॥ 9॥ 323

भावार्थ : कबीर कहते हैं संसार (माया) के पीछे जब तक भागते रहो तब तक यह वश में नहीं और जब इससे मन मोड़ लो—इसकी उपेक्षा करो—तो यह अपने वश में हो जाता है। अर्थात् जब संसार में आसक्ति रहेगी तब यह हमें आपको खा जायगा और अनासक्त रहने पर यह दास की भाँति रहेगा। अतः संसार के मिथ्या भाव और ईश्वर के सत्य भाव को जाने।

निवृति : उतारी = उतार दिया, नीचे कर दिया। मन से उतारना = मन से अलग कर देना, उपेक्षा करना। सं० उत्तार प्रा० उट्टार = उतरने की जगह। मिलै न हाथि — हाथ में नहीं आती = प्राप्त नहीं होती।

झूठ—प्रा० झुट्ठ, जुट्ठ असत्य। झूठ करि = झूठा समझकर। डोलै—दुल् (दोलयति = हिलना डुलना, झूलना)। अवधी, डोलना = चलना-फिरना। कुमा० डोलणो; पुरानी मारवाड़ी, डोलइ = घूमना-फिरना। साथ डोलना = पीछे-पीछे फिरना। डोलने लगना (अवधी)। साथ < सं० सार्थ।

कबीर की भाषा का सामर्थ्य लोक जीवन में प्रयुक्त प्रयोगों के कारण है। हिंदी का कोई भी कवि बोलचाल की सहज शब्दावली से ऐसा आत्मिक दर्शन नहीं दे सका है।

कबीर माया दासी संत की, ऊभी देइ असीस ।
बिलसी अरु लातौ छड़ी, सुमरि-सुमरि जगदीस ।। 10 ।। 324

भावार्थ : कबीर कहते हैं माया रघुनाथ की ही है। वह संत के ऊपर अधिकार नहीं जमा सकती, वह खड़ी मंगलकामना करती है क्योंकि भक्त जगदीश—सिरजनहार—को सुमिरता है। उसका ध्यान विलास (संग्रह-भोग) की ओर नहीं; उसकी वह उपेक्षा करता है—पैरों तले डाल देता है।

ऊभी < प्रा० उड्ढ, उब्भ < ऊर्ध्व = खड़ी । लात (अवधी) < प्रा० लत्ता । लातौ छड़ी = लात से लतियाना, एड़ी से मारना (घोड़े की दुलत्ती) । असीस < आशिस् ।

माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर ।
आसा त्रिष्ना नां मुई, यूँ कह गया कबीर ।। 11 ।। 325

भावार्थ : कबीर कहते हैं संसार में आसक्त प्राणी माया में लिप्त है—उसका मन आशा-तृष्णा में फँसा है। वह बार-बार जन्मता-मरता है पर आत्मा की ओर नहीं मुड़ता ।

कबीर आसा जीवै जग मरै, लोग मरे मरि जाइ ।
सोइ मूवे धन संचते, सो उबरे जे खाइ ।। 12 ।। 326

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि विलासी व्यक्ति संग्रह की आशा के चक्कर में फँसा रहता है। समृद्धि का मोह उसे मार डालता है। जिसमें धन के प्रति आसक्ति नहीं—जो उसका सम्यक् उपभोग कर लेता हैं—वही मोह-बंधन से उबरता है।

विवृति : 'आसा जीवै जग मरै' तथा 'सो उबरे जे खाइ' में विरोधाभास है। कबीर विरोधाभास के कवि हैं। यह विरोधाभास ही 'तनाव' पैदा करता है। विरोधाभास से कवि अपनी भावना को संप्रेषित करने में सफल हुआ है।

उबरे—द्रष्टव्य, साखी 255.

कबीर सो धन संचिये, जो आगै कौं होइ ।
सीस चढ़ायें पोटली, ले जात न देख्या कोइ ।। 13 ।। 327

भावार्थ : कबीर धन संग्रह-संचय अथवा परिग्रह के विरोध में कहते हैं—मनुष्य को उस धन का संचय करना चाहिए जो आगे परम पद की प्राप्ति में काम दे। सम्पत्ति का संग्रह व्यर्थ है—यह आगे काम नहीं देगा। किसी को अपनी संग्रह की हुई सम्पत्ति को ले जाते हुए, इस लोक से, नहीं देखा गया।

विवृति : कबीर की भाषा सांकेतिकता लिए हैं—'सो धन' 'जो' 'आगे कौ होइ' को कबीर के समग्र साहित्य से ही समझा जा सकता है।

तुलनीय : रामनाम निज सार है, माया लागि न खोइ।
अंति कालि सिरि पोटली, ले जात न देख्या कोइ ॥
कोई ले जात न देख्या, बलि विक्रम भोज ग्रष्टा ॥ 34 सोरठि

'सीस चढ़ाये पोटली ले जात न देख्या कोइ' को अभिधा में कहा जायगा कि मृत्यु के समय यहाँ का धन यहीं छूट जाता है—सार तत्व जो आगे काम देता है वह है रामनाम। परमगति भक्ति से ही संभव है।

पोट, पोटली < प्रा० पोट्ट = गठरी, थैला।

आगे को होइ = आगे काम आवे (अवधी प्रयोग)। सं० अग्र = सामने। आगे (हि०) = भविष्य। पाली, अग्गे = बाद में।

चढ़ाये—प्रा० **चडइ** = उठता है, किसी चीज पर चढ़ना। प्रा० **चडावेइ** = उठता है, सवार होता है (माउंट)। **सचिये** = (अव०) संचित करे। सं० संचित (शतपथ ब्राह्मण), अप० संचइ = एकत्र करे; हि० संचना (चि = इकट्ठा करना, ढेह लगाना)। 'धन सच्यौ कछु संग न गयौ।' तथा 'सती न संचै भाड़ै।' कबीर। 'जहाँ लोभ तह पाप संघाती। संचि कै मरै आन कै थाती।' पदमावत 386। गीता में 'अर्थ संचय' को प्रवृत्ति के मूल में विषय-सुख की आशा बताई गयी है। 16.12

सीस < सं० शीर्ष, गुज० शीस। पुरानी अवधी 'सीस भा धुना।' पद० 653

ले जात = लेकर जाते हुए। सं० लभते, प्रा० लेहइ (लभ् = पाना) प्रा० लेइ; हि० लहइ, लेइ (लेना)। कोशकारों ने 'लेना' की व्युत्पत्ति सं० लाति से बताई है पर 'ला' धातु का प्रयोग नहीं मिलता है।

देख्या = देखा (देखना), पुरानी अवधी देखइ। सं० दृश्यते, प्रा० दिस्सइ (दृश्)। देखइ, देखना < *देक्षति।

कबीर त्रिया त्रिस्नां पापणीं, तासौं प्रीति न जोड़ि।
पैड़ी चढ़ि पाछा पड़ै, लागै मोटी खोड़ि ॥ 14 ॥ 328

भावार्थ : कबीर कहते हैं त्रिष्णा और कामिनी (पर स्त्री) इन दोनों से प्रेम न करे—उन्हें जरा सी सहारा मिला तो ये पीछे पड़ जाती हैं अर्थात् विनष्ट करके ही छोड़ती है। इनके सम्पर्क में भारी कलंक लगता है।

विवृति : **प्रीति जोड़ना** = सम्बन्ध रखना, आसक्त होना।

पैंड़ी चढ़ि पाछा पड़ै = पैंड़ (रास्ते) में मिल जायँ तो ये फिर पीछा नहीं छोड़ने को।

खोड़ि = दोष, कलंक। प्रा० खोड़ि < * खोटि। 'यह बड़ि खोटि सखी मोहि भई। पिय बिछोह तैं मरि किन गई।' 406 मधुमालती। 'कहौं पुकारि खोरि मोहि नाहीं।' मानस 1-294-2 [कोशकारों ने खोरि की व्युत्पत्ति सं० खोर = लंगड़ा, सं० खोट = लंगड़ा से बताई है।]

पैंड़ < पद + *दण्ड = पद दंड; पंजाबी पैंडा = रास्ता, पुरानी अवधी, पंयणा।

पाछा—सं० पश्चात्—पाछ, पाछा, पीछे। पड़ना < प्रा० पडइ < सं० पतति। पाछा पड़ै मुहा०। लागै < लग्न।

मोटि-मोटी—साखी 319.

> कबीर त्रिस्नां सीचीं ना बुझै, दिन दिन बधती जाइ।
> जवासा के रूष ज्यूँ, घण मेहां कुमिलाइ॥ 15 ॥ 329

भावार्थ : कबीर का अनुभव है तृष्णा कभी तृप्त नहीं हो सकती। कामना-लोभ-मोह से मुँह मोड़े तभी मुक्ति है। एक तृष्णा के बाद दूसरी, एक लोभ के बाद दूसरा—यही स्वभाव है। हाँ, जवासा का रूख जिस प्रकार वर्षा में म्लान या विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य की तृष्णा प्रभु-प्रेम की वर्षा से मिट सकती है।

विवृति : मेह = बादल (प्रतीकात्मक अर्थ, प्रेम का मेह) :

> कबीर बादल प्रेम का हम पर बरष्या आइ।
> अंतरि भीगीं आतमा हरी भई बणराइ॥ 34

कुमिलाइ = म्लान होता है। म्लै > म्लायति, म्लान।

मेहा = मेह < मेघ।

जवासा < सं० यावासक। 'अर्क जवास पात बिनु भयऊ'—तुलसी।

रूष < पा० प्रा० रुक्ख, सं० रूक्ष = वृक्ष। *रुक्ष

बधती = बढ़ती, सं० वृध्, वर्धते (ऋवे०) > बधना, बढ़ना। (ऋवे०) पुरानी मारवाड़ी, बधइ। कबीर : झूठ को झूठा मिलै, दूणां बधै सनेह। 425

सींची < सिच् = छिड़कना, सिंचति > सींचता है। अवधी सींचब।

बुझै = बुझती है। बुझना < विधमति (ऋवे०)। बुझाती है < विध्मापयति (धम्, धमति = फूंकना, धौंकना)।

> कबीर जग की को कहै, भौ जलि बूड़े दास।
> पारब्रह्म पति छाँड़ि करि, करैं मांनि की आस॥ 16 ॥ 330

भावार्थ : कबीर कहते हैं भवसागर से पार जाना कठिन है। सामान्य मनुष्य तो अंधा है पर दास भी, माया के कारण, कभी भगवान पर विश्वास खो बैठता है और संसार से सम्मान की अपेक्षा रखने लगता है : 'इक मांनि महातम चाहैं।' 15 मोरति

विवृति : 'राम बिना कोई न करै प्रतिपाल' (रमैणी)

कबीर का विश्वास है। जहाँ 'मान' है वहाँ पिय से ऐक्य नहीं :

'मानि करै तो पीव नहीं, पीव तो मानि निवारि। 12.42

कबीर अपने को उस परम पुरुष की पत्नी मानते हैं : 'कबीर घरि परमेसुर पाहुणा।' 210 तथा 'पतिव्रता नांगी रहै, तौ उसही पुरिस कौं लाज।' 209 यहाँ निर्गुण-सगुण का मेल है। कबीर का यह दास (समर्पण) भाव है।

पारब्रह्म < परम्ब्रह्म = परमात्मा। पति-पत्नी सम्बन्ध निम्बार्क की देन है। निम्बार्क मत में कृष्ण ब्रह्म है राधा उनकी शाश्वत पत्नी हैं। कबीर में कृष्ण-गोबिंद ब्रह्म के पर्याय हैं।

कबीर माया तजी तौ का भया, मांनि तजी नहीं जाइ।
मांनि बड़े मुनियर गिले, मांनि सबनि कूं खाइ॥ 17 ॥ 331

भावार्थ : कबीर कहते हैं माया—लोभ-मोह आदि—छूट सकते हैं पर मान (अहंकार-अभिमान) की जड़ बड़ी गहरी है—थोड़ी सिद्धि-सफलता पर ही आदमी फूल जाता है। बड़े-बड़े मुनि को इस अभिमान ने खा डाला—उन्हें पदच्युत कर दिया।

विवृति : पंचतत ले कीन्ह बंधानं, पाप पुनि मानं अभिमानं।
अहंकार कीन्हे माया मोहू, संपति बिपति दीन्ही सब काहू। रमैणी

गीता में अभिमान-मोह से छुटकारा पहली शर्त है पुरुषोत्तम प्राप्ति की—

'निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः।' 15.5 गीता

गिले < गीर्ण (गृ = निगलना, खा जाना)।

खाइ < खादति (खादित = खाया हुआ) खाद् = खाना, निगल लेना।

मुनियर < सं० मुनिवर, प्रा० मुणिवर।

तजी < त्यज्, त्यजति, त्यक्त। तजी न जाना = छोड़ी न जाना : 'बिनु अघ तजी सती अस नारी।' मानस

कबीर रामहि थोड़ा जाणि करि, दुनियाँ आगै दीन।
जीवों कूं राजा कहैं, माया के आधीन॥ 18 ॥ 332

भावार्थ : कबीर कहते हैं माया के वश में मनुष्य उस परमात्मा—सिरजनहार—को भूल जाता है। उसकी महिमा को नहीं समझ पाता है और संसार को ही सब कुछ मान बैठता है। फलतः, मनुष्य अपने को दीन-हीन-असहाय समझता हुआ दूसरों के आगे हाथ पसारता है—मनुष्य को राजा मान बैठता है जबकि राजाराम ही सबका पालनहार है। राम के सामर्थ्य के प्रति विश्वास भक्ति की पहली शर्त है।

विवृति : इससे यह संकेत मिलता है कि राजा का भय उस समय कितना व्याप्त था। कबीर निर्भय का मन्त्र दे रहे हैं। उस अलेष का ज्ञान होने पर किसी से भय नहीं— वह 'भूतभर्तृ'=प्राणियों का पालक है।

आधीन <सं० अधीन। थोड़ा (अवधी, थोरा) <सं० स्तोक=बूंद, श्रुवे०। प्रा० थोअ। पंजाबी, थोड़ा। दीन <दी=नष्ट होना। सं० दीन=दुखी (मनु०) पा०, दीन=गरीब। आगै=अग्र' सामने (मनु०)। प्रा० अग्गे।

कबीर रज बीरज की कली, तापरि साज्या रूप।
राम नाम बिन बूड़ि है, कनक कामिनी कूप ॥ 19 ॥ 333

कबीर माया तरवर त्रिबिध का, साखा दुख संताप।
सीतलता सुपिनैं नहीं, फल फीका तनि ताप ॥ 20 ॥ 334

भावार्थ : यह संसार (माया) त्रिगुणात्मक है—सत-रज-तम का राज्य है यहाँ। दुख-क्लेश त्रिगुण जगत् में रहेगा ही। संसार में शीतलता कहाँ ? जरामरण और त्रिताप। संसार का फल फीका-कष्टप्रद ही रहेगा—आनंद फल तो राम-सुमिरन और राम की भगति है।

तनि=तन <तनुः, तनूः=शरीर।

कबीर माया डाकणीं सब किसही कूं खाइ।
दांत उपाड़ौं पापणीं, जे संतौं नेड़ी जाइ ॥ 21 ॥ 335

भावार्थ : कबीर माया को डाकिनी कहते हैं—यह सब संसार को निगल जाती है। संत ही इससे उबर सकता है, वही इसके दाँत उपार सकता है अर्थात् संत से इसकी बस नहीं चलती। माया पापिनी है।

विवृति : डाकणी=डाकिनी <सं० *डाकिनी, प्रा० डागिणी, डाइणीं=डाइन चुड़ैल संस्कृत शाकिनी (पंचतंत्र)। तुलसी ने 'डाकिनी-शाकिनी' का संयुक्त प्रयोग किया है विनय पत्रिका में। उपारना <उत्पाटयति, प्रा० उप्पाडेइ=जड़ से उखाड़ना; अवधी, उपारइ =उपारता है; मैथि० उपारब। दाँत उखाड़ना=मुहा० किसी को निर्बल बना देना, बेकार बना देना। 'लीन्हौ दंत उपारि' सूरसागर। 'भुजा उपारना' भी मुहावरा है—'सीस तोरि गहि भुजा उपारू' (मानस)।

नेड़ो <निकट, निकटे, प्रा० निअड, पं० नेड़ा, लहंदा नेड़े, गु० नेड़े, ब्रज नेरे— 'तुम ही लालन नेरे (सू० सा०) 'नाम बल क्यों बसौं जम नगर नेरे'—विनय०। कबीर ने नियर <निकट का भी प्रयोग किया है सूर, तुलसी की भाँति। शंकर ने माया को 'पिशाचिनी' कहा है।

कबीर नलनी सायर घर किया, दौं लागी बहुतेणि।

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि पूर्व कर्म प्रबल होता है—कर्म बंधन में बँधा मनुष्य कर्मों का फल भोगता है। नलिनी ने सागर में स्थान लिया पर दुर्भाग्य सागर में दावाग्नि लगी और वह जल गयी। पूर्व जन्म का कर्म-लेख मिटाए नहीं मिटता (बिना राम में लौ लगाए)। नलिनी = जीव; सायर = शरीर; प्रतीकात्मक अर्थ है शरीर त्रिताप से जल रहा है और जीव कर्मों से जन्म-मरण में फंसा है।

विवृति : दौ < दव, दाव = बन, बन में लगी आग, दवाग्नि, दावाग्नि। नलनी < नलिनी = कमल का पौधा। लिखेणि = लेख (खिख) सं० लेख्य = दस्तावेज; सं० लेख = भाग्य = पूर्व जन्म के कर्मों का फल। भर्तृहरि कहते हैं—"चाहे जल में प्रविष्ट हो जाओ, चाहे सुमेरु के शिखर पर जाओ'''कर्मवश जो अनहोनी है वह नहीं होगी और जो होनी है उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता।" 12 नीतिशतकम्। बहुतेणि = कहुतेर, बहुतेरा < बहुत्व = बहुत। पं० बहुतेरा। पूरब < पूर्व, पा० पुब्ब, प्रा० पुव्व = पहले का; पुराना गु० पूरब।

कबीर गुण की बादली, तीतरबानी छांह।
बाहरि रहे ते ऊबरे, भीगै मंदिर मांह॥ 23 ॥ 337

भावार्थ : कबीर त्रिगुणात्मक जगत् के नाना रूप पर प्रकाश डालते हुए कहते है कि माया की बदली अथवा इसकी छांह तीतरबानी (तित्तिर वर्णक) अनेकरूपा लुभावनी है। इसकी छाया का विश्वास नहीं। इस माया रूपी जगत् से जो बाहर रहे वे उबर गए और जो इस माया-मंदिर में फंसे वे इसके अधीन हो गए। अर्थात् छाया ईश्वर की ठीक है।

विवृति : कबीर की ये पंक्तियाँ सांकेतिकता और व्यंजना से भरी-पूरी है—'बाहरि रहे ते ऊबरे'—विरोधाभास से युक्त है। आध्यात्मिक ज्ञान विरोधाभासमय है। मेह से भीगता है व्यक्ति इसीलिए 'भोगे' अर्थात् माया के प्रति आसक्ति। बादल, हरि प्रेम का भी है और माया का भी कबीर में।

तीतर बानी : तीतरबन्नी बादरी, विधवा काजर रेख।
वह बरसै वह घर करै, जामें मीन न मेख॥

तीतर बन्नी < तित्तिर वर्णक (अम्बा प्रसाद सुमन :—ब्रज भाषा शब्दावली)। कबीर के प्रयोग लोक जीवन से संपृक्त है।

कबीर माया मोह की, भई अंधारी लोइ।
जे सूता ते मुसि लीया, रहें बसूत कौं रोइ॥ 24 ॥ 338

भावार्थ : कबीर कहते है माया-मोह ने सर्वत्र लोक में अंधेरा कर दिया—इसके पाश में सारा जग फंसा है। जो सोयेगा वह खोयेगा—सचेतनता के अभाव में

मूल वस्तु—रामनाम और समिता (आपा पर सब एक समान)—नहीं प्राप्त होती है। इस सांसारिक प्रसार-धंधे में जो लगा वह मूस लिया गया इन्द्रियों द्वारा।

तुलनीय, 'इक कथि कथि भरम लगावै, समिता सी बस्त न पावै।' 15 सोरठि

विवृति : मुष् = चुराना, मुषति, मुष्ट, मुष्यते, मूषण, मूषति, मोषति। मुसि लिया = चुरा लिया गया, मूष्यते। मूस लेना (मुहा०) = ठगना, चुराना।

बस्त<वस्तु (वस् = रहना, निवास करना) = सत्य या द्रव्य। पाली, प्रा० वत्थु = सम्पत्ति, धन। कबीर—"है कोई रामनाम बतावै। बस्त अगोचर मोहि लखावै।" 16 आसावरी। तथा,

> कबीर कोई एक राखै सावधान, चेतनि पहरै जागि।
> बस्त न बासन सूं खिसै, चोर न सकई लागि॥ 559

कबीर सतत जागरूकता पर बल देते हैं महावीर-बुद्ध की भाँति।—

> चहूँ दिसि बैठे चारि पहरिया, जागत मुसि गये मोर नगरिया। 12 सोरठि

यह शरीर ही 'नगर' है यही 'घर' है—इसी में बैठे चार चोर हैं—काम क्रोध लोभ मोह। अथवा मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार। यह माटी का शरीर (घर) असुरक्षित है :

> छिनहर घर अस झिरहर टाटी। 12 सोरठि

कबीर लोक जीवन की सामान्य शब्दावली को आध्यात्मिक रहस्य को बोधगम्य बनाने के लिए बड़े सहज और प्रभविष्णु ढंग से प्रयोग करते हैं—घर मूसना, पहरिया, नगर, छिनहर, झरिहर आदि। ये सटीक प्रयोग कबीर की पैनी सूझ-बूझ उनके बहुश्रुतत्व एवं उनकी वाग्विदग्धता के प्रमाण हैं। प्रतीक-व्यंजना के भांडार हैं कबीर।

> कबीर संकल ही थैं सबल है, माया इहि संसारि।
> ते क्यूं छूटे बापुड़े, बांधे सिरजनहारि॥ 25॥ 339

भावार्थ : माया के बंधन और उससे मुक्ति पर विचार करते हुए कबीर कहते हैं—सारा जग इस माया की शृङ्खला (जंजीर) से बँधा है जो अत्यंत सबल है। माया भगवान की शक्ति है। उसी करतार की शरण जाने से, उसके सतत सुमिरन से माया से मुक्ति मिल सकती है। बेचारे मानव में इस प्रबल माया से मुक्ति पाने की शक्ति नहीं है। जो बांधे वही छोरे—'देखी भगति जो छोरइ ताही।' मानस। यह पंचतत्व का शरीर बंधन ही है : 'पंचतत ले कीन्ह बंधानं।' 15 रामकली। तुल० साखी 545.

गीता— दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
> मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ 7.14

विवृति : संकल<शृङ्खल, शृङ्खला, पा० संखला; संखलिका; प्रा० संकल, संकला, संकली, संखला, सिखला, सिकला। शृंखला का प्रयोग ...

बापुड़े <वराक = बेचारा । सिरजनहार (सृज् = निकालना, सर्जयति = जाने देता है, पा० सज्जेति = भेजता है; सर्जयति = निर्माण करता है; अवधी सिरजा = बनाया, सं० सर्जन, हि० सर्जनहार, सिरजनहार = बनाने वाला । छूटे <प्रा० छुट्ट = मुक्त । अवधी, छुट्टा, छूटइ = मुक्त होता है, पं० छुट्टण । प्रा० खुडइ अलग होता है । प्रा० छुट्ट को कुछ विद्वानों ने सं० त्यक्त का विकसित रूप माना है । पर डॉ० टर्नर ने *क्षुट् से छुट् को जोड़ा है । बांधे (छूटे का विरोधी, बन्ध्, बन्धति (हि० बांधना); बन्धित = बाँधे ।

> कबीर बाड़ि चढ़न्ती बेलि ज्यूं, उलझी आसा फंध ।
> तूटै पर छूटै नहीं, भई ज बाचा बंध ॥ 26 ॥ 340

भावार्थ : कबीर कहते हैं माया-तृष्णा-आशा की बेलि (वल्लरी) बढ़ती ही जाती है—(बाड़ि चढ़ंती—बारी (बाग) में चढ़ी हुई) । त्रिगुणात्मक जगत् के साथ इसका नाता है अतः इससे सर्वथा मुक्ति संभव नहीं । और यह माया तो उस सिरजनहार की ही है—वह छुड़ावे तो छूटे । माया शक्ति भगवान के साथ वचनबद्ध अथवा संपृक्त है । तुलनीय, 'राजस तामस सातिग तीन्यूं, ये सब तेरी माया ।' 31 रामकली

विवृति : इस उलझाव से मुक्ति की बात कबीर 'विचार कौ अंग' में बताते हैं :

> नौ मण सूत अलूझिया, कबीर घर घर बारि ।
> तिनि सुलझाया बापुड़ै, जिनि जानी भगति मुरारि ॥ 335

फंध = फंद (सा० 316)

> कबीर सब आसण आसा तणां, निव्रति के को नांहि ।
> निरव्रति कै निबहै नहीं, परव्रति परपंच मांहि ॥ 27 ॥ 341

भावार्थ : कबीर प्रवृत्ति और निवृत्ति का सम्बन्ध बताते हुए कहते हैं : आसा ही प्रवृत्ति का मूल है—जहाँ आसा है वहीं सारा प्रपंच है । निवृत्ति में आसा-तृष्णा का पाश नहीं । सारे आसन (ढंग) प्रवृत्ति पर आधारित हैं ।

आसण (आस्, आस्ते) = प्रपंच, प्रवृत्ति । तणां = तन = ओर, तरफ ।

> कबीर इस ससार का, झूठा माया मोह ।
> जिहि घरि जिता बधावणां, तिहि घर तिता अंदोह ॥ 28 ॥ 342

भावार्थ : कबीर संसार और माया-मोह की असत्यता पर विचार करते हुए कहते हैं—यह जग झूठा है क्योंकि, यहाँ सुख-दुःख का द्वन्द्व है—जिसके घर में आज मंगलगान हो रहा है उसी के यहाँ कभी बड़ा दुख भी है । अर्थात् संसार जन्म के सुख और मरण के दुख का घर है । अतएव समदृष्टि ।

विवृति : बधावन = वर्धापनम् = जन्म दिन का उत्सव अथवा अन्य कोई समारोह ।

अंदेह (प्रा० अंदेस = अंदेसा = भय, चिंता) = अंदोह ।

जिता-तिता = यत्र-तत्र । पा० यत्र = जितना । सं० यत्र, यत्रा = कहाँ ऋवे० । तत्र = वहाँ ऋवे० । सूरसागर : जित = जिधर, जित-वित = इधर-उधर; जितनक = जितनाही; जितनौ = जितना । वित = वहाँ, वहाँ; वितनी = उतनी; वितने = उतने ही । विते = उतने ।

माया हम सूं यूं कह्या, तू मति दे रे पूठि ।
और हमारा हम बलू, गया कबीरा रूठि ॥ 29 ॥ 343

भावार्थ . कबीर कहते हैं माया मुझे अपने फंदे में फंसाने का प्रयत्न करती है पर हम उससे मुँह मोड़े रहते हैं, उसके पीछे नहीं भागते । उसकी ओर पीठ करते हैं । वह कहती है सारा जग हमारा है, हम शक्ति हैं । कबीर कहते हैं, पर हम तृष्णा-आसा-लोभ-मान-अभिमान से जूझते हैं, उनके वश में नहीं होते ।

रूठि = रुष्ट । **बलू** = बल । **मति** = मा = न, नहीं । सूरसागर 'मति कोड प्रीति कै फंद मरै ।'

पूठि = पृष्ठ = पीठ । साखी 715.

कबीर बगुली नीर विटालिया, सायर चढ़्या कलंक ।
और पखेरू पी गए, हंस न बोवै (बोरै) चंच ॥ 30 ॥ 344

भावार्थ : कबीर अज्ञानी और ज्ञानी अथवा कलुषित और निर्मल हृदय के भेद को प्रतीकात्मक शैली से स्पष्ट करते हैं : बगुली (स० बक, अपभ्रंश, बग—पाषंड-धूर्तता का प्रतीक) ने हृदय सरोवर को बिटाल दिया (अपवित्र कर दिया) । ईश्वर का दिया हुआ यह शरीर जो सागर सदृश है कलंकित अथवा दूषित हो गया । अर्थात् मलिन विचारों से यह ईश्वर का निवास (घर) दूषित हो गया । जो ज्ञानी अथवा निर्मल हृदय के साधु-संत हैं वे मलिन जल (मायाजन्य भाव) नहीं ग्रहण करते हैं; सामान्य पखेरू (पक्षिरूप) = जीव (अर्थात् संसार में लिप्त प्राणी) इस अपवित्रता की ओर ध्यान नहीं देते हैं और मलिनता का सेवन करते हैं । [कबीर ने माया शरीर-हृदय-भवसागर के अर्थ में प्रयुक्त किया है ।]

विवृति : बकुले को माया और सायर को भवसागर का प्रतीक मानकर भी अर्थ किया जा सकता है । बगुली प्रतीक है विनाशात्मक भावों—तृष्णा, माया, धूर्तता आदि का । बगुला की विशेषता है कि वह अपने चंगुल में दूसरे जीवों को फँसा लेता है । माया भी यही करती है । बक के विरोध में है हंस—विवेक का प्रतीक । हंस आत्मा-ईश्वर का प्रतीक भी है ।

कलंक (सं०) = धब्बा, बदनामी, दोष; **कलंक चढ़ा** = दोष लगा।

सायर (अप०) < सागर। **बिटालिया** = दूषित किया।

प्राकृत विट्टालिणी < विट। अपभ्रंश विट्टल = दूषित, अपवित्र; विट्टालिड = विटाल दिया। विट्टाल (हेमचन्द्र) = अपवित्रता।

कबीर माया जिनि मिलै, सौ बरियाँ दे बाँह।
नारद से मुनियर गिले, किसौ भरौसौ त्यांह ॥ 31 ॥ 345

भावार्थ : कबीर माया—तृष्णा, दुर्मति-आसक्ति-लोभ से मुक्त होने के प्रयत्न में रत हैं—इन विनाशक विचारों से जूझते हैं वे। उनका कहना है मलिन विचार घातक हैं इनसे बचना ही सत का काम है। नारद ऐसे मुनिवर को भी सुन्दरी ने मोहित कर लिया। हे राम ! माया अपने नाना रूप से, वेश्या की भाँति, लुभाने के लिए गले में बांह डालकर न मिले। सौ बार अर्थात् बार-बार।

गिले—(साखी 16.17) **बरियाँ** = बेर, बार < वार। **भरोसा** < विश्रम्भ।

कबीर माया की झल जगु जल्या, कनक कामिनी लागि।
कहु धूं किहिबिधि राखिये, रुई पलेटी आगि ॥32॥ 346

भावार्थ : कबीर कहते हैं सांसारिक प्राणी कनक-कामिनी के चक्कर में पड़कर जल रहा है। फिर भी उसे ज्ञान नहीं—उस व्यक्ति का विनाश उसी प्रकार निश्चित है जैसे आग से लपेटी रुई। तु० साखी 347.

विवृति : **झल** < ज्वाला। **राखिए** = रक्षा कीजिए; रक्ष्, रक्षति, रक्षित। पलेटी = लपेटी < लिप् = लेपना, लीपना; लिप्त = लपेटना, लपेटी।

□□

[कबीर पर शंकराचार्य का प्रभाव है—पढ़ें लेखक की कृति वैष्णव कबीर पृ० 134 154 तत्कालीन धर्म के स्वरूप पर कबीर की प्रतिक्रिया क्या थी उनकी संवेदना को समझें—उक्त कृति पृ० 140—143. **कबीर और नामदेव** के लिए पढ़ें वही कृति पृ० 147—151. कबीर की भागवत परंपरा के लिए पढ़ें उसी कृति में **प्रबोध चंद्रोदय** (11वीं सदी)। **गोरखनाथ और कबीर** पढ़ें पृ० 159—160 इसी कृति में।]

17. चाणक कौ अंग

चाणक (सं० चाट>प्रा० चाड=धूर्त)=चालाक-मायावी, धूर्त संन्यासी-स्वामी ये स्वामी—अपने को कर्ता माननेवाले—भोग को निःशंक भोगते हैं। ये पाखंडी हैं। शाक्तों पर भी कबीर का प्रहार है।

> कबीर जीव बिलंब्या जीव सौं, अलष न लषिया जाइ।
> गोब्यंद मिलै न झल बुझै, रही बुझाइ-बुझाइ ॥ 1 ॥ 347

भावार्थ : कबीर कहते हैं यह जीव माया-मोह में, सांसारिक आसक्ति में फँसा है—इसका मन कनक-कामिनी में लुभा गया है फलतः अलष (अलक्ष्य)—जो मूल है—की ओर इसकी दृष्टि है ही नहीं। माया की झल (लपट) को परमेश्वर ही बुझा सकता है, वही मन को माया की ओर से हटाकर अपनी ओर लगा सकता है। और कोई प्रयत्न सार्थक नहीं इस आग से लपटी रुई को बुझाने का। 'अधिक तृष्णा हरि बिन न बुझाई।' 139 गौड़ी।

विवृति : **बिलंब्या** सं० विलम्बते=अरुझता है, ठहरता है। **अलख**<प्रा० अलक्ख<अलक्ष्य। गुज० अलख=परम्।

गीता—'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।' 2.59

> कबीर इहि र उद्र के कारणैं, जगु जाच्या निस जाम।
> स्वामीपणा जु सिरि चढ़्या, सर्या न एको काम ॥ 2 ॥ 348

भावार्थ : कबीर का कथ्य है स्वामीगण पेट भरने के लिए रात-दिन दर-दर भिखारी बने घूमते हैं। ये तो अपने स्वामीपने में भूले हैं, भ्रमित हैं।

सिर चढ़ना (मुहा०)। **सर्या**=पूरा हुआ, सृ, सरति। **सारना**=पूरा करना; प्रा० सारेइ<सारयति। **जाच्या**<याच्=माँगना, याचते। जाम<याम।

> कबीर स्वामी हूँणा सोरहा, दोरहा हूँणा दास।
> गाडर आणी ऊन को, बाँधी चरै कपास ॥ 3 ॥ 349

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि भगवद्भक्त होना दुर्लभ (कठिन) क्योंकि लोभ-तृष्णा छोड़नी पड़ती है। स्वामी का भेष बनाकर संसार को धोखा देना सोरहा (सुलभ) =आसान है—भोग की सामग्री स्वयं आ जाती है—मालिकपने का सुख मिलता है। परन्तु यह बात ऐसी ही है जैसे भेड़ लावे ऊन के लिए पर वह कपास ही चरने लग जाय। कपास अर्थात मूल तत्व, आत्म बोध। स्वामियों की संग्रह-प्रवृत्ति उन्हें शांति

विवृति : **सोरहा** <प्रा० सुलह <सुलभ । दोरहा <प्रा० दुल्लह, दुल्लभ <दुर्लभ (दुष्-लभ्) ।

[कबीर ग्रंथावली (ना० प्र०) में सोहरा और दोह्रा पाठ है। डा० गुप्त ने सोरहा-दोहरा पाठ दिया है यही समीचीन है। डॉ० गुप्त द्वारा दी गयी व्युत्पत्ति:— दोरहा : दूरक्ख <दूरक्ष्य (कठिनता से रक्षा हो सके); सोरहा : सुरक्ख <सुरक्ष्य (सुगमता से रक्षा हो सके) ।

'कबीर-काव्य-कोश' में 'सोहरा' को 'शुद्ध' से व्युत्पन्न बताया गया है। तुलनीय सुहेल <सुख, दुहेल <दुःख ।

स्वामी हूवा सीति का, पैकाकार पचास।
रामनाम कांठै रह्या, करै सिषां की आस ।। 4 ।। 350

भावार्थ : कबीर स्वामी लोगों पर छींटाकशी कर रहे हैं—कलि का स्वामी संग्रही है, ब्याज पर व्यवहार करता है उसके पास संचित धन है तो पैकाकार (सेवक) भी पचासों हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें अपने शिष्यों पर भरोसा करना पड़ता है क्योंकि वही कमाकर लाते हैं। रामनाम पास है पर मन तो धन में है।

विवृति : **सीति** तुल० सैंत-सैंत = संचय (सैंतब = इकट्ठा करना) **कांठ** <कंठ = (1) गला (2) निकट। 'भाइ बिभीषन जाइ मिल्यो प्रभु आइ परे सुनो सायर कांठे।' कवि० 6.28 पंचतंत्र में **कंठ** निकट के आशय में है। प्रा० कंठा। **पचास** [<प्रा० पचासा <पंचशत] यह बहु संख्यत्व का बोध करता है यथा, 'राज सुरेस पचासक को, विधि के कर को जो पटो लिखि पाए।' कवि 7.45। तथा, 'कोऊ कहौ बनाइ पचासक' सूर 10.2892।

कबीर तष्टा टोकणीं, लीया फिरै सुभाइ।
राम नाम चीन्हैं नहीं, पीतलिहीं कै चाइ ।। 5 ।। 351

भावार्थ : कबीर तसला टोकणी लेकर भिक्षा मांगते हुए साधु-संन्यासी पर तरस खाते हुए कहते हैं कि उन्होंने स्वांग कर लिया है भेष बना लिया है। उन्हें चमकते हुए पीतल की चाह है—सांसारिक वैभव की ओर उनका ध्यान है, राजाराम पर उन्हें भरोसा नहीं। वे राम को चीन्हते-जानते नहीं। कबीर-काव्य में 'चीन्हा' विशिष्ट प्रयोग है :

'कहै कबीर जिनि हरि पद चीन्हा। मलिन प्यंड थैं निरमल कीन्हा।' 15 आसावरी
'ते हरि के आवहिं किहि कामा। जे नहीं चीन्हैं आतमरामा।' 136 गौड़ी

चाइ = चाउ, चाऊ <चाह। सूर—'**चाइ सौं**' = प्रेमपूर्वक। **चाह** <प्रा० चाहइ = चाहता है। चाइ, चाउ, चाऊ, चाह, चाहा, चहा प्राकृत चाह से संबन्धित हैं।

कबीर कलि का स्वामी लोभिया पीतलि धरी खट्याइ।
राजा दुवारा यूं फिरै, ज्यूं हरिहाई गाइ ॥ 6 ॥ 352

भावार्थ : याचक साधु-स्वामी को लोलुपता के कारण उन्हें हरिहाई (हरहा-हरही) गाय से सादृश्य देते हैं जो बार-बार मारे-पीटे जाने पर भी खेत खाने के लिए भाग पड़ती है। ये स्वामी राजा के यहाँ तिरस्कृत होने पर भी कुछ पाने की लालच में फेरे लगाया करते हैं ये राम को नहीं जानते— उसकी ओर इनका मन नहीं। इनका मन चमक-दमकयुक्त पीतल में लगता है जिसे खटाई लगाकर चमकाया गया हो। सत्य की खोज नहीं इन कलियुगी स्वामी लोगों के द्वारा। ये धूर्त हैं— चाणक हैं। कबीर के सादृश्य उनकी विदग्धता के प्रमाण हैं।

विवृति : **पीतलि** < पित्तल = पीतल । **राजदुवारा** < **राजद्वार** = राजा के महल का मुख्य फाटक।

मानस में **'हरहाई'** है। **सूरसागर** 'यह अति हरहाई हटकत हूँ, बहुत अमारग जाति। 'हरहाई < हृ, हरति = ले जाता है।

कबीर कलि का स्वामी लोभिया, मनसा धरी बधाइ।
देहि पईसा ब्याज कों, लेखा करता जाइ ॥ 7 ॥ 353

भावार्थ : कबीर लोभ से ग्रस्त कलियुगी स्वामी संन्यासी पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं— इनकी मनसा (= इच्छा) इतनी बढ़ गयी है कि ये पैसे के चक्कर में ब्याज पर धन देने लगे हैं और बनियों की तरह उसका लेखा-जोखा रखते हैं अर्थात् लोभ से संग्रह की प्रवृत्ति और फिर धनवृद्धि के सतत उपाय। इसी आचरण में आज के मुनि स्वामी लोगों का जीवन नष्ट हो रहा है।

विवृति : **मनसा** = इच्छा (सं० मनस् = कामना, इच्छा, मनोरथ)।
मनस् (ऋवे०) = मन, मनस्यति = मन में है।
कबीर—आसा का ईंधण करौं, मनसा करौं विभूति। 275
सूर—(1) सूर के प्रभु दरस दीजै नहीं **मनसा** और।
(2) **मनसा** नाथ मनोरथ पूरन सुख निधान जाकी मौज घनी।

तुलसी—संपति सिद्धि सबै तुलसी, मन की **मनसा** चितवैं चित लाए। कवि० (हिन्दी कोशों में **मनसा** अरबी 'मनशा') **मनसा बधाना** (बढ़ाना) = इच्छा बढ़ाना।

धरी = रखी; धृ = पकड़ना; रखना धरति। धरना = रखना। सूर—तब दधि आगे **धर्यौ**। लंका **धरौं** अपूठी। मानस—'जानि मनुज जनि हठ **मन धरहू** (6-14-4) **धरना-उसारना** (मुहा०)। हिन्दी, कुमाउंनी, पंजाबी में **धरना** पकड़ना और रखना दोनों अर्थों में है।

बधइ (बढ़ता है)। छिताई चरित में, सूर-तुलसी में वृध् से विकसित बढ़ना, बढ़ाना प्रयुक्त है। हम्मीररासो 'सुख के **मान बधाये**'। वृध् का प्राकृत वड्ढ है और इसी से विकसित बढ़ना, बढ़ाना विकसित है। पंजाबी में बधाउणा है।

पईसा—(फा० पैसः)=तांबे का तीन पाई बराबर सिक्का जो मेरे बचपन में प्रचलित था।

ब्याज < सं० व्याज=बहाना, छल। फा० सूद=ब्याज।

लेखा < सं० लेख्य=अंकित किए जाने योग्य, चित्रण अथवा लेख के योग्य प्राकृत **लेक्ख** (लिख्)। लेखा करना=हिसाब करना :

कबीर—'लेखा देती बार। साखी 409
" दरिगह लेखा पूरि। " 411
" लेखै वार न पार। " 412

कीर्तिलता—राउत लेक्खइ केण। 4.105
" मानव कमने लेख्खीआ। 2.227

सूर—लेखा समुझि बतावैं। 1.142

तुलसी—करि न सकहिं प्रभु गुन गन लेखा। मानस।

जाइ=(1) जाता है (2) नष्ट करता है। या-याति, प्रा० जाइ [हिन्दी कोशों में इसे गम् से व्युत्पन्न माना गया है जो अशुद्ध है।]

(1) कबीर घर जालौं घर ऊबरे घर राखै घर जाइ। दिवस चारि सरसा रहै अंति समूचा जाहिं। 380

सूर—कछु इक विषय भोग में **जाइ**। तथा 'आधी तौ सोवत ही **जाइ**।'

तुलसी—कछु ह्वै न आइ गयो **जनम जाय**। विनय०

(2) संस्कृत 'यात' नष्ट होने के आशय में—'यातस्तवापि च विवेकः'। 'यौवनम् निर्वाति यातं तु।' **यात** समय बीतने के आशय में।

लोभिया, मनसाधरी बधाइ, देहि पईसा ब्याज कौं, लेखा करता जाइ - जनभाषा के प्रचलित प्रयोग हैं।

कबीर कलि खोटी भई, मुनियर मिलै न कोइ।
कामी लोभी मसकरा, तिनका आदर होइ॥ 8 ॥ 354

भावार्थ : कबीर को समकालीन सामाजिक जीवन के ह्रास की चिन्ता है। मानव-मूल्यों में गिरावट देखते हुए उनकी टिप्पणी है—आज कामी (व्यभिचारी) लोभी-संग्रही झूठा मसकरा (सत्य-अहिंसा-त्याग की हँसी उड़ाने वाले) का आदर है। लोगों की दृष्टि परमार्थ से दूर हो गयी है; कोई सच्चा स्वामी-मुनि-साधक नहीं दिखाई देता है—

विवृति : **खोटी** < खोटिः = चालाक, प्रा० **खोडि** = दोष (हि० खोरि)

मसकरा—अर० मस्खरः = झूठा। श्री मद्भागवत 5.6.10 में वेद-यज्ञ आदि की निन्दा करने वाले को 'विदूषक' कहा गया है।

मानस (उत्तर काण्ड)

भए लोग सब मोह बस लोभ गसे सुभ कर्म।
सुनु हरिजान ग्यान निधि कहउँ कछुक **कलिधर्म** ॥ 97

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी।
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा।
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो पर धन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी।
जो कहँ झूठ **मसखरी** जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना॥

टिप्पणी : हमारा संत साहित्य मानवधर्म आचरण-कर्त्तव्य-परायणता का काव्य है। संत वाणी की उपादेयता आज सर्वाधिक है। निर्गुण और सगुण उपासना दोनों का आधार सम्यक् आचरण अथवा चारित्र्य है। अनीश्वरवादी बौद्ध-जैन भी नकारात्मक भावों की निंदा करते हैं, इस प्रकार सारा भारतीय वाङ्मय एक है।

चार्‌यूं बेद पढ़ाइ करि, हरि सूं न लाया हेत।
बालि कबीरा ले गया, पंडित ढूँढ़ैं खेत ॥ 9 ॥ 355

भावार्थ : कबीर व्यंग्यकार हैं—वे चोट करके पाठक को जागरूक बनाते हैं। वे 'गाल बजाने वाले' पंडितों पर व्यंग्य करते हैं जो तत्व को छोड़कर ऊपरी आडंबर के फेर में जड़े रहते हैं—जो लोभ-संग्रह के शिकार हैं। कबीर कहते हैं ऐसे पांडित्य से क्या हित जिसका संबंध आचरण से न हो जिसका फल हरिप्रीति—मानव प्रीति—न हो। कबीर अपनी स्थिति बताते हुए कहते हैं कि मैं तो हरिभक्ति को परम श्रेय मानता हूँ—एक मात्र वही मेरा प्राप्य है, उसे मैं पा गया। कलियुगी स्वामी-पंडित खेत का चक्कर काटते रहें—भ्रम में पड़े रहें, उन्होंने सार को छोड़ दिया है। खेत का सार अन्न है वह संत पाता है। पंडित तो केवल नरई पाता है।

विवृति : **बालि** < वल्ल = एक प्रकार का गेहूँ। प्राकृत में एक प्रकार का धान्य। प्राकृत, वाला = एक प्रकार की मकाई। बिहारी मैथिली अवधी व्रज में बालि प्रचलित है।

सूर—बालि छोड़िकै सूर हमारै अब नरवाई को लुनै। 10.3740

ढूढ़ैं = ढूंढ़ता है। **ढुण्ढति** = खोजता है। पं० ढूंढ़णा, मराठी धुंडणें। प्रा० **ढुढुल्लइ** = ढूंढ़ता है।

हेत—'कबीर तहाँ न जाइए जहाँ कपट का हेत। 633। 'कहै कबीर बिचार कर तासूं लावौ हेत। रमैनी। 'कबीर सूरा परखिये लड़ै धणी के हेत। 459

सूर—'कठिन हेत निरबाहे।' 10 3862

तुलसी—पुलक सरीर हिये हेतु हरषत हैं। कवि० 6। 58

सं० हित < धा = धारण करना, रखन, धरना। हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः। हितः = मित्र। प्राकृत में 'हित' का हिअ है। अपभ्रंश में 'हेत' उपर्युक्त आशय में नहीं है।

बाम्हण गुरु जगत का, साधु का गुरु नांहि।
उरझि पुरझि मरि मरि रह्या, चारिउ बेदा मांहि॥ 10॥ 356

भावार्थ : साधु-जीवन का सम्बन्ध सद्विचारों और हृदय की प्रीति से है शास्त्र ज्ञान से नहीं। बौद्धिक उपलब्धि से अहंकार उत्पन्न हो सकता है और मनुष्य शास्त्र चर्चा अथवा तर्क में ही समय गवाँ सकता है। ब्राह्मण (पंडित) चारों वेदों में उलझा रहता है, तत्व नहीं ग्रहण करता है। वह जगत् को शास्त्र ज्ञान दे सकता है पर जीवन दृष्टि नहीं। साधु की दृष्टि जीवन पर, अन्तर्जगत् पर होती है। वह हरि भगति में रमता है :

नौ मन सूत अलूझिया, कबीर घर-घर बारि।
तिनि सुलझाया बापुड़ें, जिनि जानी भगति मुरारि॥ 33.5

तथा, चरनन लागि करौं सेवकाई, प्रेम प्रीति राँखौं उरझाई॥

कहत सुनत सब दिन गए, उरझि न सुरझ्या मन।
कहि कबीर चेत्या नहीं, अजहू सपहला दिन॥ 55.6

तुलसी—'वाक्य ज्ञान अत्यंत निपुण भवपार न पावै कोई।'
'निसि गृहमध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई॥' वि० 123

सूर—उरझि मोह सिवार। 'जिह्वा स्वाद मीन ज्यौं उरझ्यौ।' 1.147

उरझि = उलझकर। उरझना गु० उरझवु।

प्रा० उअरुज्झदि; पालि उपरुज्झति < उपरुध्यते (रुध् = रोकना)।

साषित सण का जेवड़ा, भीगा सूं कठ्ठाइ।
दोइ आषिर गुरु बाहिरा, बांध्या जमपुरि जाइ॥ 11॥ 357

भावार्थ : कबीर साषित (शाक्त) को सण (सन) सदृश बताते हैं। उस पर सत्संग का, समझाने का, प्रेम का प्रभाव नहीं—उल्टे वह भगवद् प्रेम की बात कहने पर कड़ा हो जाता है क्योंकि भक्ति की बातें उसके अपवित्र वाममार्गी आचरण के प्रतिकूल होती हैं। वह तो स्वच्छंदता से पञ्च मकारों का सेवन करना चाहता है। शाक्त गुरु भक्त नहीं—ईश्वरोन्मुख नहीं, उसका मन पवित्र नहीं। इसलिए उसे स्वर्ग नहीं यमपुरी (नरक) जाना पड़ता है।

[**साषित-साकट** पर दे० लेखक की कृति '**वैष्णव कबीर**' पृ० सं०

विवृति : जेवड़ा < जीवा = रस्सी, जेवरी (दे० लेखक की कृति 'ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली' राजकमल) । **भीगा,** प्रा० भिजा, अवधी भीजा (भीजना), तुलनीय सं० अभ्यंग (अञ्ज्) = उबटन । **कट्ठाइ** कठुआ जाना, कड़ा हो जाना, कठुआना ठेठ प्रयोग है । सं० काष्ठ । **दुइ आखर गुरु बाहिरा** = निगुरा (सगुरा का विरोधी) ।

कबीर पारब्रह्म बूठा मोतियाँ, धड़ बाँधी सिखराइ ।
सगुरा सगुरां चुणि लिये, चूक पड़ी निगुराइ ।। 55.3

कबीर निगुरा (साषित) का निंदा करते अघाते नहीं । साषित हरिगुण नहीं सुनना चाहता :

का सुनहां कौं सुमृत सुनाये । का **साषित** पै हरिगुन गाये ।

कबीर कहते हैं वैष्णव चंडाल भी हो तो उसका साथ करे—शाक्त ब्राह्मण भी हो तो उसका सङ्ग नहीं—

कबीर साषित ब्राह्मण मति मिलै, बैसनों लिले चंडाल ।
अंकमाल दे भेंटिये, जानूं मिले गोपाल ।। 30.9

तथा, बैस्नों की छतरी भली, नां साखत का बड़गांव । 30.1

शाक्त संग वैसा ही है जैसा केले के पेड़ के लिए बेर का पेड़ जो केले के पत्तों को चीर-फाड़ कर बेकार कर देता है—

कबीर मारी मरूं कुसङ्ग की केली कांठै बेरि ।
वो हालै वो चीरिये, साखित सङ्ग निबेरि ।। 25.4

शाक्त के अपवित्र आचरण को देखते हुए कबीर उसकी समता काली कमली (कम्मल) से देते हैं क्योंकि उसमें मैल छिप जाती है—

साखित काली कामली भावै तहाँ बिछाइ । 28.13

एक पद में कबीर साखित को कुत्ता कहते हैं जो भूंकता रहता है—दूसरे की नहीं सुनता । कबीर उसे नीम सदृश बताते हैं जिस पर संत रूपी चंदन का प्रभाव नहीं पड़ता—

साषित सुनहा दून्यूं भाई । वौ नींदै वो भौंकत जाई ।
अमृत ले जे नींब सिचाई । कहै कबीर वाको बानि न जाई ।। 19 आसा०

कबीर साषित को निगुरा मानते हैं उसकी गुरु में श्रद्धा नहीं । गुरु वैष्णव के लिए, साक्षात् ब्रह्म है । **निगुरा** (निगुणां) **को अंग** (55) में कबीर निगुरा को पत्थर सदृश कठोर बताते हैं—पत्थर पर जल का—प्रेम वर्षा का प्रभाव नहीं । निगुरा पर हरि रस का प्रभाव नहीं—वह सूखा काठ है—यहाँ हरा वृक्ष सगुरा है और सूखा वृक्ष निगुरा—

कबीर हरिया जांणै रूंषणा उस पांणी का नेह ।
[illegible]

कबीर झिरमिर झिरमिर बरषिया, पांहण ऊपरि मेह ।
माटी गलि सैंजल भई, पाहंण वोही तेह ।। 55.2

निगुरा पत्थर है, सूखा काष्ठ है, वह प्रेमरस से भीगता नहीं; उल्टे श्रवण-कीर्तन के रस से वह कडुआ जाता है और हरिजन की निंदा करता है—'वो नींदै' में यही भाव है। जिस प्रकार कुत्ता को भूंकने में सुख मिलता है वैसे ही साखित (निगुरा) को हरि और हरिभक्तों की निंदा करने में सुख मिलता है।

पाड़ोसी सूं रूसणां, तिल तिल सुख की हांणि ।
पंडित भए सरावगी, पांणी पीवैं छाणि ।।12।। 358

भावार्थ : यहाँ 'सरावगी' जैनी श्रावक के लिए है। जैनी अनीश्वरवादी होते हैं इसीलिए कबीर उनके संग से बचने को कहते हैं। श्रावक को देखकर पंडित भी पानी छान कर पीने लगता है (और ईश्वर को भूल जाता है)। कबीर कहते हैं पड़ोसी ठीक होना चाहिए। श्रावक पड़ोसी हुआ तो उससे रूठ कर झगड़ा करके रहना कठिन है। यदि उससे मिलकर—एक होकर—रहें तो ईश्वर भक्ति भूल जाती है केवल बाहरी आचरण रह जाता है।

अन्यत्र कबीर कहते हैं—

'बाप सावगी करै लराई।' 28 आसावरी

[श्री मद्भागवत (5.6 9-11) में ऋषभदेव (जैन धर्म के प्रवर्तक) की कथा है। जैनों के लिए ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर हैं। भरथ (जिनके नाम पर भारत है) उन्हीं की संतान हैं जैनियों के वाङ्मय के अनुसार। भागवत पुराण ईश्वर भक्ति का गुणगान करता है। ऋषभदेव की यहाँ निन्दा है—श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित से ऋषभदेव और उनके अनुयायियों को पाखंडी बताते हुए कहते हैं—जिस समय कलियुग में अधर्म की वृद्धि होगी···लोग ऋषभदेव जी के आश्रमातीत आचरण का वृतान्त सुनकर स्वयं उसे ग्रहण करेंगे—कलि में देवमाया से मोहित अनेकों अधम मनुष्य अपने शास्त्र विहित शौच और आचार को छोड़ बैठेंगे—वे स्नान न करना, आचमन न करना, अशुद्ध रहना, केश नुचवाना आदि ईश्वर का तिरस्कार करने वाले पाखंड धर्मों को मनमाने ढङ्ग से स्वीकार करेंगे और प्रायः वेद, ब्राह्मण एवं भगवान् यज्ञपुरुष के विदूषक (मसखरी करने वाले) होंगे। वे अपनी इस नवीन अवैदिक स्वेच्छाकृत प्रवृति में अंध-परम्परा से विश्वास करके मतवाले रहने के कारण स्वयं ही घोर नरक में गिरेंगे।]

विवृति : श्रावक > सरावगी। प्रा॰ सावय = जैन। सूरसागर—स्रावग, स्रावगी श्रावक = अर्हत् (जैन साधु) श्रावक (मालती माधव) = शिष्य। पा॰ सावक।

रूसणां < रुष् (रुष्यति, रुषति, रुष्ट) प्रा॰ रूस। कीर्तिलता (1.100) में

पाड़ोसी < प्रतिवेशिन् (प्रतिवेश = पड़ोस पड़ोसो), प्रतिवेशवासिन = पड़ोसो। छाणि = छानि, छानकर प्रा० छाणण-छानना। मराठी छानणें। [हिन्दी शब्द सागर में चल् से छानने को व्युत्पन्न माना गया है।]

कबीर रमैनी में भी जैन धर्म की निन्दा करते हैं—

अरु भूले षटदरसन माईं। पाषंड भेस रहे लपटाई ॥
जैन बौध अरु साकत सैनां। चारिवाक चतुरङ्ग बिहूनां ॥
जैन जीव की सुधि न जानै। पाती तोरि देहुरै आनै ॥
दोना मरवा चंपक फूला। तामैं जीव बसै कर तूला ॥
अरु पृथमी को रोम उपारैं। देखत जीव कोटि संघारैं ॥

कबीर की भाँति ही कृष्ण भक्त सूर भी भागवत के आधार पर कहते हैं—

राजा रहत हुतौ तहँ एक। भयो **स्रावगी** रिषभहिं देखि ॥
बेद धर्म तजिकै न अन्हावै। प्रजा सकल कौं यहै सिखावै ॥
अजहूँ **स्रावग** ऐसोहि करै। ताहो कौ मारग अनुसरै ॥
अंतर क्रिया रहित नहि जानै। बाहर क्रिया देखि मन मानै ॥ 5/2

कबीर पंडित सेती कहि रह्या, भीतर भेद्या नाहिं।
औरूं को परमोधता, गया मुहरका माहिं ॥ 13 ॥ 359

भावार्थ : कबीर उपदेश देने वाले (अपने को ज्ञानी मानने वाले) पंडितों को सचेत करते हैं। उनका कहना है दूसरों को सीख देना सहज है स्वयं आचरण करना कठिन। मुहरका (अरबी मुर्हरिक = उपदेशक)। ज्ञान तो तभी सार्थक है जब हृदय निर्मल हो और आचरण शुद्ध। शास्त्रज्ञान मात्र से आत्मशुद्धि और आत्मज्ञान सम्भव नहीं। जब ज्ञान का दीपक हृदय में जले तब ज्ञान का महत्व है।

विवृति : **परमोधता** < प्रबोधयति (बुध्)।

भीतरि < प्रा० भित्तर, अवधी भित्तर गु० भित्तर। तुलनीय सं० अभ्यंतर। *भियन्तर < भीतर।

भेद्या (भिद, भिद्यते) भिन्दति, प्रा० भिदइ < भींदना।

औरूं < अवर, प्रा० अवर = अन्य। अवधी अउरन।

चतुराई सूवै पढ़ी, सोई पंजर माहिं।
फिरि परमोधै आन कूं, आपण समझै नाहिं ॥ 14 ॥ 360

भावार्थ : कबीर की यह अन्योक्ति उन पंडितों-ज्ञानियों पर लागू होती है जो दूसरों को उपदेश देते हैं पर स्वयं उस ज्ञान का लाभ नहीं उठाते। सुआ पंजर (पिंजड़ा) में बन्द है वह अपने को मुक्त नहीं कर पाता हाँ, दूसरों को सीख दे सकता है। कबीर का कथ्य है ऐसी चतुराई से क्या लाभ ?

विवृति : **पंजर** < पिञ्जर = पिंजड़ा । **आन** < अन्य । **फिरि** < प्रा० फिरइ = घूमता है; फिर-फिर = बार-बार । **आपण** < आत्मन्, प्रा० अप्पण, हिंदी आपन । **समझं नाहि =** नहीं समझता है; संबुध्यते (बुध्) = चेतता है, समझता है। प्रा० संबुज्झइ । अवधी समुझइ, मराठी समजणें, गु० समजवुं ।

कबीर रासि पराई राषतां, खाया घर का खेत ।
औरों कौं परमोधता, मुख में पड़िया रेत ॥ 15 ॥ 361

भावार्थ : कबीर की यह अन्योक्ति उन परोपदेशक पंडितों-साधुओं पर लागू होती है जो दूसरों को संत होने का उपदेश देते हैं पर स्वयं अपने जीवन को नहीं सुधार पाते । कबीर ऐसे लोगों की समता उन लोगों से करते हैं जो अपने खेत की राशि की चिन्ता नहीं करते हैं और दूसरों की राशि की रखवाली करते हैं । अर्थात् अपने को आत्मज्ञान नहीं पर दूसरों को दीपक दिखाना । ऐसे लोगों के पल्ले अन्न नहीं पड़ता, उनको अन्न की जगह रेत ही खाने को मिलती है । भाव यह है कि ज्ञान से अपने को शुद्ध निर्मल करे यही जीवन की सार्थकता है । जीवन प्रबोधने में नहीं सुधारने में है । अन्न का विरोधी है रेत अथवा बालू फांकना । सफल जीवन आत्मज्ञानी का है और निष्फल अज्ञानी परोपदेशक का ।

विवृति : **रासि** < राशि । **पराई** प्रा० पराय, अवधी परावा । तुलनीय सं० परगत । **राखता** < रक्षति प्रा० रक्खइ, अवधी राखब, मारवाड़ी राखइ; मराठी राखणे ।

पड़िया < प्रा० पडइ < पत, पतति । **परमोधता** (साखी 359) ।

रेत < रेत्र । औरों < अवर (साखी 359) ।

कबीर तारामंडल बैसिकरि, चंद बड़ाई खाइ ।
उदै भया जब सूर का, स्यूं तारा छिपि जाइ ॥ 16 ॥ 362

भावार्थ : यह अन्योक्ति छली साधु संन्यासी पर लागू होती है जो अपने भेष से दूसरों को ठगते हैं, छलते हैं । बाह्य पाषंड ज्ञानियों जैसा पर आचरण से हीन । कबीर का कथ्य है जब सत्पुरुष अथवा संत मिलता है तब लोग नकली छद्मी को पहचान जाते हैं । पाषंडी साधु तब उसी प्रकार समाज में शोभा नहीं पाता है जैसे सूर्य के उदय होने पर चन्द्र । जब तक सूर्य का प्रकाश नहीं तभी तक चंद्रमा अपने ताराओं के साथ आदरणीय है । प्रकाश के आगे अंधकार-अज्ञान-छद्म का अस्तित्व नहीं ।

विवृति : बड़ा < वड्ड; बड़ा + ई । **खाइ** < खादति **भया** < भवित प्रा० भविअ (भू) अवधी भयेउ । **स्युं** < सम = समान, साथ । पालि-प्राकृत सम । अपभ्रंश स्यु । अवधी सउं (स्यु); मैथिली सउं । **छिप**—पुरानी अवधी छिपइ । * छिप्प । जाइ < याति (या) प्रा० जाइ, जाइअ गुज० जाइ अवधी जाइब । (साखी 353)

बसणं, अवधी बइसइ, पु० मार० बैसइ । कीर्तिलता-'पास बइसि ।' मानस—अंगद दीख दसानन बैसे (6.19) । सूर-कैं सोवत कै बैसे । (1.293) सं० उपविशति; पालि उपविसति, प्रा० उपविसइ से विकसित, हिन्दी बैसना, बैठना । सं० उपविष्ट = बैठा, बैसा । भीलों की राज० वेहता = बैठा । धातु विश् = स्थित होना । अप० बइट्ठ । [हि० श० सागर में 'बैठना-बैसना' को 'वेशन्' से संबंधित बताया गया है जो अशुद्ध है ।]

देखण के सब को भले जिसे सीत के कोट ।
रबि के उदै न दीसही बंधै न जल की पोट ॥ 17 ॥ 363

भावार्थ : कबीर भेषधारी पाखंडी ज्ञानियों—पंडितों का मूल्यांकन करते हुए कहते हैं कि जैसे कुहरे का किला देखने के लिए है सूर्य के उदय होते ही सब समाप्त; जैसे जल की पोट नहीं बँध सकती वैसे ही अज्ञानी, दिखावटी व्यक्तियों का बाह्याडंबर टिकाऊ नहीं ।

विवृति : **सीत**<शीत (श्यै-पानी की बूंदों का जमना) सूर—'मनहु चंदकन सीत ।' (10.437) तथा 'सकुचत सीत भीत जलरुह ज्यौं (10.357) । **कोट**<कोट्ट = दुर्ग । सूर० मय मायामय कोट संवारौ । (7.7), **पोट** (साखी 327) । **दीसहीं** प्रा० दीसइ, दिस्सइ<दृश्यते । **जिसे**<यादृश = जैस; अवधी जइस प्रा० जइस । पु० गुज० जिसुं । भले<प्रा० भल्ल, सं० भद्र ।

तीरथ करि करि जग मुवा, डूंघें पांणी न्हाइ ।
रामहिं राम जपंतड़ा, काल घसीट्या जाइ ॥ 18 ॥ 364

भावार्थ : कबीर रामनाम की महिमा और बाह्य कर्मकाण्ड की हीनता बता रहे हैं—तीरथ-व्रत करते और नदी जलाशय में स्नान करने से मोक्ष नहीं मिला किसी को—सब यमपुरी गए । रामनाम जपनेवाले को काल कुछ नहीं बिगाड़ सकता—काल उसके वश में है ।

डूंघें—पंजाबी डूंगे = गहरा ।

कासी कांठै घर करै, पीवै निर्मल नीर ।
मुकुति नहीं हरि नांव बिन यौं कहै दास कबीर ॥ 19 ॥ 365

भावार्थ : कासी में रहने और गंगाजल पान से मुक्ति नहीं; मुक्ति के लिए तो हरि नाम, रामनाम । **कांठ** = कांठा = निकट, सं० कण्ठ । मरा० कांठ = टोंक ।

कबीर इस संसार कौ समझाऊँ कै बार ।
पूंछ जू पकड़ै भेड़ की उतर्‌या चाहै पार ॥ 20 ॥ 366

भावार्थ : कबीर कहते हैं इन सांसारिक

लिए रामनाम का सहारा लो भेड़ की पूंछ पकड़ने से तो डूब ही जाओगे। भेड़ से आशय है अज्ञानी-दिखावटी गुरुओं-पंडितों और कर्मकाण्ड से।

भेड़<भेड्र ।

कबीर मन फूल्या फिरै करता हूँ मैं धरम।
कोटि करम सिरि दे चढ्या, चेत न देखै भरम ।। 21 ।। 367

भावार्थ : कबीर तीर्थ-व्रत से संतुष्ट होने वाले धर्मनिष्ठों के प्रति कह रहे हैं कि इस कर्मकांड से मुक्ति नहीं। मुक्ति तो शुद्ध हृदय से की गयी हरिभक्ति से है। बाह्याचार में फंसना भ्रम है; इसे मनुष्य नहीं देख रहा है। कबीर दृष्टिकोण बदलने पर बल दे रहे हैं।

आज इसी 'धरम' से भारत की एकता टूट रही है। कबीर कितने प्रासंगिक हैं आज भी।

मन फूला फिरै—(मुहावरा) = हर्षित होना।

कबीर मोर तोर की जेवड़ी, बलि बंध्या संसार।
कांहसि कुडबाँ सुत कलित दाझणि बारंबार ।। 22 ।। 368

भावार्थ : कबीर कहते हैं सारा बंधन मोर-तोर का है—आसक्ति का है। आसक्ति की रस्सी से संसार पूरा जकड़ा हुआ है। जिस कुटुंब—सुत कलत्र (पत्नी) की आकांक्षा बनी रहती है वही बंधन का कारण है, वही हमें दग्ध करता है अर्थात् आसक्ति से हमें बार-बार आवागमन के चक्कर में फँसे रहना पड़ता है।

जेवड़ी<जीवा (साखी 357)। **कांहसि**<कांक्षसि। **कलित**<कलत्र। **दाधणि**<दग्ध।

□□

[**लेखक की कृति** 'कबीर-काव्य : प्रतिभा और संरचना' से :

"महावीर-बुद्ध-ज्ञानदेव-नामदेव कबीर ने परम्परा को स्वीकारते हुए भी उसे तोड़ा अन्यथा समाज को सन्मार्ग पर वे न ला सकते थे। देशकाल की आवश्यकतानुसार परम्परा में नव प्राण फूंकना अपेक्षित है। परंपरा पुरानी पड़ जाती है इसलिए इसमें

18. करणीं बिना, कथणीं कौ अंग

कबीर कथणीं कथी तौ का भया, जे करणी नां ठहराइ ।
कालबूत के कोट ज्यूं, देखत ही ढहि जाइ ।। 1 ।। 369

भावार्थ : कबीर का कथ्य है कथन और आचरण में ऐक्य हो—शास्त्रज्ञान अथवा शास्त्रोपदेश से कुछ बनने का नहीं यदि करनी शुद्ध न हो। कथनी आसान है, करणी कठिन। जो कथनी सचाई पर नहीं खड़ी है वह देखने में तो कोट जैसी है पर स्थायी नहीं, जैसे कालबुद।

कालबूत (फा० कालबुद) = ढाँचा, बनावटी सहारा; मराठी कलबूत। 'कालबूत दूती बिना।' 307 बिहारी। **ढहना** = (गिरपड़ना) <ध्वसति प्रा० धसइ, पं० ढहिणा; ढहाना <*ध्वासयति। **ठहराइ** = स्तम्भ् *स्ताभिर <ठहरना।

देखत ही ढहना (मु०) = देखते-देखते विनष्ट होना।

कबीर जैसी मुख तै नीकसै, तैसी चालै चाल ।
पारब्रह्म नेड़ा रहै, पल मैं करै निहाल ।। 2 ।। 370

भावार्थ : कबीर कहते हैं यदि कथनी-करनी में एकता हो तो पारब्रह्म पिता हमारे निकट है और वह पल में हमें सब कुछ दे सकता है अर्थात् उस पिता को बाह्याचार से नहीं सच्ची करनी से प्राप्त किया जा सकता है।

नेड़ा (पंजाबी) <निकट

निहाल—(फा०) = संतुष्ट, मनोरथ की पूर्ति।

कबीर जैसी मुख तैं नीकसै, तैसी चालै नांहि ।
मानिष नहीं स्वांन गति, बंध्या जमपुरि जांहि ।। 3 ।। 371

भावार्थ : कबीर आचरणभ्रष्ट शाक्तों, पाखंडियों के लिए कहते हैं—जिसकी कथनी करनी में भेद है उसकी मौत श्वान (कुत्ता) की है। वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं। ऐसे पाषंडी विष्णुधाम नहीं, यमपुरी (नरक) जाते हैं। मुहा० कुत्ते की मौत मरना।

[आज के राजनैतिक माहौल में यह समीक्षा एक यथार्थ सत्य है, कबीर की यथार्थोक्ति आज कितनी प्रासंगिक है।]

कबीर पद गाया मन हरषिया, साषी कह्या अनंद ।
सो तत नाउँ न जांणियाँ, गल मैं पड़िया फंद ।। 4 ।। 372

है पर इसके साथ उस तत्व पारब्रह्म पति या पिता को जानना चाहिए। तभी फंदा टूटेगा।

'ततनाउं'='रामनाउं तत तिलक'। परब्रह्म का अनुभव करने वाले की ही दृष्टि में समता होती है, वह सर्वत्र उसी को देखता है अथवा उसी का अनुभव करता है। उसकी कथनी-करनी में समानता होती है।

> कबीर करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि-करि तूंड।
> जाणैं बूझै कुछ नहीं, यौं ही आंधा रूंड॥ 5 ॥ 373

भावार्थ : कबीर इस साखी में भी दिखावटी कीर्तन के पक्ष में नहीं है। जोर-जोर गला फाड़कर रामनाम, हरे राम कहने से यदि मन शुद्ध नहीं हो रहा है—कथनी करनी में अंतर है—तो समझ लो अंधा (मूर्ख) धड़ बोल रहा है हृदय नहीं। कबीर का बल सत्य के अनुगमन पर है।

तूंड<तुण्ड=मुख। मराठी तुंड, प्रा० तोंड।

□□

नामदेव :—

> यह संसार हाट की लेखा सब कोउ बनिजहि आया।
> जिन जस लादा तिन तस पाइअ मूरख मूल गंवाइया॥

●

> भले निंदऊ भले निंदऊ भले निंदऊ लोग, तनु मनु राम पिआरे जोगु।
> वाद-विवाद काहू सिउं न कीजै रसना राम रसाइनु पीजै॥

●

> सोने की सुई रूपे का धागा। नामे का चित हरि संग लागा।

●

> मोहि लागती तालाबेली। बछरे बिनु बाउरो गाइ अकेली।
> पानीया बिनु मीनु तलफै। ऐसे रामनाम बिनु बाउरो नाम॥

●

> रामनाम खेती राम नाम बारी। हमारै धन बाबा बनवारी॥

●

> दह दिसि राम रह्या भरपूर। संत नेयरे साकत दूर।

19. कथणीं बिना, करणीं कौ अंग

कबीर मैं जान्यूं पढ़िबौ भलौ, पढ़िबा कै भलौ जोग ।
राम नाम सूं प्रीति करि, भलिभलि नींदौ लोग ।। 1 ।। 374

भावार्थ : शास्त्र ज्ञान की व्यर्थता और भगवत् प्रीति की सार्थकता पर कबीर को अखंड अटूट आस्था है । राम नाम से किया गया शुद्ध हृदय हरि योग्य है । भले ही लोग निंदा करें, अनादर करें, उपेक्षा करें पर राम नाम से प्रीति जोड़ना ही जीवन की सफलता है ।

कबीर का बल करनी पर है कथनी-पढ़नी पर नहीं ।

कबीर पढ़िबा दूरि करि, पुसतक देइ बहाइ ।
बावन अषिर सोधि करि, ररै ममै चित लाइ ।। 2 ।। 375

भावार्थ : कबीर कहते हैं पढ़ने या शास्त्र ज्ञान से शांति नहीं मिलेगी और न जीवन का उद्धार होगा । असली चीज है करनी—राम नाम से प्रीति, र म से नाता । बावन अक्षरों को खोजो-जांचो । र म यही दो अक्षर सिरमौर हैं, इन्हीं में रमो । राम से प्रीति का अर्थ है शुद्ध चिन्तन, शुद्ध आचरण ।

सोधि—शोध अथवा शुद्धकर<शुध् (साखी 1.)

कबीर पढ़िबा दूरि करि, आथि पढ़्या संसार ।
पीड न उपजी प्रीति सूं, तौ क्या करै पुकार ।। 3 ।। 376

भावार्थ : कबीर हिन्दू-तुर्क दोनों से कह रहे हैं वेद-कुरान पढ़कर यदि प्रीति न उत्पन्न हुई उस पारब्रह्म से तब सारा कीर्तन, अज़ान व्यर्थ है । संसार पढ़ा तो है पर कहाँ है परस्पर प्रीति, सद्भावना, समता, सहनशीलता । अतः पढ़ने से अधिक करना मुख्य है, शास्त्र से योग प्रमुख है । बाह्याचार से आंतरिक प्रेम महत् है ।

आथि<अस्ति=है ।

कबीर पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ ।
एकै अषिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होइ ।। 4 ।। 377

भावार्थ : कबीर प्रेमयोग की श्रेष्ठता पर बल देते हुए कहते हैं—ज्ञान का मूल है प्रेम—ईश्वर के चरणों में प्रीति । पढ़ना जानकारी के लिए अपेक्षित है, सच्ची भगवत् प्रीति के लिए नहीं । संसार पढ़-पढ़ कर चला गया; किसने वह अलौकिक आनंद प्राप्त किया जो प्रीति से मिलता है । अतः, उस प्रिय परमेश्वर को पहचानो—राम के दो अक्षरों को जानो । सारा ज्ञान इसी में समाया है । प्रेम हृदय का भाव है, पढ़ना मस्तिष्क

20. कामी नर कौ अंग

कबीर कामणि काली नागणीं, तीन्यूं लोक मंझारि ।
राम सनेही ऊबरे, बिषई खाये झाड़ि ॥ 1 ॥ 378

भावार्थ : विषय-भोग के आकर्षण की निंदा करते हुए कबीर कहते हैं तीनों लोक में काम-विषय की लालसा काली नागिन सदृश है। यह विषयी को विनष्ट कर देती है। इससे बचने का एक ही उपाय है रामप्रीति। मन को राम-चरणों में लगाने से यह नागिन पास नहीं फटकेगी।

मंझारि<मध्य। **राम सनेही** (सा० 516, 696)।
झाड़ि—(झारि, साखी 117) **ऊबरे,** प्रा० उव्वारेइ, उव्वरिअ<उद्वर्त।

कबीर कामणि मीनीं खांणि की, जे छेड़ौ तौ खाइ ।
जे हरिचरना राचियां, तिनके निकट न जाइ ॥ 2 ॥ 379

भावार्थ : कबीर विषय और उसके मूल कामिनी की निंदा करते हुए उससे सावधान रहने की सलाह देते हैं—कामिनी मीनीं (मधु मक्खी) है, वह खाँड़ से युक्त है। उस खाँड़ के स्वाद के चक्कर में पड़े तो वह तुम्हारी सारी तपस्या खा जायगी। उससे दूर ही रहें—आसक्त न हों। इसका उपाय है कामिनी से प्रीति न जोड़ कर हरि चरणों में प्रेम-प्रीति। तुम्हारा मन भगवान में लग गया तो काम-कामिनी तुम्हारा बिगाड़ न सकेंगे। काम का विरोधी राम—'जहाँ राम तहँ काम नहिं।'

राचियां—(रज् = प्रसन्न होना, आसक्त होना), रज्यते (मभा०) आनन्द लेता है। अवधी राचइ, राचना। **छेड़ौ** = छेड़खानी करना, चिढ़ाना, तंग करना; *चेड्।

कबीर परनारी राता फिरै, चोरी बिढ़ताखांहिं ।
दिवस चारि सरसा रहैं, अंति समूला जांहिं ॥ 3 ॥ 380

भावार्थ : कबीर परनारी प्रीति-कामिनी प्रीति के परिणाम की ओर आगाह करते हैं—यह व्यसन इतना बुरा है कि मनुष्य को समूल नष्ट कर देता है भले ही चार दिन का विषय सुख मिले। परनारी अनुरक्त ईमानदारी से जीविका नहीं कमाता वह चोरी की कमाई खाता है अर्थात् काम के वश वह चोरी करने लगता है।

राता<रक्त (रज् = प्रसन्न होना, अनुरक्त होना) = राँचा। **बिढ़ता** (वृध्) = वृद्धि। **चोरी बिढ़ता** = चोरी की कमाई। **जांहि** (याति = जाता है, नष्ट होता है)। जाइ (साखी 353) **सरसा**<सरस = प्रफुल्लित। [तुलसी सरसइ = हरभरा रहता है।] **खांहि** (सा० 331)।

कबीर परनारी पर सुंदरी, बिरला बंचै कोइ।
खाता मीठी खांड सी, अंतिकालि विष होइ ॥ 4 ॥ 381

भावार्थ : परनारी के विषय-सुख की लत जिसे पड़ जाय वह समूल विनष्ट हो जाता है—विषय भोग का स्वाद मिलता है पर इसका परिणाम विष खाने जैसा है। इस दुर्व्यसन में पड़े व्यक्ति का परिणाम नाश है। **बिरला**<विरल। **बंचै**<वंचति।

कबीर परनारी कै राचणैं, औगुण है गुण नांहि।
षार समंद मैं मछला, केता बहि बहि जांहि ॥ 5 ॥ 382

भावार्थ : पराई स्त्री के भोग की कामना बुराई है, इसे गुण नहीं कहा जा सकता। इस व्यसन में पड़ा हुआ व्यक्ति मछली की भाँति जल के बहाव के साथ खारे समुद्र में जा पड़ता है; अर्थात् काम-भोग का वेग विनाश की ओर बहा ले जाता है।
राचणैं (साखी 379)

कबीर परनारी को राचनं, जिसी लहसन की खांनि।
षूणैं बैसि र खाइए, प्रगट होइ निदानि ॥ 6 ॥ 383

भावार्थ : परनारी भोग ऐसा अवगुण है जो छिपाए नहीं छिपता। जैसे किसी कोने में लहसुन (लशुण) खाए हुए व्यक्ति की दुर्गन्ध प्रकट हो जाती है उसी प्रकार अंततः व्यभिचारी की गंध भी।
निदान (सं०) = अंत। **राचनं** (साखी 379) **षूणैं** = कोने में; पं० खुंट खूंट।

नर नारी सब नरक है, जब लग देह सकाम।
कहै कबीर ते राम के, जे सुमिरे निहकाम ॥ 7 ॥ 384

भावार्थ : कबीर जीवनदृष्टि की प्रमुखता पर बल दे रहे हैं—सकाम-भोगेच्छा—से कियागया कार्य निंद्य है, निष्काम भाव से कियागया कर्म बंधन नहीं; यही नर-नारी के सम्बंध में भी है। कामिनी बुरी नहीं बुरी है आसक्ति। भगवद् भक्ति तभी संभव है जब व्यक्ति भोग से चित्तवृति हटा कर राम की ओर लगावे।

कबीर नारी सेती नेह, बुधि बमेक सब ही हरै।
कोई गमावै देह, कारिज कोई नां सरै ॥ 8 ॥ 385

बमेक<विवेक। **काइं**<किं (साखी 187; चांदा० 68; 369) **सरै** = पूरा होता है (साखी 348)

गमावै — गमाना, मराठी गमाविणें = नष्ट करना (गम् = जाना); गम्यते = जाता है; देह गवांना, समय गवांना, इज्जत गवांना। (सा० 395)।

कबीर नाना भोजन स्वाद सुख, नारी सेती रंग।
बेगि छाड़ि पछिताइगा, ह्वै है मूरति भंग ॥ 9 ॥ 386

रंग = प्रेम (रङ्ग); 'हरि के रंग' 32 सोरठि।

पैसि न सकैं = प्रविष्ट न हो सके। विश् = घुसना प्रविशति, प्रविष्ट (= पैठ) **निज ग्यान** = सहज ज्ञान, आत्म ज्ञान, निरंतन रहनेवाला आत्मबोध।

कबीर एक कनक अरु कामनी, विष फल कीये उपाइ।
देखे ही थैं विष चढ़ै, खाये सूं मरि जाइ॥ 11 ॥ 388

कबीर एक कनक अरु कामनी, दोऊ अग्नि की झाल।
देखैं ही तन परजरै, परस्यां ह्वै पैमाल॥ 12 ॥ 389

झाल = झला = ताप, आँच, लौ। (झल, साखी 347)
परजरै<परिज्वलति। **परस्या**<स्पर्श, स्पृश्, स्पर्शयते। **पैमाल** (फा० पायमाल) = दुर्दशाग्रस्त, पाँव से रौंदा हुआ।

कबीर भग की प्रीतड़ी, केते गए गडंत।
केते अजहूँ जाइसी, नरकि हसंत हसंत॥ 13 ॥ 390

भग = ऐश्वर्य, योनि। **भग की प्रीतड़ी** = यौन-सुख।

कबीर जोरू जूठणि जगत की, भले बुरे का बीच।
उत्तिम ते अलगे रहैं, निर्काट रहैं ते नीच॥ 14 ॥ 391

कबीर नारी कुंड नरक का, बिरला थंभै बाग।
कोई साधु जन ऊबरे, सब जग मूवा लाग॥ 15 ॥ 392

बाग<वल्गा = लगाम। **बाग थामना** = इन्द्रियों को वश में रखना। **थंभै** (स्तभंते>प्रा० थंभइ = रोकता है।) **लाग**<लग्न।

कबीर सुंदरि थैं सूली भली, बिरला बंचै कोइ।
लोह लिहाला अग्नि में, जलि बलि कोइला होइ॥ 16 ॥ 393

सुंदरि = माया **बंचै** = बचता है, उबरता है। प्रा० वंचिअ<वंचित। तुल० साखी 346।

कबीर अंधा नर चेतै नहीं, कटै न संसै सूल।
और गुनह हार बकसई, कांमी डाल न मूल॥ 17 ॥ 394

गुनह फा० गुनाह = अपराध। **मूल** = जड़। **कामी डाल न मूल** = कामी की डाल-मूल नहीं छोड़ता = विनष्ट कर देता है।

कबीर भगति बिगाड़ी कामियां, इंद्री केरै स्वादि।
हीरा खोयो हाथ थैं, जनम गंवाया बादि॥ 18 ॥ 395

हीरा = मूलतत्व, भगवत् भक्ति। **बादि** = व्यर्थ (साखी 155)। **जनम गंवाया** (सा० 385)।

कबीर कामी अमीं न भावई, विषई कौं ले सोधि।
कुबधि न जाई जीव की, भावै स्यंभ रहौ परमोधि॥ 19 ॥ 396

कबीर विषै विलंबी आतमां, ताका मनकण (मजकण) खाधा सोधि।
ग्यान अंकूर न ऊगई, भावै निज परमोध ॥ 20 ॥ 397

बिषैबिलंबी आतमा = विषय में फँसी आत्मा। **ताका** = उसका। मजकण (मध्य>प्रा० मज्झ) **खाधा** = खाया। **सोध** = खोजकर (शुध् = खोजना)। **निज** = आत्मा। **भावै** = चाहे। **परमोध** (साखी 21)

कबीर बिषै करम की कंचली, पहरि हुआ नर नाग।
सिर फोड़ै सूझै नहीं, को आगिला अभाग ॥ 21 ॥ 398

कंचली = केंचुल (कंचुलिक) पद० कंचुली 423। कंचुक = केंचली। **आगिला** (अग्र) = आगे का। **सूझै** = सूझता है प्रा० सुज्झइ<शुध्यति।

कामी कदेन हरि भजे, जपै न केसौ जाप।
राम कह्यां थै जलि मरे, को पूरबिला पाप ॥ 22 ॥ 399

कदेन (साखी 209), **जलि मरे** = जल मरता है। पूरबिला<प्रा० पुव्विल्ल<सं० पूर्वीय। (पुव्वि<पूर्वम्)।

कबीर कामी लज्या नां करै, मन माहैं अहिलाद।
नींद न मांगे साथरा, भूष न मांगै स्वाद ॥ 23 ॥ 400

भावार्थ : कबीर कहते हैं जो कामी विषयी परनारी प्रेमी हैं उन्हें तो इन्द्रिय सुख चाहिए जैसे भी जहाँ भी मिले। वह उसी भोग में प्रसन्नता प्राप्त करता है। जैसे नींद लगे व्यक्ति को स्रस्तर (विस्तर) की चिंता नहीं, भूखे को स्वाद की अपेक्षा नहीं वैसे ही विषयी को केवल परनारी-भोग चाहिए। उसे बुरे काम में लज्जा नहीं।

नींद न मांगै साथरा मुहा०। **भूष न मांगे स्वाद** मुहा०। कबीर लोगों के आचरण के प्रति कितने चिंतित थे 'कामी नर कौ अंग' से स्पष्ट है। साधु-जीवन पर कबीर का बल है। पढ़ने, लिखने विद्वान् बनने, से कुछ नहीं।

अहिलाद<आह्लाद (ह्लाद्) = आनन्द। **साथरा** = साथर<स्रस्तर = बिछौना। प्रा० सत्थर। पं० सत्थर। स्रस्तर का मूल अर्थ पत्तों का बिस्तर था।

कबीर नारि पराई आपणी, भुगत्या नरकहि जाइ।
आगि आगि सब एक है, तामैं हाथ न बाहि ॥ 24 ॥ 401

भावार्थ : कबीर कहते हैं नारि-भोग के पीछे पड़ना आग में हाथ डालना है—भोग के आधिक्य का अर्थ है नरक में जाना (पतित होना)। यहाँ नारि के प्रति नहीं भोग के प्रति कबीर की निंदा है। जैसे अग्नि का काम भस्म करना है वैसे ही भोग मनुष्य को विनष्ट करता है। अतः भोग में न पड़े।

भुगत्या = भोगकर (भुज्>भोगना-आनन्द उठाना); भुज्यते = भोग किया जाता है, आनन्द मनाया जाता है। **भोग** ऋग्वेद में प्रयुक्त है; **भोजते** = यौनसुख उठाना। [illegible] (साखी 6); हाथ न बहना = हाथ न डालना। तीर

कबीर कहता जात हूँ, चेतै नहीं गंवार।
बैरागी गिरही कहा, कांमी वार न पार ॥ 25 ॥ 402

भावार्थ : कबीर काम-भोग के विरोध में सबको सचेत करते हैं—चाहे गृहस्थ हो अथवा वैरागी। जो भी नारी-भोग के फंदे में पड़ेगा उसका वार-पार नहीं अर्थात् उसके कष्टों का अंत नहीं। अज्ञानता भोग में है। गंवार यहाँ मूर्ख भोगी के लिए प्रयुक्त है। इससे स्पष्ट है कि वैरागी-साधु-सन्यासी भी व्यभिचार में लिप्त थे। उस दुराचार के प्रति ही कबीर की संवेदना है। **बैरागी** (वैराग्य, विराग<रज्)।

गंवार<पालि=ग्रामदारक=गांव का लड़का; प्रा० गामार, गवार=देहाती, मूर्ख।

बैरागी<वैरागिन्=संन्यासी जिसने अपनी इच्छाओं—वासनाओं का दमन कर लिया है। कबीर—'आवै न जाइ, मरै नहि जीवै, ताहि खोजि **बैरागी**।' कबीर-काल में **बैरागी** प्रेमी (प्रेम पथिक) भोगी के आशय में प्रयुक्त होने लगा था। सूफी काव्यों में जोगी, वैरागी प्रेमिका की भुक्ति मांगने वाला वियोगी है। **पदमावत**—

'किंगरी गहे जु हुत **बैरागी**। मरतिहुँ बार उहै धुनि लागी ॥ 194

'जौं तुम्ह तप साधा मोहि लागी, अब जनि हिए होहु बैरागी।
जो जेहि लागि सहै तप जोगू। सो तेहि के संग मानै भोगू' ॥ 331

कबीर ग्यानी तौ नीडर भया, मांनै नांही संक।
इन्द्री केरे बसि पड़्या, भूंजै विषै निसंक ॥ 26 ॥ 403

कबीर ग्यांनी मूल गंवाइया, आपण भये करता।
ताथैं संसारी भला, मन में रहै डरता ॥ 27 ॥ 404

भावार्थ : कबीर उक्त दोनों साखियों उन ज्ञानियों पर व्यंग्य कर रहे हैं जो परमेश्वर को कर्त्ता न मानकर स्वयं को कर्त्ता मानते हैं—यह अहंभाव ही नास्तिकों के पतन का कारण है; वे मूल-आत्मतत्व को ही गंवा बैठते हैं। उन्हें पाप का भय नहीं। संसारी गृहस्थ मन में डरता है पर संन्यासी-बैरागी निशंक होकर भोग करता है। जब शंका-भय नहीं तो व्यभिचार की ओर मनुष्य जायगा ही। इन्द्रियों के वश में रहने वाला कामी स्वाद के लिए भोग करता है पर यह भोग विष है—यह काली नागिन की भाँति उसे डसता ही रहता है।

संक<शंका=भय। निसंक<निःशंक। भूंजै<भुज् (भुजते); पालि भुंजति=आनन्द मनाता है; भुंक्ते—ऋग्वेद। **मूल गंवइया** (सा० 385, 395)।

21. सहज कौ अंग

[सहज कौ अंग में कबीर ने आत्मा के सहज भाव और मनुष्य के सहज (=स्वाभाविक, अकृत्रिम) स्वरूप पर प्रकाश डाला है। तुलसीदास जी मानस (उत्तर काण्ड) में ईश्वर और जीव का विवेचन करते हुए कहते हैं—

'ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल **सहज** सुखरासी'। 117

अर्थात् जीव भी ईश्वर का अंश होने के कारण अविनाशी, चेतन, अमल (निर्मल) और सहज ही सुख का भांडार है। 'सहज' को यदि स्वतंत्र अभिधान माने तो चेतन-अमल की भाँति **सहज** ईश्वर आत्मा का पर्याय है। 'सहज सुख' एक साथ लेने पर अर्थ होगा नैसर्गिक-प्रकृत सुख।]

कबीर सहज सहज सब को कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजै विषिया तजी, सहज कहीजै सोइ॥ 1॥ 405

भावार्थ : कबीर उस सहज (ब्रह्म) के चीन्हने-जानने की बात कर रहे हैं—कबीर का कथ्य है सभी उस सहज-अमल-चेतन की चरचा करते हैं, उसका गुण गाते हैं पर कहाँ पहचानते हैं उसे! उसे चीन्हने के लिए विषय-विमुख होना चाहिए। 'सहज' चीन्हने के लिए 'सहज'—पाषंडरहित होना चाहिए और पाषंडरहित होने का आशय है इन्द्रिय स्वाद से मुड़कर हरिरस का पान करना। विषय की इच्छा हममें विकार उत्पन्न कर 'सहज' से दूर कर देती है।

चीन्हना—अर्थात् उस परम तत्व को जानना : साखी—

"आपा पर जब चीन्हिया (तब) उलटि समाना माँहि।' 33 3 चीन्हने (जानने-अनुभव करने) के बाद जीव (आत्मा-ब्रह्म से एकत्व प्राप्त कर लेता है। इस एकमेक की स्थिति में विषय की इच्छा कहाँ? अभिमान कहाँ?

चीन्हना का भाव :

'राम नाम **चीन्है** नहीं।' 351 साखी

'कहै कबीर जिनि हरिपद **चीन्हा**।' 15 आसावरी

'ते हरि के आवहि किहि कामा। जे नहि **चीन्हैं** आतमरामा 136 गौड़ी

कबीर सहज सहज सब को कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
पंचू राखै परसता, सहज कहीजै सोइ॥ 2॥ 406

भावार्थ : कबीर उपर्युक्त साखी की बात ही यहाँ दोहरा रहे हैं। उक्त साखी में विषय छोड़ने की बात है—विषय छोड़ने वाला ही 'सहज' है। यही बात यहाँ 'पंचू राखै परसता' से व्यक्त की गयी है। तुलसीदास ने विनयपत्रिका में कहा है—

"पांचइंपांच परस, रस, शब्द, गंध अरु रूप।
इन्हकर कहा, न कीजिए बहुरि परब भवकूप।।" 203

कबीर कहते हैं ये पाँचों शरीर के इन्द्रियों के धर्म हैं इनसे बचा नहीं जा सकता पर इनका अपने ऊपर अधिकार न होने दे—इनका स्पर्शमात्र ही बहुत है, इनमें फँसे नहीं। 'पँचू राते परसता' में 'पंचू' पंचतत्व (शरीर) का भी भाव है। पंच भौतिक शरीर स्पर्श के लिए है, पर मनुष्य मूलतः ब्रह्म है।

सहजै सहजै सब गए, सुत बित कांमणि काम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या, दासि कबीर राम।। 3 ।। 407

भावार्थ : कबीर का कथ्य है सभी सुख सामग्री—पुत्र-धन-पत्नी सहज ही—स्वाभाविक गति से—चले गए (अथवा छोड़ जाते हैं) पर कबीर इनमें आसक्त नहीं हुआ। कबीर दास—रामदास—राम से एकमेक (एकत्व) होकर सुखी है। कबीर का राम सब प्राणियों से एकमेक है—इसलिए कबीर उससे एक है। तु० गौड़ी 52—'एकमेक रमि रह्या सबनि मैं।'

कबीर सहज सहज सब को कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजै हरि जी मिलै, सहज कहीजै सोइ।। 4 ।। 408

भावार्थ : कबीर सहज पर बल देते हुए कहते हैं मनुष्य छल-कपट-अहंकार छोड़ कर सहज बने—निर्मल बने तभी वह राम को जान सकता है और उसे पा सकता है। ऐसा व्यक्ति ही सहज (आत्माराम) कहा जायगा।

विवृति : कश्मीर की भक्त कवयित्री ललद्यद ने कहा है 'समसारस आयस तपसी। बोंदप्रकाश लोब्रुम सहज।' [अर्थात् मैं तपस्विनी इस संसार में आई और बुद्धि प्रकाश में सहज को पा लिया।] ललद्यद का सहज शिव के आशय में है क्योंकि वे शैव थीं। कबीर का सहज यही मूलस्वरूप ब्रह्म है। सं० सहजः के अर्थ हैं—स्वरूपम्, स्वभावः, स्वलक्षणम्, आत्मा (आत्मन), प्रकृतिः, रूपतत्त्वम्, निसर्गः।

कबीर ने सहज का प्रयोग सबद में अनेक बार किया है—

अब हम सकल कुसल करि मांनां।
सांति भई तब गोव्यंद जाना।।
तब मैं होती कोटि उपाधि। उलटि भई सुख सहज समाधि।
जब मैं उलटि भया है राम। दुख बिसर्या सुख कीया बिश्राम।
आपा जानि उलटि ले आप। तो नहीं ब्यापै तीन्यूं ताप।
अब मन उलटि सनातन हूवा। तब हम जांनां, जीवत मूवा।
कहै कबीर सुख सहजि समाऊं। आप न डरौं न और डराऊं।। 15 गौड़ी

सहज का आशय है आपा-पर चीन्हना = अभेदभाव। कबीर के गुरु रामानन्द कहते हैं—

आपा पर समि चीन्हिये दीसै सर्ब समान ।
इहि पद नरहरि भेटिये तू छाड़ि कपट अभिमान रे ।।

यही अभेदवाद कबीर-काव्य में है—

पंच तत अविगति कैं उतपना एकै किया निवासा ।
बिछुर तत फिरि सहजि समानं देख रही नहीं आसा ।। 44 गौड़ी

'जिन्ह सहजैं हरि जी मिलै' तथा 'एकमेक ह्वै मिलि रह्या दासि कबीरा राम ।' का आशय सबद से सुस्पष्ट है । यह पंचतत्व शरीर उसी का दिया हुआ है—उसी से उत्पन्न है, अंततः उस परमतत्व में यह समा जाता है और उसमें मिल जाता है—

जल में कुंभ कुंभ में जल बाहरि भीतरि पानी ।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यहु तत कथौ गियानी ।। 44 गौड़ी

शरीर ही कुंभ है और जल ही आत्मा—इस रूपक से कबीर ने 'सहज समाना' का भाव स्पष्ट किया है ।

'एकमेक' मिलन में भेद समाप्त । जीव उस ईश्वर का अंश है । जब उससे एकत्व प्राप्त हो गया तो अद्वैतभाव—जैसे लवण और जल का एकमेक होना—

बहुत भगत भौसागरा नानांबिधि नानांभाव ।
जिति हिरदे श्री हरि भेटिया सो भेद कहूँ कहूँ ठांव ।।
दरसन सांमि को कीजिये, जो गुन नहिं होत समान ।
सैंधव नीर कबीर मिल्यों है, फटक न मिलै पषान ।। 28 गौड़ी

कबीर अपने को वही मानते हैं—'सोऽहम्' कहीं भेद नहीं—समानता उस मूल तत्व से—यही सहज का सहज से मिलन है :

अगम अगोचर लषी न जाइ । जहाँ का सहज फिरि तहाँ समाइ ।
कहै कबीर भूठे अभिमान । सो हम सो तुम्ह एक समान ।। 3 बिलावल

□□

[विस्तृत विवेचन—लेखक की कृति कबीर-काव्य : प्रतिभा और संरचना, [illegible] 147 [illegible] 1982]

22. साच कौ अंग

[कबीर उस परमसत्य को इंगित करते हुए बताते हैं कि हमें किस प्रकार जीवन में उसके प्रति सच्चा (सांचा) होना चाहिए। हमारी कथनी और करनी समान हो, हममें भेद-भाव का अभाव हो। हम सबको उस सहज का ही रूप मानें, सबके साथ न्याय, स्नेह, समानता। सच्चे साधक में अहंकार नहीं—वह सर्वत्र उसी एक को देखता है। असत्याचरण से मुक्ति सम्भव नहीं—कर्मों का लेखा देते समय हम पछतायेंगे।]

कबीर पूंजी साहु की, तूं जिनि खोवै ख्वार।
खरी बिगूचनि होइगी, लेखा देती बार॥ 1 ॥ 409

भावार्थ : कबीर कहते है यह मूलधन (पूंजी) शरीर उस परमेश्वर की दी हुई है इसे सत्कर्मों, सद्विचारों, सद्भावों और परमार्थ में लगावें। यह जीवन सबकी सेवा के लिए हैं। किसी की हिंसा करके या किसी को मानसिक यातना देने से यह जीवन बरबाद हो जायगा। अतः शील न छोड़ें।

अंत समय सभी को अपने कर्मों का लेखा (हिसाब) देना पड़ता है इसलिए ऐसे कर्म न करें कि जिससे जीवन निष्फल माना जाय।

विवृति : पूंजी<पुंज । **ख्वार** (फा०)=तिरस्कृत, ख्वारी=तिरस्कार, अपमान। **खरी**<सं० खर=कठोर (विरोधी मृदु, श्लक्ष्ण)। **बिगूचनि** (साखी 87)=बरबादी।

मधुमालती (1) एइं पापिनि सयंसार भोरावा। **लोभ बिगूचं** लाभ न पावा। 36

(2) सुवटा सेंबर बेगि तजु, बहुत **बिगूचें** पंखि। 36

सूरसागर (1) एक हम जरी, जरे पर जारत बोलि **बिगूचं** कौन। 1.3904

(2) सूरदास अब होत **बिगूचनि** भजिलै सारंगपान। 1/304

लेखा (साखी 353; 44 आसावरी)। **बार** (साखी 2;237)।

कबीर लेखा देणा सोरहा जे दिल सांचा होइ।
उस चंगे दीवान मैं, पला न पकड़ै कोइ॥ 2 ॥ 410

भावार्थ : कबीर बारबार अंतसमय दिए जानेवाले लेखा की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करते हैं। यदि दिल सच्चा होगा, यदि सत्य का आचरण होगा, यदि कपट—अभिमान न होगा तो अंतिम समय उस कायस्थ (लेखा रखनेवाला) को लेखा देना सरल होगा। यदि कहीं करनी दूषित हुई और मन पाक नहीं तब मुक्ति नहीं—उस दरबार में हमारी पकड़ हो जायगी अर्थात् हम दोषी ठहराये जायंगे।

कबीर चित चमकिया, कीया पयांना दूरि।
काडथि कागद काढिया, तब दरिगह लेखा पूरि॥ 3 ॥ 411

कबीर काइथि कागद काढ़िया, तब लेखै वार न पार ।
जब लग सांस सरीर मैं, तब लग राम सँभार ।। 4 ।। 412

भावार्थ : कबीर उस अंत समय की बात कर रहे हैं जब यमराज के यहाँ उनके लिपिक (लेखक) को जीवन के अच्छे बुरे कर्मों का हिसाब देना पड़ता है—यदि मनुष्य की करनी ठीक न हुई तो लेखा देना कठिन (दुर्लभ) हो जायगा उस दरबार में । इसलिए जब तक शरीर है तब तक उस हरि-करतार को स्मरण करते रहें । अर्थात् उसे सर्वत्र समझकर सदाचारयुक्त जीवन बितावे । सब प्राणी में वही है ऐसा मानकर किसी की हिंसा न करें ।

विवृति : **संभारि**<सम्भालयित प्रा० संभलइ=ध्यान देता है; अथवा सं+स्मृ=स्मरण करना, सवरना ।

विनयपत्रिका (1) सुनु सठ सदा रंक के धन ज्यौं **छन छन प्रभुहि संभारहि** । 85
(2) सम दम दया दीन पालन सीतल हिय हरि न संभारयो । 202

कबीर— ज्यूं ज्यूं हरि **गुग सांभलू** त्यूं त्यूं लागै तीर । 41.6

सूर सागर (1) वहै बल आजु काहै **न सम्हारौ** । 10.3066
(2) सो प्रभु क्यौं न **सँभार्यौ** । 1.336

कबीर यहु सब झूठी बंदिगी, बरियां पंच निवाज ।
साचैं मारें झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज ।। 5 ।। 413

भावार्थ : कबीर ने जिस प्रकार पंडितों की करनी की पोल खोली है उसी प्रकार काजी मुल्ला की—काजी मसजिद में बांग देता है कि खुदा एक है, वही सब में है, 'ला इलाह इल्लिल्लाह, मुहम्मदर्रसूलिल्लाह' पर जब वह दूसरे जीव की जब्ह (=हत्या) करता है तब उसे यह ज्ञान भूल जाता है । यही काजी का भ्रम है—यही अकरणीय अथवा अकार्य है । यही कथनी और करनी में भेद है । काजी जीवित प्राणी की जब जान लेता है तब 'बिस्मिल्लाह', (मैं ईश्वर के नाम से आरम्भ करता हूँ जो बड़ा दयालु और कृपालु है) कहता है । पर उसका कुरान की यह आयत पढ़ना झूठा है, दिखावा है क्योंकि वह ईश्वर को कहाँ पहचान रहा है ! इस समय वह उस प्राणी को, जिसका वध कर रहा है, ईश्वर का अंश नहीं मान रहा है अर्थात् अपने और उसमें वह भेद करता है । यही उसका झूठा व्यवहार है—काजी-मुल्ला उन लोगों की भांति ही कार्य कर रहे हैं जो अज्ञानी हैं । काजी की राह लोक की नकल करना नहीं है, उसका पथ तो साँच का है—अद्वैतभाव का है ।

कबीर का कहना है ऐसे कुकर्म करने पर पाँच बार नमाज पढ़ना अथवा उस खुदा की बंदगी करना किस मतलब का ? यह सब झूठा है—पाषंड है । **झूठ** प्रा० झुट्ठे ।

विवृति : **बरियां** (साखी 345) । **निवाज** =नमाज । **सांचै मारैं झूठ पढ़ि** :—

बेद कतेब कहौं क्यूं झूठा, झूठा जो न विचारै।
सब घटि एक-एक करि जांनां भीं दूजा करि मारै॥
कुकड़ी मारै बकरी मारै, हक हक हक करि बोलै।
सबै जीव सांई के प्यारे, उबरहुगे किस बोलै॥
दिल नहीं पाक पाक नहिं चीन्हा, उसता खोज न जाना।
कहै कबीर भिसृति छिटकाई, दोजग ही मन माना॥ 62 गौड़ी

कबीर का कथ्य है उस पाक (ईश्वर) को न जाना, न पहचाना—अन्यथा यह भेद (अंतर) क्यों ? सभी जीव उसी के हैं। हक (= सत्य) कहने से नहीं सच पर अमल करने से होता है। सत्य एक वही है। वही सर्वत्र है यही जानना सत्य है—इसे न जानना ही असत्य है। शास्त्र की बात करना आसान है पर उस पर अमल करना कठिन। पाँच बार नमाज पढ़ना आसान है पर सच्ची बंदगी करना कठिन—बंदगी का आशय है सब को उसी का मानना। हिन्दू-मुसलमान सब में वही, मंदिर-मसजिद सब में एक वही, फिर द्वेष-हत्या क्यों ?

कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रह्म हतै तब दोइ।
चढ़ि मसीति एकै कहै, दरि क्यूं साचा होइ॥ 6॥ 414

कबीर काजी मुलां भ्रमियां, चल्या दुनी कै साथि।
दिल थैं दीन बिसारिया, करद लई जब हाथि॥ 7॥ 415

कबीर जोरी करि जिबह करैं, कहते हैं ज हलाल।
जब दफतर देखेगा दई, तब ह्वैगा कौण हवाल॥ 8॥ 416

विवृति : **ब्रह्म हतै** = काजी जब जीव (ब्रह्म) का बध करता है **तब दोइ** = तब द्वैत (भिन्नता) की भावना होती है।

चढ़ि मसीति = मसजिद में। **एकै कहै** = वही एक सब में है—समानता, अभेद। **दरि क्यूं साचा होइ** = दरवाजा या द्वार (दर फा०) पर ईश्वर के स्थान पर कहाँ सचाई रह गयी ? सभी ठौर जब वही है, सब में जब वही है तब यह अभेद भाव जब्ह के समय क्यों नहीं रहता; यही झूठापन है। यही भ्रम है काजी-मुल्ला मुसलमान का—**दुनी के साथ** = दुनियाँ का जो झूठा रास्ता है उसपर चलना और भीतर की आवाज को न सुनना, आत्मा की एकता को न समझना। कबीर लोक की झूठी मान्यताओं और लोगों के असत्य आचरण के विरोध में है—वे लोक की नकल नहीं करना चाहते। लोक तो अंधा है—वह तो भेड़ की पूछ पकड़कर चलता है।

हलाल = जब्ह किया हुआ; जबीहः अर्थात् विहित (मुसलमान जब्ह किए हुए जानवर बकरी आदि का खाना विहित (धर्म के अनुकूल) मानते हैं। कबीर का कथ्य है यह हलाल का खाना स्वाद के लिए है; किसी पशु को जबरन हत्या करना कहाँ का औचित्य है ?

दफ्तर देखैंगा दई = जब उस दरबार अथवा दरगाह में हम पेश होंगे और हमारा लेखा वहाँ का कायस्थ निकालकर देखेगा तब हमारे अपराधों को देखते हुए हमारी क्या दशा होगी ? **हवाल** (अरबी-हाल, अरबी अह्वाल = हाल का बहुवचन; हाल-हवाल, गु० **हेवाल** = समाचार) **तुलनीय**—'जिनि थैं गोबिंद बीछुटे, तिनकै कौण हवाल ।' साखी 69 । कबीर की चेतावनी है कि हम ऐसा कोई काम न करें जो हमें ईश्वर से अलग करता हो । **दई**—दैव, ईश्वर, मालिक, गोविंद, अल्लाह ।

कबीर सदा प्रासंगिक रहेंगे । संसार में भेद भरपूर है—वर्ण भेद, धर्म भेद, राष्ट्रभेद, वर्गभेद । इस भेद को मिटाने के लिए अद्वैत का दर्शन अमोघ है । कबीर धर्म नहीं इंसान के पक्षधर हैं—कबीर के समय लोग धर्म के नाम पर, 'हिंसा-घृणा-द्वेष-भेद के पक्षधर थे । [दे० लेखक की कृति वैष्णव कबीर में (1) **कबीर : इंसान की तलाश** । (2) **हरिजन वही जो समाज का सुहृद् हो** ।]

कबीर जोरीं कीया जुलम है, मांगै न्याव खुदाइ ।
खालिक दरि खूनी खड़ा, मार मुहें मुंहि खाइ ॥ 9 ॥ 417

भावार्थ : कबीर जब्ह करनेवाले मुसलमान से कहते हैं कि खुदा न्याय करता है—तुमने निरपराध एक जीव का (जिसमें ईश्वर का निवास है) जबरन बध किया है खुदा का नाम लेकर । खुदा जानता है कि तुम जुलम (अन्याय) कर रहे हो इसलिए तुम्हें वह अपने दरबार में क्षमा नहीं करेगा ।

खालिक = (खल्क (अ०) = पैदाइश, उत्पत्ति) के सामने जब इंसाफ होगा तब तुम उसके बंदे नहीं खूनी माने जाओगे और **'मार मुहें मुंहि खाइ'** अर्थात् तुम्हारे ऊपर भरपूर मार पड़ेगी ।

कबीर सांई सेती चोरियां, चोरां सेती गुझ ।
जावैंगा रे जीवड़ा, मार पड़ैगी तुझ ॥ 10 ॥ 418

भावार्थ : कबीर कहते हैं स्वामी के आगे निर्मल बनो—छल-कपट नहीं । उसका घट-घट में वास मानकर किसी का वध न करो, यह तो चोरी है स्वामी से । उसका नाम लेकर अन्याय करना सत्य नहीं झूठ है । झूठ का साईं से विरोध है, इसलिए पाक बनो उस पाक की निगाह में । चोरों का—असत्य-अन्याय के राह पर चलनेवालों का—साथ नहीं उनसे मित्रता नहीं, उनकी मंत्रणा नहीं : साईं से कुछ छिपा नहीं रहता इसलिए यह मत सोचो कि छिपकर या चोरी के साथ तुम कुछ करोगे तो वह 'उससे' छिप जायगा । बाहर-भीतर एक हो—जैसी कथनी वैसी करनी—वैसा ही व्यवहार । ऐसा कुछ न करो हे जीव ! जिससे पछताना पड़े अथवा मार खानी पड़े ।

कबीर सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज कावै जाइ ।
जिनकी दिल स्याबति नहीं, तिनका कहा खुदाइ ॥ 11 ॥ 419

भावार्थ : कबीर शेख से कहते हैं, दिल को निर्मल करो। **साबित** (स्याबति) = पक्का करो। हज करना अथवा काबा जाना महत्व नहीं रखता है। यह तो मात्र कर्मकाण्ड है। असली काम है दिल की सफाई, सब के साथ सम्व्यवहार, जीवों के प्रति प्यार। जीभ के स्वाद के फेर में पड़कर हिंसा करना ईश्वर प्राप्त करने का रास्ता नहीं है। विषयों में न भूलो, सबूरी (सब्र) न छोड़ो। बाहिरा = बिना। खुदा उसी को मिलते या अपनाते हैं जो लोभ-क्रोध को बिसमिल करे, किसी जीव को न मारे। **सबूरी** (अरबी) = सब्र (अ०)। **सबूर** = धैर्यवान्, सब्र करनेवाला।

कबीर का बल सब्र—दृढ़ता और धैर्य—पर है। ईश्वर पाने के लिए मन की चंचलता नहीं, दृढ़ता चाहिए। उसे तामसी कार्यों से मोड़कर सच्चाई की ओर लगाना होगा। इस तपस्या में दृढ़ता पूर्वक सतत आगे बढ़ना होगा विषयों से, माया से, काम से मुँह मोड़कर।

कबीर खूब खांड़ है खीचड़ी, मांहि पड़ै टुक लूंण।
हेड़ा रोटी खाइ करि, गला कटावे कौंण ॥ 12 ॥ 420

भावार्थ : कबीर मांस खाने के विरोध में हैं—मांस खाने का अर्थ है जीवहिंसा। जो दूसरों का गला काटेगा उसका भी गला काटा जायगा। इस आशय से कबीर मांस-रोटी की जगह खिचड़ी (शाकाहारी भोजन) करने की सलाह देते हैं जिसमें थोड़े नमक से स्वाद आ जाता है, जो सात्विक और सादा भोजन है। हेड़ा <हड्ड = हाड़, हड्डी तुल० हाड़-मांस।

कबीर पापी पूजा बैसि करि, भषै मांस मद दोइ।
तिनकी दख्यां मुकति नहीं, कोटि नरक फल होइ ॥ 13 ॥ 421

कबीर सकल बरण एकत्र ह्वै, सकति पूजि मिलि खांहि।
हरिदासनि की भ्रांतिकर केवल जमपुरि जांहि ॥ 14 ॥ 422

भावार्थ : उपर्युक्त दोनों साखियाँ शाक्तों (वाममार्गी) की पूजा-अराधना से संबंधित हैं—कबीर जिस प्रकार काजी-मुल्ला के पशुबध का विरोध करते हैं उसी प्रकार हिन्दुओं के मांस-मदिरा के सेवन का। कबीर की दृष्टि में—**'जस मांसु पशु की, तस मांस नर की; रुधिर-रुधिर एक सारा।'** राग बसंत (3) में कबीर कहते हैं—**'इक आराधैं सकति सीव, इक परदा दे दे बधैं जीव।'** कबीर की दृष्टि में इन कर्मों से हरि नहीं मिलते **'हरि न मिले बिन हिरदे सूध'**।

कबीर कहते हैं ये शैव-शाक्त पापी हैं जो मांस-मदिरा पीते और भोग-कर्म से पूजा करते हैं। यह पूजा नहीं है। ऐसे लोग मुक्ति नहीं पाते हैं—इनको तो नरक ही मिलेगा।

शाक्त वर्ण-भेद नहीं मानते शक्ति की उपासना में। कौलधर्मी किसी भी कुमारी की शक्ति मानकर उसका भोग करता है; पंच मकारों का सेवन है—मांस

मदिरा-मैथुन-मुद्रा और मत्स्य । कबीर कहते हैं शाक्तों का यह कर्म हरिभक्तों की समझ के बाहर है—यह उन्हें भ्रांतिकर (=विह्वल करनेवाला) है अथवा हरिदासों को यह भ्रम में डालता है । कबीर निश्चयपूर्वक दृढ़ता से इन कर्मों का विरोध करते हैं ताकि इनको कोई अपनावे नहीं । ये अधर्मी यमपुर (नरक) जाते हैं—कबीर का यह विश्वास है ।

कबीर लज्या लोग की, सुमिरै नाहीं साच ।
जाणि-बूझि कंचन तजै, काठा पकड़ै कांच ।। 15 ।। 423

भावार्थ : सत्य और असत्य के भेद को पहचानने के लिए कबीर का आग्रह है । समाज क्या कर रहा है इसे न देखें, क्या सच है वह करें । लोग—लोकलाज के चक्कर में. कर्मकाण्ड में—परंपरा में फँसे हैं । और दया-करुणा-अहिंसा की जगह हिंसा; छल में फँसे हैं । सकारात्मक विचारों को छोड़ना सोना (कंचन) को त्यागना है; नकारात्मक विचारों—कर्मों का करना काच (शीशा) को ग्रहण करना है । कबीर मानते हैं कि मनुष्य अपनी करनी के लिए स्वतंत्र है चाहे वह सत्पथ पर चले या कुपथ पर । कंचन और काच के भेद को समझना चाहिए । **काठा**<कंठ=निकट, सहारा ।

कबीर जिनि जिनि जांणिया, करता केवल सार ।
सो प्राणी काहै चलै, झूठे जग की लार ।। 16 ।। 424

कबीर झूठे कौं झूठा मिलै, दूणां बधै सनेह ।
झूठै को साचा मिलै, तब ही तूटै नेह ।। 17 ।। 425

भावार्थ : कबीर इन साखियों में झूठ और सच का अंतर बताते हुए कहते हैं कि लोग लोकलाज की रक्षा के लिए कर्मकाण्ड में फँसे हैं । उन्हें यह विश्वास नहीं है कि सब कुछ वही कर्ता—विधाता परमेश्वर है ! उसी को सुमिरें । **'झुठे जग की लार'** का आशय है यह जग झूठा है और इसे प्यार करना भी झूठा है । **लार**=लाड-प्यार (लल्) । जग की लार में फँसना विषयों में फँसना है । संयम रखे । अधिक लाड-प्यार बरबादी का मूल है । जो जान जाता है सत्य-परमतत्व को वह दिखावे में लोक लाज में—नहीं फँसता । सब करते हैं इसलिए हम भी करें यह धारणा गलत है । कबीर का बल है मनुष्य को अपने विकास के लिए स्वतंत्र राह अपनानी चाहिए । मनुष्य समर्थ है निर्णय लेने के लिए ।

कबीर कहते हैं लोग देखा-देखी झूठे व्यवहार के शिकार हो रहे हैं । इन्हें जब सत्य की अनुभूति हो, इन्हें जब सत्संग मिले तब इनका मन तृष्णा से मुक्त हो । झूठे को झूठा ही मिलता है और साच को साच । लोगों का मन तभी फिरेगा जब झूठे को साचा मिले । झूठे जग से नेह तभी तक है जब तक ज्ञान-विवेक नहीं—सत्संग नहीं । मुल्ला, काजी, शाक्त असत्य-अनाचार को अपनाए हैं । उनका स्नेह झूठे लोगों के साथ ही बढ़ता है ! **बधै**=बढ़ता है (साखी 329; 353) ! **झूठ** (सा० 413) ।

23. भर्म बिधौंसण कौ अंग

[कबीर क्रांतिकारी थे। उन्होंने देखा लोग परमात्मा—मूल आधार—को छोड़कर कर्मकांड में लग गए हैं। हिंदू मुसलमान दोनों ही तीर्थयात्रा, नमाज, बलि में विश्वास करते हैं पर मन निर्मल नहीं—वे कहते हैं परमात्मा एक है; पर इन्सान-इन्सान में भेद, लोग जीववध करते हैं। कबीर का कहना है यह सारा कर्मकाण्ड भ्रम है इससे ईश्वर की अनुभूति नहीं। वह तो हृदय में है। उसको शीशे की भाँति अमल करो, वह मिलेगा। शांति बाहर नहीं भीतर है, अपने दृष्टिकोण पर है, अहिंसा में है।]

कबीर पाहन केरा पूतला, करि पूजै करतार।
इंह रे भरोसै जे रहे, ते बूड़े कालीधार॥ 1 ॥ 426

कबीर काजल केरी ओबरी, मसि के करम कपाट।
पाहन बोई पृथमी, पंडित पाड़ी बाट ॥ 2 ॥ 427

भावार्थ : कबीर कहते हैं कर्ता-त्रिभुवनपति हृदय में है। उसके दर्शन के लिए—उसको जानने के लिए—हृदय को निर्मल बनाओ। पाहन (शालिग्राम की मूर्ति) पूजने से मोक्ष नहीं। मन का भ्रम विध्वंस करो अन्यथा काल की कालिख की धारा में डूब जाओगे।

शालिग्राम पूजनेवाले एक प्रकार से अंधकार में बंद हैं—भ्रम से भरे हैं। पत्थर का काला टुकड़ा भगवान नहीं हो सकता है। पत्थर तो सारी पृथ्वी में फैला पड़ा है इससे क्या? **पंडित पाड़ी बाट** अर्थात् पंडित ने हमें रास्ते में लूट लिया है। भ्रम में पले लोग एक प्रकार काली कोठरी में पड़े हैं और ओबरी के कपाट (दरवाजे) भी काले हैं। (तुलनीय साखी 477) 'पाखंड भरम कपाट' तोड़ने पर ही ज्ञान-प्रकाश मिलेगा। सूर सागर (2.15) में है 'भवन नील को खेत' = कलंक का घर। बाट पारना = डाका डालना।

कबीर पाहन कौं का पूजिये, जे जनम न देई जाब।
आंधा नर आसामुखी, यौं ही खोवै आब॥ 3 ॥ 428

कबीर हम भी पाहन पूजते, होते रन के रोझ।
सतगुरु की कृपा भई, डार्‌या सिर थैं बोझ॥ 4 ॥ 429

भावार्थ : कबीर पाहन पूजने को अंधविश्वास मानते हुए कहते हैं कि मनुष्य अपने मन के वश आसामुखी (= लाभ की आशा) होकर मूर्तिपूजा में लगा है। यह

(परमात्मा) हाथ से निकल जायगा। हृदय में त्रिभुवनराम हैं उनका ध्यान करो। पत्थर की मूर्ति तो कभी बोलेगी नहीं। वह तो पत्थर की है।

कबीर कहते हैं पाहन पूजने से आशा फलवती नहीं होगी। जैसे रन (अरण्य) की लीलगाय वेकार पशु है (उससे गाय सदृश कोई लाभ नहीं) उसी प्रकार यह पत्थर की पूजा भी।

मैं भी इसी लोक-लीक पर चलता पर गुरु कृपा से कर्मकाण्ड और विषय का बोझ उतार फेंका। जब तक इस बोझ से मनुष्य दबा है तब तक वह हृदय की निर्मलता—सहजता की ओर ध्यान न देगा। यह आडंबर बाधक है विकास में। मन शुद्धि और निर्मल बुद्धि हरिभगति से—ईश्वर की अनुभूति से—संभव है।

विवृति : **रन के रोझ**=अरण्य की लीलगाय जिसके संस्कृत नाम हैं—वनगवः गोसहक्षः, गवयः अश्ववारणः (घोड़रोज)। 'घोड़ रोज'=रोझ।

कबीर जेती देखौं आतमा, तेता सालिगराम।
साध प्रतषि देव हैं, नहीं पाथर सूं काम ॥ 51 ॥ 430

भावार्थ : कबीर मानवतावादी हैं। उनका कहना है लोग मनुष्य को अनदेखा कर, तिरस्कृत कर शालिग्राम की पूजा-अर्चना करते हैं। मनुष्य के प्रति घृणा अथवा उसके प्रति आत्मीयता नहीं, हाँ एक पत्थर के प्रति आदर भाव ! जो साधु है—जो विषय से दूर मन को निर्मल करने में लगा है वही प्रत्यक्ष देवता है। सारे मनुष्य भगवान का अंश होने से उसी के समान हैं।

तुल०	कहै कबीर विचारि करि, जिनि को खोजै दूरि।
ध्यान धरौ मन सुध करि, **राम रह्या भर पूरि** ॥ 11 **रमैणी** बारहपदी

तथा,	कबीर संपट मांहि समाइया, सो साहिब नहीं होइ।
सकल मांड मैं रमि रह्या, साहिब कहिये सोइ ॥ 581

कबीर सेवै सालिगराम कूं, मन की भ्रांति न जाइ।
सीतलता सुपिनै नहीं, दिन दिन अधिकी लाइ ॥ 6 ॥ 431

कबीर सेवै सालिगराम कूं, माया सेती हेत।
वोढ़ें काला कपड़ा, नाउं धरावैं सेत ॥ 7 ॥ 432

भावार्थ : कबीर का लक्ष्य है मन-शुद्धि। कबीर सर्जनात्मक विचारों—दया, परोपकार, परहित, समानता—के पक्षधर हैं। कबीर देख रहे हैं कि लोग पत्थर के (शालिग्राम) की पूजा करते हैं पर मन में मैल है तृष्णा की। लोभ-हिंसा-भय-संदेह-भ्रांति मन से निकल नहीं रही हैं। भक्ति का अर्थ है मन के विकारों का दूर होना। यदि विकार रहेंगे तो शीतलता-शांति की जगह ताप (लाइ<अलात; सा० 67) ही मिलेगा। माया से हेत (साखी 355) और 'हरि सूं हेत' में विरोध है। **माया अर्थात् कपट** (सा० 633)। **धरावैं**<धरति प्रा० धरइ (धृ)।

कबीर ऐसी पूजा को पाखंड मानते हैं जिसमें भीतर **कपट (माया)** और बाहर शालिग्राम की सेवा । कबीर का कहना है कि यह तो इसी प्रकार है जैसे काला कपड़ा ओढ़ा हुआ व्यक्ति अपने को श्वेत कहे । कबीर का बल परब्रह्म के प्रति विश्वास पर है—सचाई पर है । भक्त भीतर और बाहर दोनों ओर से भगवान के प्रेम में रात होता है—वह कपटी नहीं होता । तु०

कबीर तहाँ न जाइए जहाँ कपट का हेत ।
जालूं कली कनीर की तन राता मन सेत ।। 42.1

विवृति : **वोड़े**=ओढ़े हुए, प्रा० ऊढिय; ओड्ढिग्ग, उड्ढिया, ओड्ढण । *ओड्ढ= ओढ़ना, पहनना । **नाउं धराना**=नाम धराना (मुहा०) । **काला** कपट का और **सेत** (श्वेत) निर्मलता का सूचक है । **धराना**<धारयति (धृ) । **धरना**<धरति ।

कबीर जप तप दीसै थोथरा, तीरथ ब्रत बेसास ।
सूवैं सैंबल सेविया, यूँ जग चल्या निरास ।। 8 ।। 433

भावार्थ : कबीर लोगों के इस भ्रम का निवारण करना चाहते हैं कि पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा-माला जप से कुछ काम बन सकता है । कबीर चाहते हैं कि लोग उस सत्य पर विश्वास करें, उस परमात्मा पर भरोसा करें न कि व्यर्थ के दिखावे पर । संसार एक दिखावा है, यह नश्वर है, इसमें सार नहीं; इससे शीतलता-शांति संभव नहीं । जिस प्रकार शुक सेमल (शाल्मली) के लाल फूल पर मुग्ध होकर अपनी चोंच उस पर मारता है पर उसे उसमें कुछ न पाकर निराशा होती है उसी प्रकार का पछतावा सत्पंथ पर न चलकर लोभ-मोह-कपटयुक्त रास्ते पर चलनेवाले को होता है । **जग** का तात्पर्य उन सांसारिक लोगों से है जो देखादेखी माया में फँसे हैं । कबीर जग की लीक से हटकर अपना रास्ता बनाते हैं । **बेसास**=भरोसा । सुगे को विश्वास होता है कि सेमल कोई अच्छा फल है पर सेमल है भुआ । संसार को सुखमय मानकर चलनेवाला सुगे की भांति है । विश्वास केवल उस परम सत्य का हो ।

विवृति : **थोथरा**=थोथा=छूँछा; *थोत्थ-सिंधी थोथो=बेकार, व्यर्थ; पं० **थोथा**= छूँछा, गु० थोथु, कुमाउंनी थोतरो ।

कबीर यहु ऐसा संसार है, जैसा सैंबल फूल ।
दिन दस के ब्योहार कौं, झूठै रंगि न भूलि ।। 223

तथा, जीवत मृतक ह्वै रहे, तजै जगत की आस । 41.1

तीरथ ब्रत विष बेलड़ी सब जग मेल्हा छाइ ।
कबीर मूल निकंदिया, कौण हलाहल खाइ ।। 9 ।। 434

भावार्थ : कबीर कहते हैं तीरथ-ब्रत के चक्कर में सारा जगत् पड़ गया है—इस विष वल्लरी ने सारे जग को छा लिया है । परिणाम यह है कि पूरा संसार इसके विष (कपट-छद्म-अहंकार-भ्रम) का शिकार है ।

कबीर अपने विषय में कहते हैं कि मैंने विषय की चाह को जड़सहित काट दिया है—कौन विषय-विष को खाय ? विषय-भोग में मूल स्थान (ईश्वर) छूट जाता है और बात बिगड़ जाती है, जीवन नष्ट हो जाता है। तुलसी ने भगवान को 'सकल अमंगल मूल निकंदन' (वि० 36) कहा है। मूल का भाव ईश्वर अथवा ईश्वर का दिया जीवन है—'कबीर पूँजी साह की' (सा० 409)

तुल० साखी 404—**मूल गंवाइया**। साखी 242 **बात बिनंठी मूलि**। सा० 463 **मूल बिनंठा मानवी**। दादू 'भावै ले सिरि करवत दे, **जीवन** मूरि न छाँड़ौ ते' कबीर इसी भाव को इस प्रकार कहते हैं—'ते **नर बिनठे मूलि**, जिन धंधे ध्याया नहीं'। 239, तु० सा० 429

तथा, 'कबीर राम नाम जाण्या नहीं, **बात बिनंठी मूलि**।
हरत इहां ही हारिया, परति पड़ी मुख धूलि ।। 242

तथा, लोभ बड़ाई कारणैं, अछता **मूल न** खोइ ।। 251

विवृति : **मेल्हा** (सा० 9, 35, 215, 533)। सं० मूलनिकृन्तन = जड़ से काट डालने वाला **मूल निकंदिया** < मूल निकृंतन। कृत् = काटना; निकृन्तति, पा० निकंतति, प्रा० णिकंतइ। **हलाहल** (सं० हलाहल, हालाहल)—समुद्र मंथन से निकला विष जिससे सब भस्म होने लगा था। ईश्वर को भूलने पर विषय-विष संसारी को भस्म करता है।

कबीर मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांणि।
दसवां द्वारा देहुरा, तामै जोति पिछांणि ।। 10 ।। 435
कबीर दुनियां देहुरै सीस नवांवण जाइ।
हिरदा भीतरि हरि बसै, तूं ताही सौं ल्यौ लाइ ।। 11 ।। 436

भावार्थ : कबीर की चोट भ्रम पर है—मनुष्य अपने भीतर बैठे ब्रह्म-राम को नहीं देखता और न वह सारे संसार में उसे व्याप्त ही देखता है उल्टे वह शालिग्राम (एक पत्थर) में उसे केन्द्रित करता है, देवालय में जाकर नतमस्तक होता है। इस भ्रम—चक्कर में वह न उस मूल सत्य को पकड़ पाता है और न उसे शांति मिलती है। उसकी भ्रांति उसे पथभ्रष्ट कर रही है। जिस रास्ते चलकर वह अपने को पहचान सकता उसे उसने छोड़ दिया है, उसका मन कर्मकाण्ड में लग गया है जब कि उसे हृदय निर्मल करन के लिए भक्ति करनी चाहिए। कबीर-काल में सारा झगड़ा (हिन्दू-मुसलमान में) इस बाह्य पूजा का था और आज भी है इसीलिए कबीर का खुला विद्रोह इस विषवल्लरी के प्रति; कबीर जागरूक और संवेदनशील थे। उन्होंने मनुष्यमात्र की एकता पर बल दिया। मंदिर मसजिद का झगड़ा आज और भी विकराल है। कोई भी मजहब असली रास्ते पर नहीं—सब भेद को बढ़ावा दे रहे हैं। परमात्मा सब में है, सब जगह है—केवल शालिग्राम और मंदिर-मसजिद में नहीं। भीतर के राम से लौ लगाने पर सारे बाह्य झगड़े समाप्त। इस शरीर में ही मथुरा, कासी, द्वारका तीर्थ हैं। मन शुद्ध करें। ब्रह्म-ज्योति योगियों के अनुसार दसवें द्वार (ब्रह्मरंध्र) में है। अंतर्मुखी ही उस प्रकाश को देख पाता है। कबीर का यह दर्शन टकराव से विकसित है।

देहुरा < *देवघर। प्रा० देवहर, पं० देहरा। सं० देवगृह। □□

24. भेष कौ अंग

[इसमें कबीर उन लोगों की आलोचना कर रहे हैं जो भेष तो भक्त का रखते हैं अथवा मूड़ मुड़ाए, माला लिए भक्त से लगते हैं पर उनका मन कहीं और घूमता रहता है। पूजा पाठ करने वाले ब्राह्मण ऐसा ही भेष (पाषंड) रखते हैं लोगों पर पवित्रता की छाप छोड़ने के लिए। कबीर का बल मन के संयम पर है, भीतरी शुद्धि पर है—मूड़ मुड़ाने, तीर्थ करने से शांति, शीतलता नहीं। आज खादीभेषधारियों पर यह टिप्पणी लागू होती है।]

कबीर कर सेती माला जपै, हिरदै बहै डंडूल।
पग तौ पाला मैं गिल्या, भाजण लागी सूल ॥ 1 ॥ 437

भावार्थ : कबीर भेष धारण कर भक्त बनने वाले छद्मी लोगों पर टिप्पणी करते हैं—हाथ में तो माला है नाम जप को दिखाने के लिए, पर मन वश में नहीं; वह चक्कर काट रहा है विषयों म, उसके भीतर तूफान उठ रहा है—अशान्ति है। कबीर कहते हैं साधु हर्ष-शोक के द्वन्द्व से ऊपर होता है पर रंगा भक्त जरा भी शीत-उष्ण से भाग खड़ा होता है—पैर यदि पाला (तुषार) पर पड़ गया तो वह उस कष्ट को सहन नहीं कर सकता—शूल (पीड़ा) से भाग खड़ा होता है। पाला प्रतीक है कष्ट का, विपत्ति का, शोक का। (तु० साखी 471)

विवृति : डंडूल<द्वन्द्व, *दुवद्दव; पं० दुंद, अवधी दुंद=तूफान, गर्जन, अशान्ति। पाला<प्रालेय (ली)। गिल्या=(गल्=चूना, गल गल कर (गिरना)। गलित, प्रा० गलिअ। भाजण<भज=भागना, भज्यते पं० भज्जणा, पु० मार० भाजइ। सूल<शूल। सेती<सहित (सा० 188) डंडूल बहना (मु०)=तूफान उठना।

तुलनीय (1) दर्शन भया दयाल का सूल भई सुख सौड़ि। 5.48
(2) धड़ सूली सिर कंगुरै तऊ न बिसरौं तुज्झ ॥ 45.29

कर पकरै अंगुरी गिनै, मन धावै चहुँ ओर।
जाहि फिरायां हरि मिलै, सो भया काठ कठोर ॥ 2 ॥ 438

कबीर माला पहरै मनमुखी, ताथैं कछू न होइ।
मन माला कौं फेरतां, जग उजियारा सोइ ॥ 3 ॥ 439

भावार्थ : कबीर का बल मन को फेरने अथवा फिराने पर है—विषयों में लगा मन यदि हरि में लग जाय तो जीवन का, जग का अंधकार प्रकाश में बदल जाय। इसलिए मन की ओर (मनमुखी) न होकर मन को हरिचरणों में लगाये। काठ की माला फेरते-फेरते—साँच को छोड़ देने से—हृदय कठोर हो गया है : इसमें दया-माया-ममता

समता नहीं रह गई है। कथनी कुछ करनी कुछ। **मनमुखी** यथा अन्तर्मुख, आसामुखी (428) **मुख**=ओर।

कबीर माला पहरै मनमुखी, बहुतैं फिरै अचेत।
गांगी रोलै बहि गया, हरि सू नाहीं हेत॥ 4 ॥ 440

भावार्थ : कबीर मन के वश में रहने वाले दिखावटी साधु-संन्यासी के बारे में कहते हैं ये सावधान नहीं, सचेत नहीं, ये गंगा के किनारे बैठकर तप करनेवाले गंगा की धारा में बह गए, इन्हें हरि से प्रीति नहीं।

कबीर माला काठ की, कहि समझावै तोहि।
मन न फिरावै आपणां, कहा फिरावै मोहिं॥ 5 ॥ 441

कबीर माला मन की, और संसारी भेष।
माला पहर्या हरि मिलै, तौ अरहट के गलि देख॥ 6 ॥ 442

भावार्थ : कबीर कहते हैं काठ की माला समझाती है कि मुझे फिराने के बजाय अपने मन को फिरावो—पर वंचक साधु इसे कहाँ सुनता है। कबीर कहते हैं मनमुखी होने और सांसारिक धंधे में फँसे रहने से, भगवान नहीं मिलते—उनको प्राप्त करने के लिए मन को सब सुखों से मोड़कर उसकी प्रीति में लगाना पड़ता है। **अरहट** (सं० अरघट्ट) अथवा रहट माला ही है कूंड़ या बाल्टी की—यदि माला की महिमा है तो फिर रहट के गले को देखो। मन की माला=मन के अनुसार चलना, मनमुखी होना।

कबीर माला पहर्या कुछ नहीं, रुल्या मूवा इहि भारि।
बाहरि ढोल्या हींगलू, भीतरि भर्या भंगारि॥ 7 ॥ 443

भावार्थ : कबीर कहते हैं ये गेरुआधारी साधु देखने में साधु है पर इनका मन कूड़ा-करकट से भरा है। इस माला पहनने से क्या लाभ ? यह बोझ है गले का इससे मनुष्य मृत (अचेत) सा है। **रुल्या**; प्रा० रुलइ=गिर पड़ता है, गु० रोलवुं=चक्कर काटना। विवृति : **भारि**<भार=बोझ । **हींगलू**<हिंगुल=इंगुर । भर्या=भरा<भृ=धारण करना प्रा० भरण सं० भरित=भरा हुआ। **भंगारि**<भज् (भंग)=टूटा; भग्न=टूटा हुआ। * भङ्गाकर भंग+आकर; गुज० भंगार=टूटे पात्र।

कबीर माला पहर्या कुछ नहीं, काती मन कै साथि।
जब लगि हरि प्रगटै नहीं, तब लग पतड़ा हाथि॥ 8 ॥ 444

कबीर माला पहर्या कुछ नहीं, गांठि हिरदा की खोइ।
हरि चरनौं चित्त राखिये, तौ अमरापुर होइ॥ 9 ॥ 445

भावार्थ : कबीर कहते हैं मन को छल कपट की छुरी-कर्त्तरी से दूर करो—माला पहनने से क्या ? इस हाथ का उपयोग (माला जपने में) व्यर्थ है यह हाथ तो पत्थर

(शिलातल) है यदि इसके प्रयास से हरि न मिलें। हृदय की गांठ खोलना, मुहावरा है। हृदय के विकारों को नष्ट करने पर ही ईश्वर मिलते हैं। मन को विषयों से हटाकर हरि चरण में लगावे तब अमरपुर (अमरपुर—देवताओं का लोक, स्वर्ग) के सुख की अनुभूति हो। यदि हृदय कपट रहित न हुआ तो भक्ति नहीं हाथ लगेगी—फिर तो जगत् के रास्ते ही चलना कहा जायगा—कबीर का आशय है दूसरों का अनुसरण न करो, लोकरीति तो मायामुखी है। जगत् जहन्नुम है (सा० 456)

कातो<*कर्त=छूरी, छुरा। ओडिया, बंगला काती, गुज० काती। **खोइ**< क्षि, क्षपयति, प्रा० खवेइ=नष्ट करना। (सा० 409, 428)

गांठि हिरदा की खोइ : हृदय-ग्रंथि अर्थात् मन के विकार। सं० ग्रंथि का सामान्य अर्थ गाँठ है पर उक्त प्रसंग में गाँठ मन में बैठे सत्य से विरोधी विचार अर्थात् मिथ्यात्व। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार सभी नकारात्मक भाव मन की गाँठ हैं क्योंकि ये मनुष्य को आगे बढ़ने से रोकते हैं। कबीर मन की गाँठ को निर्मूल करने की प्रेरणा दे रहे हैं। हृदय को शुद्ध करें सद्व्यवहार के लिए।

हरि चरनौं चित राखिये : गाँठ से मुक्ति का उपाय है भगवान में आस्था-विश्वास जिससे जीवन का अंधकार पक्ष मिटता है। जो मन माला फेरने में लगा है, जो मन चारों ओर विषयों में चक्कर लगा रहा है उसे किसी खूंटे से बाँधने के लिए 'हरिचरन' हैं। **चित्त रखना**=चित लगाना, मन लगाना।

रखना<रक्ष्—(1) रक्षा करना (2) धरना 'पुट'; रखना 'कीप'। भगवान के चरणारविंद में मन को रखिए ताकि उसका भागना—लोभ-मोह की ओर दौड़ना—बन्द हो; कुमाउंनी रखणों, बं० राखिबा; गु० राखवु (रक्षा के अर्थ में साखी 346)। हृदय की गाँठ खोले और मन में ईश्वर का विश्वास यही गुरु मंत्र है सुख शान्ति का।

कबीर माला पहर्‌या कुछ नहीं, भगति न आई हाथ।
माथौ मूंछ मुड़ाइ करि, चल्या जगत के साथि ॥ 10 ॥ 446

भावार्थ : कबीर कहते हैं माला से यदि मन पवित्र हो और विषयों से हटकर भक्ति की ओर लगे तो इसकी सार्थकता है। माला धारण करके और जगत् की राह (स्वार्थ) पर चलना न्याय संगत नहीं। संसार तो काली कोठरी है यहाँ माया, धूर्तता, पाखंड का बोलबाला है—सब दम्भ। मूंड़ मुड़ाना व्यर्थ है यदि मन न मुड़ा। मूड़ मुंड़ाना एक परंपरागत कर्म हो गया है इससे मन की शुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं। कबीर अपने लिए कहते हैं—मैं तो संसार का बोझ छोड़ चुका—सतगुरु की कृपा भई, डार्‌या सिर थैं बोझ। 429, 434 **माथौ**=माथ, माथा<मस्तक।

चल्या जगत के साथि अर्थात् तीर्थ-व्रत मूंड़-मुंड़ाने की नकल, जीव हिंसा की प्रवृत्ति, रागद्वेष की भावना।

कबीर पीछैं लागा जाइ था, लोक बेद के साथि।
आगैं थैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥ 11

कबीर साइँ सेती सांच चलि, औरौं सौं सुध भाइ।
भावै लंबे केस करि, भावै घुरड़ि (घुरड़ि ?) मुंड़ाइ ॥ 11 ॥ 447

भावार्थ : कबीर का अध्यात्म लोकपरक है। जीवन में सचाई, सद्व्यहार, शुद्धता यही मूल है कबीर की भक्ति का। कबीर की दृष्टि मानव पर है भले ही वे रहस्यवादी हों—उन्होंने धरती नहीं छोड़ी। उनका राम सर्वत्र है। राम के प्रति जो सचाई वही सबके प्रति यह है आदर्श कबीर का। "साँई से साँच" और 'औरों सौं सुधभाइ।' यही भक्ति का मर्म है। शुद्ध भाव सब के प्रति हो एतदर्थ उस परमात्मा की अनुभूति सब में। मैं, मेरा-तेरा से मुक्ति बिना शुद्ध भाव नहीं। **भाव** (21, 459, 483)

औरों सौं सुध भाइ : कबीर की दृष्टि में 'स्व' नहीं 'अपर'-'पर'। स्व के लिए सारी चिंता; पर मनुष्य की सार्थकता अपर के प्रति शुद्ध व्यवहार में है अर्थात् दूसरों की चिंता को अपनी चिंता बनावें यही भक्ति है यही ईश्वर के प्रति सचाई है। जिस प्रकार आज लोग स्वकेन्द्रित होकर चिंता—तनाव, निराशा—भय-संदेह-ईर्ष्या के शिकार हैं उसी प्रकार कबीर-काल में भी। भक्त तो बहुत से थे आज की भांति पर ऐसे नहीं जो दूसरों के प्रति शुद्ध भाव रखते हों। आनन्द-शांति की कुंजी कबीर के शब्दों में यही है—सब के प्रति उदार : समभाव, शुद्ध भाव। दूसरों को समझें, उनके दृष्टिकोण को जानें, उनकी परिस्थिति को समझें—कोई बुरा नहीं। बुरे के प्रति भी शुद्ध पवित्र सेवा भाव। **घुरड़ि मुंड़ाइ** = सिर मुड़ाना, सं० **धुर्** = शीर्ष। **सेती** (437)

कबीर केसौं कहा बिगाड़िया, जे मूंड़ै सौ बार।
मन कौं काहे न मूंड़िए, जामे विषै विकार ॥ 12 ॥ 448

कबीर मन मसवासी (मेवासी नाप्र०) मूंड़ ले, केसौं मूंड़े कांइ।
जे कुछ कीया सु मनि कीया, केसौं कीया नांहि ॥ 13 ॥ 449

भावार्थ : कबीर बार-बार मन मूंड़ने (मन को विषयमुक्त करने) की बात करते हैं और मुण्डित अथवा मुण्ड की निन्दा करते हैं। उनकी दृष्टि में चाहे व्यक्ति केशी (केशिन्), केशव या केशिक हो चाहे मुण्डित—बाह्य रूप भीतरी शुद्धि से संबंध नहीं रखता।

आज भी गंगा किनारे करोड़ों व्यक्ति मुण्डित होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं—कबीर का कटाक्ष इस अंध परंपरा पर है। कबीर सफल व्यंगकार हैं। वे संवेदनशील हैं—वे रचनात्मक व्यापार के पक्षधर हैं अंध परंपरा के नहीं।

कबीर के भाव को हृदयंगम करने के लिए पौराणिक मान्यताओं को जानना होगा। सभी पुराणों में व्रत-तीर्थ-मुण्डन-दान-पूजा का महत्व है स्वर्ग और मोक्ष के लिए। विचारों की शुद्धता और उपनिषद्-गीता का अध्यात्म भुला दिया गया। इसी के विरोध में महावीर, बुद्ध, कबीर को खड़ा होना पड़ा।

मसवासी वह था जो मासोपासक था। यह मासोपासना व्रत था। इसका वर्णन अग्निपुराण, गरुड़पुराण, पद्मपुराण में है। यह वैष्णवों का व्रत है। यह आश्विन शुक्ल

11 से आरंभ होकर एक मास का व्रत था। मंदिर में 30 दिनों तक रहना पड़ता था। 30 दिनों के उपरांत ब्रह्म भोज और ब्राह्मणों को दान। ऐसा करनेवाला अपने को और परिवार के लोगों को स्वर्ग ले जाता है। (द्रष्टव्य पद० 30 'कोई रामजन कोई **मसवासी**।') **मूड़ना** < मुण्डयति; **मुड़ाना** प्रा० मुंडाविअ < मुण्डापायति।

कबीर **मसवासी** (मासोपासक) को संबोधित साभिप्राय कर रहे हैं। इस व्रत से स्पष्ट है कि बाह्याचार ही मुख्य था पुराणों में। कबीर का विरोध इसी अंधपरंपरा से है।

'छिताई चरित' (सं० हरिहरनाथ द्विवेदी) में **'मसवासी'** बनकर छलने का वर्णन है। छिताई के चारित्र्य को बिगाड़ने के लिए दो दूतियाँ मसवासी भेष में जाती हैं 'वारनि किए भगवे कपुरा। कीन्हीं मसवासी की कला।' ये दूतियाँ 'तपा, तपोधन' का भेष बनाकर चलीं। ये दूतियाँ वैष्णव लग रही थीं—वैष्णव टीका माथ में, रामनामी टोपी सिर पर, हाथ में सुमिरिनी और गले में जपमाला।

पाठान्तर : **मसबासी** पाठ डॉ० गुप्त की प्रति में है, **मैवासी** नागरी प्र० सभा में है। द्रष्टव्य सा० 469, 462 में प्रयुक्त (**मैंवासा**)।

कबीर मूंड मुंडावत दिन गये, अजहुँ न मिलिया राम।
रामनाम कहु क्या करै, जे मन के औरे काम ।। 14 ।। 450

भावार्थ : कबीर कहते हैं व्रत-उपवास-तीर्थ मुण्डन से राम नहीं मिला वैष्णव भक्तों को—फिर भी उन्हें ज्ञान नहीं। मूल तत्व है मन—वह तो लगा है बाह्य भेष-आचरण-मान्यताओं में, वह तो लगा है व्रत-तीर्थ में, ब्राह्मणों को खिलाने-पिलाने और उन्हे दान देने में। इससे तो न स्वर्ग मिलेगा और न भक्ति। भक्ति भाव के लिए भगवान पर भरोसा—विश्वास रखना होगा। सब प्राणियों को समान समझना होगा—सब के प्रति शुद्ध भाव। तुल० साखी 452 **मूंड, मूंड़** < **मूर्धन्**।

मन के औरे काम : मन को लगना है परमार्थ में, पर-सेवा में, औरों की चिंता में, पर वह लगा है पाखंड में, व्यभिचार में, लोक के अंध आचरण में। यह जीवन की बरबादी है। कबीर मूल सत्य की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। आज कबीर की अपेक्षा है। **औरे** < अपर, दूसरा (307.359)

स्वांग पहरि सोहरा (सोरहा ?) भया, खाया पीया खूंदि।
जिहि सेरी साधू नीकले, सो तौ मेल्ही मूंदि ।। 15 ।। 451

भावार्थ : कबीर भोगी साधुओं, बनावटी मसवासियों और पाषंडी पंडितों पर व्यंग्य कर रहे हैं—भेष धारण कर—स्वाँग पहनकर ये सोहर=सुन्दर लगते हैं। ये डटकर खाते-पीते हैं। जो रास्ता या गली सच्चे साधु की है उससे ये दूर हैं—उस भक्ति पद्धति को इन्होंने तिरस्कृत कर रखा है। ये तांत्रिक शैवशाक्त न ईश्वर के प्रति सच्चे हैं और न इनका औरों से शुद्ध व्यवहार है।

विवृति : **स्वांग** संस्कृत । **सोहरा** = सोहर < शोभ **खाया पीया खूँदि** = उछलकूद कर खाया पीया; मौज उँड़ाया (स्कुंदते > कूदता है, स्कुद् = कूदना)। पदमावत 214 'चढ़ै तो जाइ बार वह खूँदी।' 214 **नीकले** = निकले । **निष्कालयति** (कल् = उकसाना) = निकालना; *निष्कलति = निकलता है । **सेरी** (सा० 276) **मेल्ही** (सा० 9)। **मूंदि** = मूंद दिया, मुद्रित किया, मुद्रा (मुद्रयति, प्रा० मुंद्देइ, मूंदना)। **जिहि सेरी साधू नीकले** = साधु का (ईश्वर-प्राप्ति का) मार्ग संकीर्ण है, वहाँ भोग की गुंजाइश नहीं—वहाँ मन को नियंत्रित करना है, निश्छल होना है, शुद्ध हृदय होना है, सर्वत्र उसी को देखना है ।

कबीर बैश्नो भया तो का भया, बूझ्या नहीं बमेक ।
छापा तिलक बनाइ करि, दग्ध्या लोक अनेक ॥ 16 ॥ 452

भावार्थ : कबीर का कथ्य है बाह्य भेष धारण कर मसवासी (सा० 449) वैष्णव नहीं है—वह धूर्त छली है । वह स्वाँग की कला में निपुण है । इस स्वाँग से वह लोक को ठगता है, पैसे ऐंठता है । वह लोक को मूलभाव से हटाकर सांसारिक विषय ज्वाला में जला रहा है । ऐसे वैष्णव जन का विवेक नष्ट है । वह जानता-बूझता नहीं—उसमें समता, करुणा, सेवा, अहिंसा का भाव नहीं है ।

विवृति : **बूझना** = जानना, ज्ञान होना । **बूझ्या नहीं** : बुद्ध नहीं हुआ—बुध्, बुध्यते, पा० बुज्झति, प्रा० बुज्झइ, बूझब । **बमेक** (सा० 385 बुधि-बमेक) < विवेक । **बूझ्या नहीं बमेक** = भ्रम में फँसा रहा; ज्ञान नहीं हुआ कि साईं घट-घट में है, भीतर है; उसे पाने के लिए भेष की अपेक्षा नहीं । **दग्ध्या** = दग्ध किया । दह्, दहति, हि० दाधना, सं० दग्ध > पा० दद्ध; (दाझणा—सा० 1(2)। **छापा** (छापना < *छप्प = दबाना)।

कबीर तन कौं जोगी सब करैं, मन कौं बिरला कोइ ।
सब सिधि सहजै पाइये, जे मन जोगी होइ ॥ 17 ॥ 453

भावार्थ : तन के भीतर मन है । तन को जोगी का भेष धारण कराना सहज है, मन को इन्द्रिय की वासना से हटाकर राम में लगाना कठिन । यदि मन वश में रहे—उसकी चंचलता मिटे तो सभी सिद्धि सहज-सुलभ है । तुल०

कबीर इस मन कौ मैदा करौं नान्हाँ करि करि पीसि ।
तब सुख पावै सुंदरी, ब्रह्म झलकै सीसि ॥ 52.4

विवृति : कबीर का व्यंग्य उन बैरागी-जोगियों पर है जो घट में ईश्वर की अनुभूति न करके स्यंघल (सिंहल) द्वीप जाते थे पद्मिनी की खोज में—

कबीर खोजी राम का, गया जु स्यंघल दीप ।
राम तो घट ही भीतर रमि रह्या, जौ आवै परतीत ॥ 53.4

कबीर यहु तौ एक है, पड़दा दीया भेष ।
भर्म कर्म सब दूरि करि, सबही माँहि अलेष ॥ 18 ॥ 454

भावार्थ : कबीर कहते हैं वह मूल तो सर्वत्र है, घट-घट में है, वह अलक्ष्य सब में व्याप्त है यह तो लेष (संसार) है जहाँ भिन्नता दिखाई पड़ती है। लोग अलग-अलग भेष में हैं यही पड़दा है—भीतर तो वही एक। इस भिन्नता में बाह्य कर्मकाण्ड वृद्धि कर रहा है। लोगों को, इस भ्रम को दूर करके, उस एक का साक्षात्कार करना चाहिए। यही अगली साखी में भी—

कबीर भर्म न भागा जीव का, अनत ही धरिया भेष।
सतगुरु परचै बाहिरा, अंतरि रह्या अलेष ॥ 19 ॥ 455

भावार्थ : कबीर संसार की भेद-बुद्धि पर तरस खाकर कह रहे हैं कि लोग भेष (स्वांग) के फेर में पड़े हैं—पंडित तिलक माला धारण करके अपने को ज्ञानी और भगवद्भक्त मानता है पर यह उसका भ्रम है। भगवान तो भीतर हैं उनको भेष से क्या लेना-देना। भेष तो धोखा के लिए है—मसवासी का भेष धारण कर लोग ठगते हैं। (साखी 449)

कबीर का बल गुरु-दीक्षा पर भी है--गुरु ही ईश्वर से परिचय कराता है—उसी के द्वारा परमपुरुष का बोध होता है। उसके बिना भीतर बैठे अलक्ष्य की ज्योति अप्रकाशित ही रहती है, अथवा लेष-अलेष में भेद बना रहता है।

भ्रम दूर करने पर बल है कबीर का—

कबीर साँई तन मैं बसै, भ्रम्यौ, न जाणौं तास।
कस्तूरी के मृग ज्यूं, फिरि फिरि सूंघै घास ॥ 53.3

कबीर जगत जहंदम राचिया, झूठे कुल की लाज।
तन बिनसे कुल बिनसिहै, गह्यौ न राम जहाज ॥ 20 ॥ 456

भावार्थ : कबीर का बल निरपख होने पर है—पक्षधर तो पुरानी लकीर पीटता है, कुल की परंपरा निबाहता है, अपने पूर्वजों की तरह धंधे में—लोभ-मोह-छल—में फँसा रहता है। उसमें समता (अभेद) की दृष्टि का विकास नहीं हो पाता। वह शरीर-कुल पर मुग्ध होता है। सचाई यह है कि लोक-वेद की रीति छोड़ कर अपने भीतर और घट-घट में रमनेवाले ईश्वर को ढूंढ़े। यही निरपख का पथ है। कुल का सम्बन्ध तन से है, शरीर के नाश के साथ कुल का अहंकार समाप्त—ऐसे कुल पर क्या गर्व !

कबीर भवसागर से पार जाने के लिए 'राम जहाज' का आश्रय-सहारा लेने की सलाह देते हैं। **संसार पर राचना**=संसार के पीछे पड़ना, उसमें मन रमाना। संसार से मन हटाकर हरि चरणों से प्रीति करे तो माया पास न फटके—

'जे हरि चरणां **राचिया** तिन के निकट न जाइ' ॥ 379

तथा 'जे **राचे** बेहद सूं तिन सौं अंतर खोलि'। 260

राचना<रज्, रज्यते, रक्त=लुभाया हुआ। पा० रत्त। (सा० 379)

गह्यौ न राम जहाज—जीव उस पक्षी की तरह है जिसे केवल जहाज ही आश्रय है—'अब मन थक्यो सिंधु के खग ज्यौं, फिरि-फिर **सरन जहाज**।' (सूर 3776)

जहंदम<जहन्नुम = नरक । **जहंदम राचिया** = संसार में रमकर व्यभिचार किया (साखी 583) । जगत् नहीं बुरा है बुराई है आसक्ति, मैं-पर का भाव ।

कबीर पष ले बूड़ी पृथमी, झूठे कुल की लार ।
अलष बिसार्‌या लेष में, बूड़े काली धार ।। 21 ।। 457

भावार्थ : कबीर लेष (संसार) को व्यभिचार की प्रधानता के कारण निंद्य मानते हैं । झूठा कुल अर्थात् झूठा संसार (सा० 424) । कबीर का कथ्य है कि झूठे संसार का पक्ष ग्रहण करके यह पृथ्वी डूब रही है । सांच अर्थात् परम पुरुष (राम) को छोड़कर लोग असत्य (माया) के फंदे में फँसे हैं । हमारा भर्त्तार-कर्त्तार वही अलष है अतः उसका पक्ष ग्रहण करें—संसार का पक्ष छोड़कर निरपष बनें अन्यथा काल की धार में डूब जायँगे । तुल० 413 ।

विवृति : **पष**<पक्ष । **बूड़ी**<प्रा० बुड्डइ (सा० 110, 177, 262) ।—**झूठ**<प्रा० झुट्ठ (सा० 413) । **अलष**<अलक्ष्य, लेष (लष)<लक्ष्य (सा० 145) **बिसार्‌या, बिसारिया** (सा० 415)<विस्मारयति = भुलाता है । (वि + स्मृ = भूलना) । गु० विसारवुं पं० विसारणा, कु० विसारणौं, अव० बिसारइ, हि० बिसारना । लार<लल् = प्यार करना (सा० 424) **काल** (= काली) यम । कालीधार अर्थात् नरक (जहन्नुम) । जब तन नहीं तो कुल नहीं—सब नश्वर की नदी वैतरणी ।

कबीर चतुराई हरि नां मिलै, ए बातां की बात ।
एक निस्प्रही, निरधार का, गाहक गोपीनाथ ।। 22 ।। 458

भावार्थ : कबीर कहते हैं बातों की बात (अर्थात् सारतत्त्व) यह है कि चातुर्य भाव से हरि नहीं मिलते । जो चतुर है, पटु है, छल-छद्म में प्रवीण है उसे भगवान का आश्रय नहीं । गोपीनाथ गुणग्राहक है—वे गोपियों के सहजभाव पर रीझे थे; श्री कृष्ण उसके हैं जो असहाय (निराधार), आश्रय रहित और निस्पृही (= इच्छा रहित) हैं । भगवान का भक्त स्वर्ग की भी कामना नहीं करता ।

निस्प्रह<निस् + स्पृह निःस्पृह = कामना शून्य, सांसारिक बंधनों से मुक्त (स्पृह् = इच्छा करना, स्पृहयति) ।

गाहक<ग्राहक = ग्रहण करने वाला, ग्रह्—गृह्णाति, गृहीत । यहाँ गाहक थामनेवाला, स्वीकार करनेवाला समझनेवाला के आकूत में है यथा, 'स्याम **गरीबनि हूँ के गाहक**' । 1.19 सूर । '**जन गुनगाहक राम** दोष दलन करुना यतन ।' (मा० 1, 336) । **गोपीनाथ** = गोपियों को अंगीकार करनेवाले श्री कृष्ण । कबीर का यह प्रयोग साभिप्राय है—भगवान गुणपर, हृदय की निर्मलता और निष्काम भाव पर रीझते हैं चतुरता (कपट) और दिखावे पर नहीं । 'ज्ञान ध्यान को मरम न जानै चतुरहिं चतुर कहावै' 4633 सूर । '**लखहि** न भूप कपट **चतुराई** ।' मा० 2.27 । **कबीर के शब्द-प्रयोग** भाषासौष्ठव के परिचायक हैं । **बातां की बात** = सौ बात की एकै बात' 7/2 सूर ।

नवसत साजे कामनीं, तन मन रही संजोइ।
पीव कै मनि भावै नहीं, पटम कीयैं क्या होइ ॥ 23 ॥ 459

भावार्थ : कबीर बाह्य भेष और सजावट को महत्व न देकर भीतरी निर्मलता-सहजता-प्रेम को महत्व देते हैं—भक्ति में, प्रियतम के प्रेम में अलंकरण की अपेक्षा नहीं अपनी बात को सुबोध बनाने के लिए वे एक अन्योक्ति का सहारा लेते हैं—कामिनी सोलहो शृंगार (नव + सत) से सजी है और तन मन से अपने को आकर्षक बनाने की संयोजना करती है पर यह पटिमन् = चतुरता किस काम की यदि पिय के अनुकूल न हो—जो प्रिय को भावे वही शृंगार श्रेयस् है। लक्ष्य है प्रियतम की प्रसन्नता न कि अपनी रुचि और अपनी कलात्मकता।

नवसत—'नवसत साजि सिंगार जुबति सब।' 10.1500 सूर। साजे<सज्जा = साजन, सजावट (सज्ज्, सज्जयति)। **संजोइ**<संयोजयति (युज्)। **मनभाना**। अच्छालगना, 'सुक सनकादि संभु **मनभावनि**' (मा० 7.123)। 'बार बचन कहैं **मनभावने**' 10.4183 सूर। भावयति (भू = होना) = रुचिकर लगता है (मभा०) **भावै** (सा० 21) **पटम** = पटुता, चतुरता। कबीर के शब्दों का क्रम प्रभविष्णु है—'नववसत' का प्रयोग आरंभ म होने स उस पर पाठक का ध्यान आकृष्ट होता है। नव + सत महत्वपूर्ण नहीं, महत्व है मनभाने का—'पटम कीयैं क्या होइ' नवसत की निरर्थकता को स्पष्ट करता है। 'नवसत साजे कामिनी' को जायसी ने इस प्रकार कहा है—'अस बारह, सोरह धनि साजे।' 300 पद०। 'बारह सोरह साज बनाए' 403/2 चित्रावली (उस्मानकृत)। **पटम**<पटिमन्। चतुराई।

जब लग पीव परचा नहीं, कन्यां कंवारी जाणि।
हथलेवा हौंसे लीया, मुसकल पड़ी पिछांणि ॥ 24 ॥ 460

भावार्थ : कबीर उस परमपुरुष के साथ ऐक्य की बात कर रहे हैं—उस प्रियतम से एकमेक होना ही जीवन की सार्थकता है जीव या मनुष्य कुमारी (अविवाहित) की भाँति है। कबीर कहते हैं देखने में लगता है प्रियतम प्राप्त करना सहज है पर एक बार पति से परिचय हो जाने पर जो बिरहानुभूति होती है वह बड़ी कठिन और असह्य है। विरह-वेदना भयंकर है। अतः प्रेम देखने में सरल पर निभाहने में दुष्कर। कबीर की यह अपरोक्ष आत्मानुभूति गोपियों के प्रेम सदृश है। तु० साखी 35 प्रेम तन-मन सब कुछ निछावर करने का सौदा है। कबीर की भाषा-शैली प्रभविष्णु है। तुल० (विरह कौ अंग)

परचा<परिचय (ची), चिन्हारी, जानकारी, ज्ञान; इसी भाव में **पिछाणि** = पहचान<प्रत्यभिजानाति, मभा० (ज्ञा), प्रा० पच्चहियाण = चीन्हता है, पं० पछाणना हि० पहिचानना, पहछानना, मार० पिछाण्णो, गु० पिछाणवु। आत्मबोध होने पर ईश्वर प्राप्ति की तालाबेली असह्य होती है। **हथलेवा** = हाथ में लेना, हस्तकृत्य = हाथ में लेना, पाणौ कृ = हाथ में थामना, विवाह करना। पाणिग्रह अथवा प्राणिग्रहण। **हौंस** (सा० 4)<अरबी हवस, गु० होंश, हाश = उमंग। **मुश्किल पड़ी** = संकट उत्पन्न हुआ। **पीव परचा** = पूरे से परचा (35), पातिव्रत धर्म।

कबीर हरि का भावतां दूरै थै दीसंत ।
तन षीना मन 'उनमनां' जगि रूठणाँ फिरंत ।। 496

कबीर जिनि कुछ जांण्यां नहीं, तिन्ह सुख नींदड़ीं बिहाइ ।
मैं र अबूझी बूझिया, पूरी पड़ी बलाइ ।। 499

कबीर जिहि घटि जाण बिनाण हैं तिहि घट आवटणां घणा ।
बिन खंडै संग्राम है, नित उठि मन सूं जूझणा ।। 501

कबीर हरि की भगति का, मन मैं खरा उल्हास ।
मैंवासा भाजै नहीं, हूँण मतै निज दास ।। 25 ।। 461

कबीर मैंवासा मोई किया, दुरिजन काढ़े दूरि ।
राज पियारे राम का, नगर बस्या भरिपूरि ।। 26 ।। 462

भावार्थ :-कबीरदास भाव पर बल देते हुए कहते हैं कि हरि भक्ति में स्वामी होने का भाव (अहंकार) छोड़ना अनिवार्य है । अपने को मैवासी (गढ़पति, जमीनदार) मानकर कोई 'दास' नहीं बन सकता । स्वामित्व का गर्व और सेवाधर्म विरोधी हैं । जो लोग भेष धारण कर स्वामीरूप में विचरते हैं उनका मैवासा-भाव उनसे दूर नहीं रहता पर, वे अपने को दास होना मानते हैं । उनका यह उल्लास झूठा है ।

कबीर अपने संबन्ध में कहते हैं कि मैंने मैवासा भाव (स्वमित्वभाव) को निकाल डाला है और भीतर बसनेवाले दुष्ट भावों को निकालकर बाहर कर दिया है अथवा दुर्जनों का साथ छोड़ दिया है । और फलस्वरूप इस काया-नगरा में भरपूर राम प्यारे का राज्य है अर्थात् इस कायागढ़ का वही अधिपति है। हम उसके दास रूप में सुखी हैं । तुल० 429, 434, 445 **मोई किया,** प्रा० मोअइ<मोच्यति मुच् ।

उल्हास<उल्लास; हुलास । **भाजै**=भागता है दूर होता है (भज्, सा० 56,76,337) । **मतै**=मानता है, समझता है (सा० 273) **दुरिजन**<दुर्जन । **काढ़े दूरि**=दूर निकाल दिया; पा० कड्ढति प्रा० कड्ढइ=खींचना, म० काढणे, मारवाड़ी काढइ गु० काढवुं । (स० 411, 717) । **नगर** यहाँ शरीर का प्रतीक है ।

भरिपूरि—भरित+पूरित । **बस्या**=बसा (वस्=निवास करना, वसति प्रा० वसइ); पुरानी मार० बसइ, अवधी बसइ, मरा० वसणें ।

मैंवासा<अर० मआश=जागीर । मआशवार=जागीरदार, गढ़पति ।

दादू—सादीलवे हाजरि बंदा, हुकुमि तुम्हारे माहीं ।
जब ही बुलाया तब ही आया मैं **मेवासी** नाहीं ।।

सूर—गोरस चुराइ खाइ बदन दुराइ राखै, मन न धरत वृंदावन कौ **मवासी** ।
सूर स्याम तोहि घर-घर सब जानत है, इहाँ को है सो तिहारो जो हौ **बासी** ।। 2095

रही दै घूंघट पट की ओट ।
मनो कियौ फिरि मान **मवासौ**, मन्मथ बंकट कोट । 3387
मनहुं **मवासैं** आगि, अहो हरि होरी हैं । 3532

तुलसी—सिंधु तरे बड़े बीर दले खल, जारे हैं लंक से बंक **मवासे** । 18 हनुमान बा०
बिहारी—कुच उतंग गिरिवर गह्यो मीना मैन मवास । 104
मराठी—**मवास**=जमीदार 'लैंडलार्ड' । **मवासे**=गढ़पति (दोहा० 558) । □□

25. कुसंगति कौ अंग

[**संगति**—हरिसंगति, गुरुसंगति, साधुसंगति के आशय में है।]

कबीर निरमल बूंद अकास की, पड़ि गई भोमि बिकार।
मूल बिनंठा मानवी, बिन संगति भठछार॥ 1 ॥ 463

भावार्थ : कबीर ईश्वर-जीव पर विवेचन करते हुए कहते हैं कि जीव उसी मूल ब्रह्म का रूप है। संसार में आकर जीव कर्म-विकार अथवा माया के कारण अपने स्वरूप को विस्मृत कर देता है। फलतः मानव का मूल स्वरूप विकृत हो उठता है। विकारों से बचने के लिए हरिभक्ति की अपेक्षा है—हरिभक्तों की संगति चाहिए। इसके अभाव में मनुष्य भट्टी की राख सदृश बेकार है।

विवृति—'निरमल बूंद' प्रयोग आत्मा के लिए है। यह जीव कहाँ से आता है ज्ञात नहीं इसीलिए कबीर उसे 'अकास की निर्मल बूंद' कहते है। तुलसी दास के 'भूमिपरत भा डाबर पानी' में यही भाव है। जल का मूलरूप मलरहित है पर भूमि पर आकर वह विकारयुक्त हो जाता है।

कबीर की भाषा का कसाव और सामर्थ्य अद्वितीय है—एक दोहे में उन्होंने सारे दर्शन को समेट दिया है। जो लोग कबीर को अपढ़ और उनकी भाषा को अटपटी कहते हैं उन्हें ऐसी साखियों पर मनन करना चाहिए।

मूल बिनंठा=मूल बिकारग्रस्त हो गया। **बिनंठा**<विनष्ट, विकृत (नश् विनश्यति, हिं० बिनसना), प्रा० विणट्ठ, गु० विणठउं। नश्=नष्ट होना; विकार ग्रस्त होना, बिगड़ना 'कबीर राम नाम जाण्या नहीं वात **बिनंठी मूल**।' 242 'ते नर **बिनठे मूलि** जिन धंधे मैं ध्याया नहीं।' 231 **बिन**<विना, म० विणें, गु० विण। **भठ**<भ्राष्ट, प्रा० भट्ट। **छार**<क्षार=राख। **भठछार** का आशय है जीवन का मूल्य रहित अथवा व्यर्थ होना।

संगति (सम्+गम्)=मेल, साहचर्य। कबीर के संगति में 'हरि संगति' का भाव है—कबीर का कथ्य है कि भक्ति से ही मनोविकार-कर्म विकार नष्ट हो सकते हैं—

हरि संगति सीतल भया मिटा मोह की ताप।

निसबासुरि सुख निध्य लह्या जब अंतरि प्रकट्या आप॥ 152

कबीर का 'मूल' हरि का वाचक है—हरिसंगति-गुरुसंगति के बिना 'मूल' की प्राप्ति नहीं; मनुष्य मूल से अलग होकर सांसारिक ताप में भस्म होगा और उसका मूल्य राख समान होगा।

भोमिविकार=सांसारिक कर्मासक्ति। सूर—'हौं पतित अपराधपूरन भर्‍यौ कर्म विकार।' 1/126

कबीर मूरिख संग न कीजिए, लोहा चलि न तिराइ।
कदली सीप भुवंग मुखि, एक बूंद तिहुँ भाइ ॥ 2 ॥ 464

भावार्थ : कबीर व्यक्ति की पात्रता को महत्व देते हैं—यदि व्यक्ति स्वयं निर्मल होना चाहता है तभी गुरु का उपदेश अथवा सत्संग सहायक है। स्वाति नक्षत्र (15वाँ नक्षत्र) की बूंद भिन्न-भिन्न पात्रों में भिन्न भाव व्यक्त करती है—कदली (केला) में कपूर, सीप में मोती, और भुजंग में विष। यदि व्यक्ति हरिभाव को ग्रहण नहीं करता है तो उसे प्रबोधित नहीं किया जा सकता है लोहा प्रयत्न करने पर भी जल में तैर नहीं सकता—लोहा प्रतीक है मूर्ख का जो आत्मसुधार नहीं चाहता है।

तिराइ=तैरना, तिरना, ऊपर आना सं० तिरति (तृ)। **सीप**<शुक्ति। **भाइ**<भाव। **भुवंग**<भुजंग=सर्प।

कबीर हरिजन सेती रूसणां, संसारी सूं हेत।
ते नर कदे न नीपजे, ज्यूं कालर का खेत ॥ 3 ॥ 465

भावार्थ : कबीर हरिजन और विषयी पर विचार करते हुए कहते हैं यदि मनुष्य को आध्यात्मिक सुख शांति चाहिए तो उसे हरिजनों की संगति करनी चाहिए और विषयी स्वार्थी-लोभी से दूर रहना चाहिए। जो संसारी से प्रीति करेगा और हरिभक्तों का तिरस्कार वह कभी पनप नहीं सकता अपने असत्याचरण के कारण। जैसे ऊसर अथवा रेह में कुछ भी उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार जिसका मन दुर्भावों से भरा है, कपट से युक्त है, उसमें सतोगुण का उदय संभव नहीं है।

रूसणां<रुष् (सा० 358)। **हेत** (सा० 355) **कदे**<कदेन (सा० 49, 209, 399) नीपजे<निष्पद्यते (सा० 30, 130, 169)। **कालर**=कल्लर, लहंदा कल्लुर सिंधी कलरु=नमकीन मिट्टी; सं० ऊसर का यही अर्थ है।

कबीर मारी मरूँ कुसंग की, केली कांठे बेरि।
वो हालै वो चीरिये, साखित संग निबेरि ॥ 4 ॥ 466

भावार्थ : कबीर कुसंगति के प्रभाव का वर्णन एक दृष्टांत से करते हैं—केला यदि बेर के संग हो तो बेर के कांटे उसके पत्ते को चीर देते हैं—पत्ता हिलेगा तो पड़ोसी बदरी के कांटे उसे कष्ट देते रहेंगे। साखित (शाक्त) का संग इसी प्रकार का है हरिजन के लिए। शाक्त आचरणहीन होने से कष्टप्रद है। केला साधु स्वभाव का और बेर दुष्ट स्वभाव का द्योतक है।

विवृति : कांठे<कंठ (सा० 350, 365)। **बेरि**=बेर<बदर, बदरिका, बदरी। हालै प्रा० हलहलिअ=हिला हुआ *हलति; *हालयति। चीरिये<*चीरयति=फाड़ता है (सं० चीर=छाल या वस्त्र का टुकड़ा)। **साखित** (सा० 357) **निबेरि**=निवारण करो, दूर करो (निवारयति, निवारः,<वृ=ढकना; प्रा० निवारय, णिवारेइ, मार० निवारइ, गु० निवारवुं, म० निवारणें, मैथि० नेवारब।

मेर नीसांणी मीच की, कुसंगति ही काल।
कबीर कहै रे प्राणियां, बाणी ब्रह्म संभाल ॥ 5 ॥ 467

भावार्थ : कबीर अध्यात्ममार्ग का सारतत्व बताते हैं—मैं-मेरा-तेरा का भाव (माया) ही मृत्यु है और जगत् में कुसंगति ही कालसदृश है। इसलिए हे मानव ! इस वाणी से ब्रह्म (भर्त्ता) को स्मरण करते रहो उसी का सुमिरन और ममत्व कुसंग से बचा सकेगा।

विवृति : **मेर**<म, पा० मं, मया, मह्यम्, मम; प्रा० मं, ममं। पं० मेरा, हि० मेरा, गु० मारुं ने० मेरो। **मीच** मृत्यु<(मृ), पा० प्रा० मच्चु, प्रा० मीच्च, अवधी मीचु, हि० मीच, पं० मीच (सा० 102)। **संभाल** (सा० 412)।

कबीर माषी गुड़ मैं गड़ि रही, पंख रही लपटाइ।
ताली पीटै सिरि धुनै, मीठै बोई माइ ॥ 6 ॥ 468

भावार्थ : कबीर अन्योक्ति में पटु है। माया की मिठास में लिप्त मनुष्य को वे गुड़ में लिपटी मक्खी से सादृश्य देकर कहते हैं—मक्खी गुड़ की लालच में उसमें फंस गई अब वह उस मीठे से नहीं निकल पा रही है परेशानी में वह हाथों से ताली पीट रही सर धुन रही है पर सब व्यर्थ, अब तो वह मीठे में गड़ चुकी है।

विवृति : **माषी**<मक्षा, मक्षिका (ऋव०) प्रा० मक्खिका, मक्खिआ। **गुड़**<गुड, ने० गुड़, बं० गुड़, म० गूड़, प० गुड़। **गड़ि रही**=गड़ गड<गड्=गिरता है, चूता है, गडति। **लपटाइ** (सा० 221, 346)। ताली<ताल, तालो। **पीटै**<पिट्टयति प्रा० पिट्टेइ, पिट्टइ, ने० पिटनु, अवधी पीटब, गु० पीटवु म० पीटणें।

सिर<शिरस् (ऋव०)। **धुनै**=धुनती है (धू=हिलना; सीस धुनइ (कीर्तिलता 2.28)। मीठ<मिष्ट। **माइ** (सा० 101)। **बोई**<वप्, उप्त=बोया हुआ।

कबीर यहु जग कुछ नहीं षिन षारा षिन मीठ। 46.15
कबीर माया मोहणी जैसी **मीठी** खाड। 321
लोभ मिठाई हाथि दे आपण गया भुलाइ। 98

कबीर ऊँचै कुल क्या जनमिया जे करणीं ऊँच न होइ।
सोवन कलस सुरै भर्‌या साधौ नींद्या सोइ ॥ 7 ॥ 469

भावार्थ : कबीर करनी (कर्म) पर बल देते हैं। कुल से कोई ऊँचा नहीं। ऊँचा वह है जिसका आचरण शुद्ध—नम्र, कपटरहित हो। जो वेशमात्र से ऊपर हो। वेष या दिखावा महत्व नहीं रखता—सोने के घड़े में यदि शराब भरी हो तो उस घड़े की प्रशंसा कौन करेगा ? यह शरीर कलस सदृश है इसके भीतर कुविचार ही सुरा है।

कबीर ऊँचे कुल के अभिमान मिटाने के सम्बन्ध में अन्यत्र कहते हैं—

कबीर कुल खोया कुल ऊबरै कुल राख्यां कुल जाइ। 255

विवृति : **ऊँच**<उच्च। **करणी**<करणीय मभा० (कृ०)। **सोवन**<सुवर्ण। **कलस**<कलश, मारवाड़ी कलस, हिं० कलस, कलसा। **सुरै**<सुरा (ऋवे०) **भर्‌या**<भरित भृ=धारण करना। (सा० 462)। **साधौ**<साधु (साधु) भर्तृहरि के 'नीति शतक' (99) में 'हे साधो' प्रयुक्त है। **नींद्या**<निन्दा। **सोइ**<सः (तुलसी सोइ=वही)।

□□

26. संगति कौ अंग

['जैसी संगत तैसी बुद्धि' यही कबीर की भी मान्यता है। संत की संगति से बुद्धि-हृदय-निर्मल होगा और दुर्जनों के सम्पर्क में आचरण भ्रष्ट ।]

कबीर देखादेखी पाकड़ै, जाइ अपरचै छूटि।
बिरला कोई ठाहरै, सतगुरु साम्ही मूठि ॥ 1 ॥ 470

भावार्थ : कबीर हरिभक्ति के प्रति सच्ची श्रद्धा पर बल देते हुए कहते हैं कि जो मनुष्य देखा-देखी भक्ति मार्ग पर चलता है वह भक्ति की कठिनाइयों से जूझ नहीं पाता, वह मन की दुर्वासनाओं से लड़ नहीं पाता फलतः वह उस परमपुरुष भर्ता का परिचय नहीं प्राप्त कर पाता । दिखावटी साधक गुरु द्वारा प्रेरित बाणों को सहन नहीं कर पाता, भक्ति के उदय होते ही उस प्रिय से मिलने की जो उत्कंठा की आग जलती है उसे कोई-कोई ही सह सकता है ।

विवृति : देखा देखी=एक दूसरे की नकल । **पाकड़ै**=पकड़ता है<प्रा० पग्गइ, पं० पकड़णां, कु० पकड़णे, ने० पकरनु हि० पकड़ना; *पक्कड । **अपरचै** (अ+परचै=परचै यथा अपरबल=अ+प्रबल—अवधी प्रयोग सा० 121) **छूटि जाइ**=छूट जाता है; प्रा० **छुट्ट**=मुक्त<*क्षुट्यते; पं० छुट्टणा, ने० छुटनु, मार० छूटणा, हि० छूटना । **बिरला**<विरल (सा० 381) **ठहरै**=ठहरता है, स्थिर होता है<**स्तंभ्**=स्थिर या दृढ़ होना ***स्तभिर**=स्थिर ने० ठहरनु, पं० ठहिरना (ठहराइ सा० 369) । **साम्ही**< सम्मुख, सम्मुखी=सामने । **मूठि**<मुष्टि (मुष्टि देशः=धनुष के बीच का भाग जो हाथ से पकड़ा जाता है) :

सतगुर मार्‌या बाण भरि, धरि करि सूधी **मूठि** ।
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूटि ॥ 8

कबीर देखादेखी भगति है, कदे न चढ़ई रंग।
बिपति पड़्या यूं छाड़िसी, ज्यूं कंचुली भुवंग ॥ 2 ॥ 471

भावार्थ : भक्ति भीतर से उपजती है—यह सर का सौदा है। देखा-देखी भक्ति करने वाला उन संकटों, कष्टों को झेल नहीं सकता जो ईश्वर-मिलन की तीव्र उत्कंठा से उत्पन्न होती हैं। देखादेखी प्रेममार्ग पर चलनेवाला वासनाओं को त्याग नहीं सकता क्योंकि विषय-भोग से मुँह मोड़ने में शरीर को कष्ट होता है। कबीर कहते हैं प्रेमानुभूति का रंग तभी चढ़ता है जब आत्मशुद्धि की ओर मनुष्य बढ़े—देखादेखी भोग हो सकता है वैराग्य नहीं; जिसमें दृढ़ता नहीं अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने की वह विचलित हो जाता है थोड़े ही लोभ-मोह से। जैसे भुजंग (सर्प) केंचुल छोड़ता है और फिर उसकी

ओर देखता नहीं उसी प्रकार नकलची—पाखंडी साधक कष्ट पड़ते ही भक्तिभाव से मुँह मोड़ लेता है और फिर उधर ताकता भी नहीं। सच्चा भक्त सर पर आरा चलने पर भी अद्वैतभाव नहीं छोड़ता। (सा० 473)

विवृति : **देखादेखी** (सा० 470); **कदेन** (सा० 209, 465) **रंग चढ़ना**=हरिरंग में रंगना=ईश्वर प्रेम। **चढ़ना**<प्रा० चडइ=ऊपर बैठना; रंग चढ़ना=रंग से ओतप्रोत होना, रंगमय होना, भोज० **चढ़ल**, अव० चढ़इ, मैथिली चढ़ब, म० चढणे ने० चढ़नु। **रंग** (सं०)<रंज् प्रा० रंग=लाल रंग (प्रेम-अनुराग का रंग लाल माना जाता है) पड़्या=पड़ने पर (सा० 262, 361); **छाड़िसी**=छोड़ता है=छोरयति=अलगकर देता है, छोड़ना=मुक्त होना हिं० **छोरना**। **यूं**<एवम्=इस प्रकार प्रा० एवं, अप० यूँजि। **ज्यूं**<अप० जओ, जञे, जञो (कीर्ति०)। **कंचुली**<कंचुलिक (सा० 398); **भुवंग**<भुजंग (सा० 219)।

कबीर मानसिक भावों के चितेरे हैं—लक्ष्य के प्रति जिनमें आस्था, दृढ़ता नहीं होती वे किस प्रकार परमार्थ-पथ से विमुख हो जाते हैं यह बड़े सटीक ढंग से कबीर ने अभिव्यक्त किया है। जो लक्ष्य के प्रति समर्पित हैं उनकी दृढ़ता को भी कबीर अंकित करते हैं—

> कबीर करिए तौ करि जांणियै, सारीषा सूं संग।
> लीर लीर लोई थई, तऊ न छाड़्या रंग॥ 3 ॥ 472

भावार्थ : कबीर कहते हैं संगति करे तो राम सरीखे संत (485) की जिससे जीवन ज्ञानमय हो, प्रीतिमय हो और रामरंग में डूब जाय। सत्संग से दृढ़ता आती है और कष्ट होने पर भी साधक विचलित नहीं होता यथा कोई चिथड़े-चिथड़े हो जाय तब भी अपना मूल रंग नहीं छोड़ती। उत्तम संग से ही उत्तम गुण आते हैं। 'करिए तौ करि जाँणियें' का भाव है संग ऐसा करे जिससे ज्ञान हो, ईश्वर-बोध हो; मनुष्य मूल (ईश्वर) को न छोड़े।

विवृति : **जांणिया**—कबीर का यह विशिष्ट प्रयोग है—'जो वो एकै **जाणिया**, तौ जाण्या सब जाण।' 200 **सारीखा**<सदृक्ष (सा० 485)। **लोई**<लोमन्* लोमीय। **छाड़्या**=छाड़ना, छोड़ना (सा० 471) **लीर** (पं०)=चिथड़ा, टुकड़े-टुकड़े; लहँदा लीर। **थई**<प्रा० थाइ (स्था), पुरानी गु० थाइ=हो जाता है। रंग **चढ़ना**, रंग **छाड़ना** (छोड़ना) मुहावरे हैं। **तऊ**=तब भी सं० ततस्>पा० ततो, अप० तउ (की० 3.20) तवे (की० 2.140) तञो (की० 3.7) तइ (की० 4.249) तए, तो, पं० तउ तउ (सू० 1.56), तऊ (सू० 1.117) ताऊ (सू० 10.2634)। तथापि>ने० तइ, अस० तेओ, मै० तइओ, सिं० तव; अप० तव्वहुँ (कीर्ति० 3.23), तबहु (की० 3.116); तइयो, तहियों (कबीर)।

> कबीर यहु मन दीजै तास कूं, सुठि सेवग भल सोइ।
> सिर ऊपरि आरा सहै तऊ न दूजा होइ॥ 4 ॥ 473

भावार्थ : कबीर संगति पर विचार करते हुए कहते हैं कि साधक को उसी के साथ सम्पर्क बढ़ाना चाहिए अथवा उसी का भरोसा करना चाहिए जो भला हो, हरि का अच्छा सेवक (भक्त) हो और जो अपनी भक्ति-साधना इतना दृढ़ हो कि विपत्ति—कठिनाई आने पर भी हरिमय बना रहे—सिर पर आरा भी चलाया जाय तब भी ईश्वर से अद्वैतभाव (द्वितीय अथवा भिन्न होने का भाव नहीं) अथवा 'ब्रह्माऽस्मि' भाव। आपा नहीं।

विवृति : **मन दीजं** = मन देना—समर्पित होना। **तास कूं** = उसको। **सुठि** < सुष्ठु प्रा० सट्ठु, सुट्ठु **सेवग** < सेवक। **भल** < भद्र प्रा० भल्ल (सा० 374) **सोइ** < सः (सा० 469) **सिरि** शिरस् प्रा० सिर (सा० 175, 261) **ऊपरि** < उपर * ऊपर हि० ऊपर, बं० उपर्। सहै = सहता है (सह्, सहइ (प्रा०), सं० सहते, (पा० सहति; पुरा० मार०, पुरा० गु० सहइ, गु० सहवु)। **तऊ** (472) **होइ** = होता है (भू); होता (294) **दूजा** < पा० दुतीय प्रा० दुज्ज = दूसरा; गु० दुजु, म० दुजा (सा० 26, 543, 655)।

> कबीर लोग बिचारा नींदइ, जिनहि न पाया ग्यान।
> राम नाइ राता रहै, तिनहं न भावै आन॥ 770
> जौं करवत सिर सारै, मरत न मोरौं अंग। 246 पद्मावत

> कबीर पांहण टांकि न तोलिए, हाडि न कीजै बेह।
> माया राता मानवी, तिनसूँ किसा सनेह॥ 5॥ 474

भावार्थ : कबीर माया में रत मनुष्य से नेह करने अथवा उसकी संगत करने के विषय में हमें सावधान करते हैं क्योंकि विषयी हरिभक्ति की ओर ध्यान नहीं देता। कबीर एक सादृश्य से अपना भाव स्पष्ट करते हैं—पत्थर को टंक से नहीं तोला जा सकता है और न हाड़ (हड्डी) में छिद्र करने का प्रयास करना चाहिए।

विवृति : **पाहण** < पाषाण, **टांकि** < टंक = 4 माशा (रत्ती, माशा, तोला) **तोलिए** < तुल् तोलयति, प्रा० तोलइ, तोलइ **हाडि** < हड्ड। **कीजै** < कृ, करोति, (हि० करना) क्रियते, किज्जइ, पुरा० मै० कीजइ, हि० कीजिए (नम्रता सूचक), पु० मार० कीजे, पु० गु० कीजइ। **बेह** < वेध = छिद्र व्यध् = छेद करना, विध्यति प्रा० वेह (हाड़ हाड़भए बेह पद० 473) पं० वह बेह, गु० वेहे। **राता** रञ्, रज्यते = आनन्द लेता है, रक्त (अनुरक्त, आसक्त) > प्रा० रत्त = आनंदित, अवधी रातइ, म० रातणे। **सूँ** = से (सा० 260) अप० स्यु < सम – समान, साथ; म० सउ, सउ = साथ, से, हि० सउ, सउ सूं **किसा** < कीदृश पा० कीदिस प्रा० कीइस, कीसा पु० मार० किसो, अप० कईसा, अवधी कइस, कैस। **मानवी** < मानव, मानवी (स्त्री०) **सनेह** < स्नेह (स्निह्, स्निह्यति, स्निग्ध)

> कबीर तासूं प्रीति करि, जो निरबाहै ओड़ि।
> बनिता बिबिध न राचिये, देषत लागै षोड़ि॥ 6॥ 475

भावार्थ : कबीर ऐसी संगति करने की सलाह देते हैं जो अंत तक निबाहे—प्रीति

होता है, रूप के फंदे में फंसना उचित नहीं है। कबीर का बल हरिप्रीति पर है जहाँ विषय-भोग का आकर्षण नहीं। प्रीति = तनमन सौंपना (सा० 651)

विवृति : **ओड़ि** = ओरि = ओर < अवरा < अवर = किनारा पं० ओर, ने० ओर, अस० ओर = अंत, मैथि० ओर = किनारा, अंत, तरफ। **ओर निबाहना** = अंत तक निर्वाह करना। **निरबाह** < निर्वाह, निर्वाहयति, अवधी निबाहइ (वह्); निबहना < नि हृति। **बिबिध** < विविध। **राचिये** (राचना = रातना, अनुरक्त होना, तुलसी—'रूप राचही' (क० 1/14); रज् = आसक्त होना, प्रसन्न होना (सा० 379, 380)। **खोड़ि** = खोरि (खोर) = बुराई, कलंक, दोष, गु० खोर, म० खोड प्रा० खोडि, पु० गु० खोडि < *खोटि (खोट < *खोट्) **देखत** = देखते ही देखते हुए, **देखइ** (= देखना), पं० देखणा कु० देखनो, मै० देखब < दृश् *देक्षति। **लागँ** = लगता है लग्, लग्यति, पा० लग्गति, प्रा० लग्गइ, अवधी लागइ, मै० लागब, पु० मा० लागइ, कु० लागनो = चिपट जाता है— **लागँ खोड़ि** = दोष से युक्त होना। **देखत लागँ खोड़ि** = दृष्टि पड़ते ही पाप लगना।

भर्तृहरि ने नीतिशतक में कहा है—'कान्ताकटाक्ष विशिखा न लुनन्ति यस्य' = जिस पुरुष के चित्त को स्त्रियों के कटाक्षरूपी बाण नहीं बेधते……वह धीर दोनों लोकों को जीत लेता है।

कबीर मन पंखी भया, उड़ि उड़ि दह दिसि जाइ।
जो जैसी संगति करै, सो तैसा फल खाइ॥ 7 ॥ 476

भावार्थ : कबीर संगति के प्रभाव पर बल देते हैं—जैसी संगति तैसी बुद्धि। कबीर का कथ्य है कि संगति यदि विषयीजनों की है तो विषय की ओर ही मन जायगा, यदि संगति आत्मशुद्धि की ओर लगनेवालों की है तो आप निर्मल विचारोंवाले बनेंगे।

विवृति : **दह** < दश। दिसि < दिशा। **जाइ** (सा० 362) **जैसा** < यादृश, पा० यादिस, प्रा० जैसा; अवधी जैसा; जसा, गु० जसु; म० जैसा, जसा। **करै** (कृ, करोति)। **तैसा** < तादृश, प्रा० तादिसु अप० तैसा; म० तैसा, तसा; गु० तसु, कु० तसो। **खाइ** < खादति (362) मन की अस्थिरता के कारण उसे पक्षी सदृश कहा गया है।

कबीर काजल केरी कोठरी, तैसा यहु संसार।
बलिहारी ता दास की, पैसि रे निकसणहार॥ 8 ॥ 477

भावार्थ : कबीर विषयप्रधान संसार को काजल की कोठरी कहते हैं अर्थात् कितना भी बचकर रहे मनुष्य विषय के प्रलोभनों से बचना कठिन है। इससे बचने का एक ही मार्ग है—हरिभक्ति—भक्त भगवान के चरणों में अपना चित्त लगाकर विषयों से उदास रहता है। उस दास पर कबीर अपने को निछावर करते हैं जो संसार में रहकर भी अनासक्त है। यही भाव 'साध कौ अंग' साखी 492 में भी है।

विवृति : **काजल** < कज्जल (सुश्रुत) प्रा० कज्जल, गु० काजल, म० काजल। **पैसि** = पैठकर, प्रविष्ट, प्रविशति (विश् = घुसना, भीतर जाना) **बलिहारी** (सा० 2)। **निकसना** (कस् = जाना, हटना, कसति; पं० निकसणा गु० निकसवु, मै० निकसब *निष्कसति।)

27. असाध कौ अंग

कबीर भेष अतीत का, करतूति करै अपराध ।
बाहरि साध गति, माहैं महा असाध ॥ 1 ॥ 478

भावार्थ : कबीर साधु-असाधु का अंतर बताते हुए कहते हैं कि जो असाधु है वह बाहर में साधु का आवरण-भेष रखता है पर भीतर विपरीत आचरण का भाव । भेष अतीत (मायातीत, विषयातीत) का और कर्म चरित्रहीनों जैसा ।

विवृति : **अतीत** (सा० 176) **दीसै** = दिखाई पड़ता है, दृश् दृश्यते पा० दिस्सति प्रा० दिस्सइ, **दिसइ** (देख पड़ता है) । **साध गति** = साधु का रूप, भेष-आचरण; तु० हंस गति, स्वान गति (371) । **माहैं**<मध्य = भीतर । **असाध** = असाधु ।

कबीर उज्जल देखि न धीजिये, बग ज्यूं मांडै ध्यान ।
धोरे बैठि चपेटसी, यूं ले बूड़े ग्यान ॥ 2 ॥ 479

भावार्थ : कबीर सावधान करते हैं हम सभी को—बाहरी भेष से आकृष्ट न हों । उदाहरणार्थ बक ध्यान करता है पर शिकार के लिए, अतः किसी को ध्यान करते हुए देखकर उसे साधु न मान लेना चाहिए—पास बैठा हुआ वह, बक की तरह, अवसर पाते ही हमें माया-मोह में फँसा लेगा ।

विवृति : **धीजिये** (सा० 295) **ध्यान मांडना** = ध्यान का आडंबर या दिखावा करना; **मांडना** (मण्ड्—सा० 31) । **चपेटसी** = चपेटता है<चपेट *चपेट्ट पं० चपेटा = तमाचा मारना) । **धोरे** (सूर) = पास ।

कबीर जेता मीठा बोलणा, तेता साध न जांणि ।
पहली थाह दिखाइ करि, ऊंड़ै देसी आंणि ॥ 3 ॥ 480

भावार्थ : कबीर कहते हैं असाधु मीठा-मीठा बोलकर ठगते हैं—पहले तो आपको लाभ की बात बतावेंगे पर अंत में विनष्ट कर देंगे—पहले थाह दिखाना फिर अवसर पाते ही गहरे पानी में लाकर डुबो देना ।

थाह<स्ताघ, प्रा० थाह, पं० थाह । **दिखाइ** = दिखाकर, दृश् । *दृक्षति, प्रा० **दक्खइ, दक्खइ—दक्खावइ** = दिखाता है; गु० दाखवं म० दाखविणे । **ऊंड़ै** *<प्रा० उंड़, **ऊंड़ा* ऊंड** (सा० 801) = गहरा । मार० ऊंडो । **देसी** (111, 482) (दा, ददाति) । **आंणि = आनि** = लाकर (सा० 113, 802) नी = लाना सं० आनीत प्रा० आणीय ।

□□

28. साध कौ अंग

कबीर संगति साध की, कदे न निरफल होइ।
चंदन होसी बांवना, नींब न कहसी कोइ ॥ 1 ॥ 481

भावार्थ : कबीर संगति के माहात्म्य पर बल देते हुए कहते हैं—साधु अथवा शील-परायण व्यक्ति की संगति सदा शुभ फल देती है—नींब का पड़ोसी यदि चंदन हो तो वह भी चंदन वन में चंदन ही कहा जाता है।

विवृति : कदेन (सा० 209) **निरफल**<निष्फल, पा० निप्फल। **होसी** (भू, भवति> होना पु० मारवाड़ी होइ; पु० गु० हूइ; पा० होति, प्रा० होइ; हुअइ) **बावन**<वाम, वामेन (बांवै 601)। **कहसी** (कथ्, कथयति, पु० मा० कहइं=कहता है) **कोइ** (सा० 470)।

कबीर संगत साध की, बेगि करीजै जाइ।
दुरमति दूरि गंवाइसी, देसी सुमति बताइ ॥ 2 ॥ 482

भावार्थ : कबीर कहते हैं साधु की संगति यथा शीघ्र कर ले क्योंकि अच्छी संगति कुबुद्धि (दुष्ट मति) को भगा देती है उसकी जगह सुमति (सुबुद्धि=विवेक) उत्पन्न हो जाती है।

विवृति : **दुरमति**<दुर्मति=अज्ञानता, मन के नकारात्मक भाव। **दूरि**<दूर (ऋवे०), पा० प्रा० दूर अवधी दूरि, पं० दूर, पु० मा० दुरी। **गंवाइसी** (सा० 385, 395) **देसी**<दा, प्रा० देइ<ददाति, पा० देति, देहि (सूर), सा० 111, 480। **बताइ**<वर्णयति, पा० वण्णेति, प्रा० वण्णेइ।

कबीर मथुरा जावै द्वारिका भावै जाउ जगनाथ।
साध संगति हरि भगति बिन, कछू न आवै हाथ ॥ 3 ॥ 483

भावार्थ : कबीर का बल हरिभगति, साधु संगति पर है क्योंकि आत्मशुद्धि, मन की निर्मलता और मानसिक विकारों से जूझने की शक्ति इसी से आती है। मथुरा, द्वारिका और जगन्नाथ धाम कहीं भी जाने से कुछ हाथ नहीं आने का—ये कर्मकाण्ड मात्र हैं।

विवृति : **भावै**=भावई। **भू**, भावयति=अच्छा लगता है; **भावै**=चाहे (सा० 396)। **हाथ आना**=पल्ले पड़ना सं० हस्तंगतः=हाथ में आया हुआ। **कछू**<*कच्छ=माप।

कबीर मेरे संगी दोइ जण, एक वैश्नौं एक राम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम ॥ 4 ॥ 484

भावार्थ : कबीर कहते हैं मेरे दो ही संगी हैं, अथवा मैं केवल इन दो की ही संगति करता हूँ—एक राम की दूसरे उसके भक्त वैष्णव की। राम मुक्तिदाता है और हरि-

भक्त उस राम की याद दिलाता रहता है। राम न भूले एतदर्थ हरिभक्तों का सत्संग अपेक्षित है। 'भक्त भगवंत निरंतर अन्तर नहीं वदति इति अमल मति दास तुलसी।'

विवृति : सुमिराव<स्मृ, स्मारयति, स्मारण (सभा०); सुमिरण<स्मरण (सा० 39, 40)।

कबीर बन बन मैं फिरा, कारनि अपनै राम।
राम सरीखे जन मिले, तिनि सारे सब काम ॥ 5 ॥ 485

भावार्थ : कबीर अपनी साधना का मर्म बताते हैं—मैं बन बन—यहाँ वहाँ—भटकता फिरा अपने राम के दर्शन के लिए पर लक्ष्य की अथवा भगवान की प्राप्ति नहीं हुई, जब गुरु अथवा राम सदृश प्रेमी मिले तब आत्मशुद्धि हुई और आत्मज्ञान मिला, तब समता और अभेद की दृष्टि मिली। 'राम सरीखे जन'=राम प्रीतिवाले।

विवृति : फिरा<प्रा० फिरइ (सा० 360, 440)। कारनि राम=राम के लिए (दरसन कारनि राम सा० 74); कारणें (सा० 18,92) सरीखे (सा० 472) सारे—पूरा किए; सारना<सारयति (सृ=चलना, हिलना), गु० सारवुं, प० सारणें।

कबीर सोइ दिन भला, जा दिन संत मिलाहिं।
अंक भरे भरि भेंटिये, पाप सरीरौं जाहिं ॥ 6 ॥ 486

भावार्थ : कबीर उस क्षण को धन्य मानते हैं जब संत (वैष्णव) का संग मिले—संत ही ईश्वर है क्योंकि वह अभेद, प्रेम का भंडार है। उसके दर्शन, चरण स्पर्श से शरीर-मन का कल्मष अपनेआप दूर हो जाता है। ऐसे संत को अंक भर भेंटना चाहिए अर्थात् उससे हर प्रकार से ऐक्य स्थापित करना चाहिए। संत ऋग्वे० में प्रयुक्त है—इसका अर्थ है सत्य संत और सत्य; दोनों ही अस्=है से विकसित हैं।

विवृति : सोइ (सा० 469, 473) दिन<दिनम्। भला (सा० 473) जा दिन=जिस दिन। मिलाहिं=मिलते हैं, जाहिं (सा० 380) भरे भर (सा० 462) अंक भरे भर भेंटये=भरपूर आलिंगन 'अंकमाल दे भेंटिये जानू मिले गोपाल।' 523, 'तावद्-गाढ़ं वितर सकृदप्यङ्कपालीं प्रसीद' माल० 8/2 संत वह जिसके हृदय में वह बसे (सा० 491) जो सत्य को सदा अपनावे (सा० 489), जो निरबैरी-निष्काम-विषयातीत हो (सा० 494) सोइ दिन भला सं० पुण्याहम्=सुदिवस। पाप अहः=अशुभ दिन।

कबीर चंदन का बिड़ा, बेढ़्या आक पलास।
आप सरीखे करि लीये, जे होते उन पास ॥ 7 ॥ 487

भावार्थ : कबीर चंदन को संत, अर्क को दुष्ट का प्रतीक मानकर कहते हैं—नींब, मदार, पलास चंदन से प्रभावित होते हैं। (यह कविसमय अथवा लोक की मान्यता है।) संत की संगत से मनोविकार दूर होते हैं, पाप भाग जाते हैं और धीरे-धीरे व्यक्ति संतसदृश हो जाता है—संत का यह गुण है। संत 'निरबैरी, निष्काम, विषय रहित' (सा० 494) होता है, उसके प्रभाव को समीप रहनेवाला ग्रहण कर लेता है और तदनुरूप हो जाता है। चंदन का स्वभाव एक रूढ़ि है पर संत का प्रभाव प्रत्यक्ष है। अर्क (मदार) और पलाश (ढाक) निकृष्ट वृक्ष है।

विवृति : **बिड़ा**<विटप। **बेढ्या**<वेष्टित। आक<अर्क **पलास**<पलाश (522)। **सरीखे** (485) **पास** (76, 297)<पार्श्व।

कबीर खाई कोट की, पाणी पिवै न कोइ।
जाइ मिलै जब गंग मैं, तब सब गंगोदिक होइ ॥ 8 ॥ 488

भावार्थ : संगति का प्रभाव बताते हुए कबीर कहते हैं कि गंगा की धारा में मिलनेवाला गंदा जल भी गंगा सदृश पवित्र माना जाता है--कोट (किला) के पर-कोटे (सं० प्राकार = बाहार दिवारी) के पास खाई में पानी भरा रहता है ताकि शत्रु दुर्ग तक न पहुँच सकें, यह पानी पेय नहीं-पर यही जब गंगा में जा गिरता है तब गंगा जल है। संत की संगति और भक्ति से दुष्ट भी निर्मल हो जाता है। (सोरठि 13)

विवृति : **खाई**<खात, खातिका, प्रा० खाइ, खाइआ, गु० म० खाई। **कोट**<कोट = दुर्ग। पिवै = पीता है (पा = पीना, पीयते प्रा० पिअइ, पिज्जइ), **कोइ** (सा० 470, 481) **मिलै**<मिल् = मिलता है, मिलति, प्रा० मिलइ, पु० मा० मिलइ, गु० मलवुं, म० मिलणे। **सब**<सर्व **उदक** (सं०) = जल। **गंगोदिक** (13 सोरठि)।

कबीर जानि बूझि साचहि तजै, करै झूठ सूं नेह।
ताकी संगति राम जी, सुपिनै ही जिनि देह ॥ 9 ॥ 489

भावार्थ : कबीर संगति की व्याख्या करते हुए कहते हैं—ऐसे व्यक्ति का साथ हे ईश्वर, कभी न दो जो सत्य को छोड़कर झूठ से प्यार करता है। संत सत्य पर चलता है और विषयी असत्य पर। कबीर सत्य के खोजी और आग्रही हैं, इनके काव्य का यही मूल स्वर है। 'साचहि तजै, करै झूठ सूं नेह' = राम और संत से प्रीति न कर नकारात्मक भावों से मोह।

विवृति : **जान**<ज्ञान। **बूझ** (सा० 452); **जानि बूझि** = जानते-समझते हुए। **जिनि** = न। **देह** = दे, दो, दीजिए, द = देना, ददाति>देता है प्रा० देइ। (सा० 573, 673)

कबीर तास मिलाइ जास हियाली तूं बसैं।
नहीं तर बेगि उठाइ, नित का गंजन को सहै ॥ 10 ॥ 490

भावार्थ : कबीर संगति के प्रभाव को बतलाते हुए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हे परमपुरुष मुझे उन्हीं का साथ दे, उन हरिभक्तों की संगति दे जो हृदयालु (स्नेही) हैं अथवा जिनके अंतस में तेरा निवास है अथवा जो अपने भीतर तुम्हारी ज्योति को जानते-पहचानते हैं। भगवन्, दुष्टों अथवा चरित्रहीन लोगों का साथ सदा कष्टकर है। यदि अनुकूल परिवेश न मिले तो अच्छा यही है कि तुम मुझे इस संसार से जल्दी से जल्दी उठा ले अर्थात् मुझे मृत्यु दे।

विवृति : **जास** (अप०) जासु<यस्य **तास**<तस्य (तासओ की० 2.117) **हियाली**< हृदयालु = हृदयिन् हृदयिक = अच्छे हृदयवाला = स्नेही। **बसै** (सा० 462) **नहींतर** = नहीं तो (सा० 36). **बेगि**<वेग = शीघ्रता। **उठाइ**<उत्थापयति (स्था) प्रा०

उद्भावेइ। **नित** < नित्य। **गंजन** सं० गञ्‌जन गञ्ज = अनादर। अप० गंजण = विनाश मृत्यु प्रा० गंजइ = पीड़ा देता है, गंजिअ = पीड़ित, **सह** (473)।

कबीर केती लहर समंद की, कत उपजै कत जाइ।
बलिहारी ता दास की, उलटी माँहि समाइ ॥ 11 ॥ 491

भावार्थ : कबीर मानव जीवन को एक लहर से सादृश्य देकर कहते हैं - कितनी सारी उत्पन्न होती हैं मिटती हैं, संसार में कितने मानव आते और चले जाते हैं। पर जीवन की सफलता अथवा चरम लक्ष्य की प्राप्ति विरले ही करते हैं, जीवन उन्हीं का धन्य है जो जीवन को विषय-भोग प्रलोभनों से हटाकर, उनसे विमुख हो, उनसे छतीस (अंक) सदृश नाता रखकर मूल (ईश्वर-आत्मा) में निवास करें तुलसी, 'जग से ह्वै छतीस रह रामचरन छः तीन' आपा पर का भेद मिटा तब अद्वैतभाव :

कबीर सोच विचारिया, दूजा कोई नाहिं।
आपा पर जब चीन्हिया, तब **उलटि समांना माँहि** ॥ 543
चीन्हियत चीन्हियत ता चीन्हि लसे। तिहि चीन्हिअल धूं का करके ॥
आपा पर सब एक समान। तब हम पाया पद निरबाण ॥
कहै कबीर मनि भया संतोष। मिले भगवंत गया दुख दोष ॥ 15 रामकली
सेई तुम्ह सेई हम एकै कहियत, जब आपा पर नहीं जाना।
ज्यूं जल मैं जल पैसि न निकसै, कहै कबीर मन मांनां ॥ 30 सोरठि

उलटी माँहि समाइ—पाठान्तर 'उलटि समानै माँहि' (तिवारी)। कबीर का आशय है जब आत्मा-जीवका भेद मिट गया अथवा परमात्मा और साधक जब एकमेक हो गए—भेद की अनुभूति नहीं तब मनुष्य निर्वाण (मुक्ति, शाश्वत आनन्द) प्राप्त कर लेता है—यही भगवान् की प्राप्ति है—यही (मूल) परमात्मा से मिलन है, यही जीव का 'उलटि समाना माँहि' है। कबीर मानते हैं यह जीव मूलतः वही जल विंदु है (सा० 663)—उसी प्रकार पवित्र, उदात्त। अपने आचरण-व्यवहार-कुप्रवृत्ति के कारण वह निंद्य कर्म करता है। यदि मनुष्य आत्मस्थ होकर अपने को 'आनन्द मूल परसोतम' अनुभव कर सके तो वह सदा उसी की भांति निर्मल रहेगा। कबीर उस सत् चित् आनन्द से मिलन को 'ज्यूं जल मैं जल पैसि न निकसै' तथा 'समुंद समाना बूंद मैं' (182) से समझाते हैं। **'उलटि अपूठा आंणि'** 273।

विवृति **केती** = केत < कियत् = कितना **कत** (सा० 182, 294) < कुतः = कहाँ से, कहाँ को (क-प्रश्नवाचक सर्वनाम), पा० कुतो प्रा० कओ। **बलिहारी** (सा० 2,477); (कबीर गुरु की बलिहारी। (2) और उस ईश्वर के दास की बलिहारी जाते हैं (477, 491, 492)। **उलटी** = उलटकर, प्रा० उल्लट्ट अप० उलट्ट (की० 4.203) = उलटा, मै० उन्टा, हि० उलटना, पु० मा० उल्टो, गु० उलटवुं, म० उलटणें। **माँहि**, राज० माहि, अप० माहि, नाईं (478), में < मध्य। **समाइ** = प्रवेश करता है

एक हो जाता है; मै० समाएब = समाना, अंटना प्रा० समाइ, पं० समाउणा, समाउ (विनय० 100) < संमाति (मा)। **उलटिसमाना** – कठ में **'आवृत्त चक्षु:'** का इसी आशय में प्रयोग है। दृष्टि को अन्दर मोड़ने वाला अथवा उलट कर देखने वाला ही अंतरात्मा को देख या जान पाता है। 'परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभू: तस्मात् पराङ्-पश्यति नांतरात्मन्। कश्चित् धीर: प्रत्यागात्मानमैक्षत आवृत्त चक्षुः अमृतत्वमिच्छन्'। अर्थात् स्वयंभू परमात्मा ने इन्द्रियाँ बहिर्मुख बनायीं, इसलिए मनुष्य बाहर देखते हैं, अन्दर देखते नहीं। एकाध धीर पुरुष ने ही अन्तरात्मा को देखा है। वह **दृष्टि को अन्दर मोड़ने वाला** और अमृतत्व की इच्छा रखनेवाला होता है।

> कबीर काजल केरी कोठड़ी, काजल ही का कोट।
> बलिहारी ता दास की, जे रहे राम की ओट ॥ 12 ॥ 492

भावार्थ : कहते हैं इस संसार में रहना किसी काली कोठरी में रहना है, जिसकी दीवारें भी कज्जल से पुती हैं अथवा यह संसार काजल की कठरी अथवा काजल का कोट (= दुर्ग) है। ऐसे अंधकार में रहकर भी जो राम के प्रकाश से—उस परमपुरुष की भीतर जलने वाली ज्योति से—युक्त हो वह धन्य है, उस पर कबीर अपने को निछावर करता है। राम की ओट = राम की शरण, राम के आश्रित।

विवृति : **काजल** (477) **कोठरी** (477), **कोट** < कोट्ट (363, 488), **ओट** हरि की ओट (54), **राम की ओट** (261) पं० ओट्, ने० ओत (ओत कवि० 5.25) < *ओट्टा, *ओत्ता।

> कबीर भगति हजारी कापड़ा, तामैं मल न समाइ।
> साखित काली कामली, भावै तहाँ बिछाइ ॥ 13 ॥ 493

भावार्थ : कबीर हरिभक्त और शाक्त में अन्तर बताते हुए कहते हैं कि हरिदास का हृदय और आचरण दोनों निर्मल होता है—उसका मन प्रलोभनों-विषयों से नहीं डिगता—उदाहरण के लिए कबीर हरिभक्त को हजारी कपड़ा कहते हैं जिसमें उसकी श्वेतता पर दाग नहीं होता, इसके विरोध में शाक्त का मन और उसका आचरण मांस-मदिरा-मैथुन की ओर होने से दोषपूर्ण अथवा मैला होता है। जैसे काले कम्मल को कहीं बिछाओ उसमें कालिख नहीं लगेगी उसी प्रकार जिसका मन मैला है वह कुछ भी करे।

विवृति : **समाइ** (491), **साखित** = **साखत** (357) भावै 459, 483, भावई (396) **बिछाइ** (छद्* विच्छादयति अव० बिछावइ, मार० बिछाणो, मै० बिछाएब; पा० विच्छादना > बिछौना)।

□□

29. साध साषीभूत कौ अंग

[साधु का महत्व कबीर-काव्य में बहुल है—साधु वह है जिसने आत्म-साक्षात्कार कर लिया हो। साषीभूत का तात्पर्य है जिसने अन्तर्ज्ञानमूलक प्रत्यक्ष ज्ञान (आनंद रूप ब्रह्म) प्राप्त कर लिया हो अथवा जो साक्षी हो उस मूल आनन्द स्वरूप पुरुषोत्तम का; सच्चे संत के लक्षण बता रहे हैं कबीर। 'जो ब्रह्म को सत् समझेगा उसे लोग सत् (संत) समझेंगे।' तैत्तिरीय उपनिषद्

> कबीर निरवैरी निहकामता साईं सेती नेह।
> विषया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह ।। 1 ।। 494

भावार्थ : कबीर कहते हैं हरिदास का अंग है निरवैरता (किसी से वैरभाव नहीं) निष्कामता (इच्छा-आशा-स्वार्थभाव का अभाव) और विषयों से उदासीनता। प्रीति केवल उस खालिक से। 'विषया सूं न्यारा रहै' अर्थात् विषयासक्त अथवा विषयनिरत न हो—विषय सुख की ओर जिसका मन है उसका मन भगवान की ओर नहीं लग सकता है क्योंकि इन्द्रियसुख और आत्मसुख में विरोध है।

कबीर भक्त के स्वभाव और उसके व्यावहारिक जीवन को महत्व देते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कबीर का कथन है कि केवल लक्ष्य की ओर देखो उसी से प्यार करो, उसकी प्राप्ति के लिए शारीरिक सुख की चिन्ता न करो। ऐसा जीवन होने पर स्वार्थवृत्ति नहीं विकसित होगी। फलस्वरूप कोई कामना नहीं रहेगी और जब स्वार्थ का भाव नहीं तब किसी से ईर्ष्या-द्वेष घृणा नहीं:—समानता का भाव। विषय-भोग से उलटी गति से ही महान् उपलब्धि संभव है।

कबीर की भाषा, शब्दों का चुनाव एवं उनका सम्यक् प्रयोग उपनिषद की भाँति प्रभविष्णु है—गागर में सागर भर दिया है। **कठउपनिषद्**—'अज्ञानी जीव बाह्य कामनाओं का अनुसरण करते हैं—वे सर्वत्र फैले हुए मृत्यु पाश में फँसते हैं किन्तु धीर पुरुष अमृतत्व को जानकर इहलोक के अनित्य पदार्थों में नित्य को आशा नहीं रखते।'

विवृति : **सेती** (188, 437)। **नेह**<स्नेह। **न्यारा,** म० न्यारा, गु० न्यारुं, पं० नेआरा ओड़ि० निआरा (=अलग); निनार (पद० 313)<*अन्य-आकार। **रहै** (305)।

> कबीर संत न छाड़ें संतई, जे कोटिक मिलै असंत।
> चंदन भवंगा बेढ़िया, तऊ सीतलता न तजंत ।। 2 ।। 495

भावार्थ : कबीर साधु-संत की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि जो सत्य को पकड़े हुए है वह परिवेश के प्रतिकूल होने पर भी अपने मार्ग से विचलित नहीं होता—दुष्टों के

दुर्व्यवहार को वह अनदेखी करता है क्योंकि वह जानता है कि ये अज्ञानी और मूढ़ हैं, इनका मन विकारों से भरा है। उदाहरण देकर कबीर स्पष्ट करते हैं चंदन अपना शीतल स्वभाव नहीं छोड़ता भले ही सर्प लिपटे हों चंदन वृक्ष से (चंदन में सर्प लिपटना कवि परम्परा अथवा रूढ़ि है, यह तथ्य नहीं है)।

संत और सत्य समानार्थी कहे जा सकते हैं—दोनों ही अस् (=है) से विकसित हैं। सत्य (परमसत्य) वही है जो सदा एक रस रहे—विकार की संभावना ही जहाँ न हो। जो संत है वह असंत (असत्य=विकार युक्त) के प्रभाव से दूषित नहीं हो सकता है। शीतलता चंदन और संत दोनों का धर्म है।

तुलसी ऐसे सीतल संता। सदा रहे एहि भांति एकंता।
कहा करैं खल लोग भुजंगा। कीन्हौं गरलसील जो अंगा॥ वै० 47
जो कोइ कोप भरे मुख वैना। सन्मुख हतै गिराशर पैना।
तुलसी तऊ लेस रिस नाहीं। सो सीतल कहिए जग माहीं॥ वै० 49

विवृति : संत (486) छाड़ै (छाड़सी 471)। चंदन=संत, भुजंग=दुष्ट। बेढ़िया (वेढ़्या 487), भवंगा (भवंग 464), तऊन (472) तजंत<त्यजति, त्यज्=छोड़ना मिलै (486)।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वभाव अथवा आदत की जीवन व्यवहार में बहुत बड़ी भूमिका है—अभ्यास से मनुष्य वाणी को नियंत्रित कर क्रोध से बच सकता है। तन-मन-वचन से किसी को उद्वेग न हो और किसी के कारण उद्विग्न न हो यही संतई है।

कबीर हरि का भांवता दूरै थैं दीसंत।
तन लीना मन उनमना, जगि रूठड़ा फिरंत॥ 3॥ 496

कबीर हरि का भांवता झीणां पंजर तांस।
रैणि न आवै नींदड़ी अंगि न चढ़ई मांस॥ 4॥ 497

भावार्थ : कबीर साधु-संत की पहचान बता रहे हैं—जो हरि को चाहता अथवा उससे प्रेम करता है वह प्रिय के विरह में, तन से क्षीण—केवल ठठरी-ठठरी-मांस तो चढ़ता ही नहीं उसके शरीर पर, क्योंकि संसार के भोग के प्रति वह उदासीन रहता है। मन संसार के विषयों में नहीं रमता है इसीलिए वह उनमना रहता है। हरिदास को रात दिन स्वामी का, इष्ट का—सुमिरन बना रहता है उसे रात में भी नींद नहीं, विश्राम नहीं, विरही क्या जाने नींद; लक्ष्य-प्राप्ति की सतत चिंता।

विवृति भांवता (भावई 396 भावै 21, भावता 649<भावयति पा० भावति प्रा० भावेइ। दीसंत (दीसै 373, 478) फिरंत (फिरैं 351, 367, 410, 485) प्रा० फिरइ। पीन<क्षीण। झीण<प्रा० झीण। उनमना<उन्मनस्-नस्क=बेचैन।

कबीर अणरता सुखि सोंवणा, रत्तै नींद न आइ।
ज्यूं जल टूटै मंछला, यूं बेलंत बिहाइ॥ 5॥ 498

भावार्थ : कबीर राम अथवा हरिनाम में रत (लयलीन) की विरहानुभूति की बात करते हैं—उसे नींद नहीं उसकी रात्रि तड़फड़ाते-जगते बीतती है—'रैनि बिहाइ'। वह प्रिय से मिलने के लिए छटपटाता है जैसे जल से विलग मछली बेचैन होती है जल में पहुँचने के लिए। जिसे उस परमसत्य के प्रति प्रीति नहीं उसे सुख की नींद आती है—उसके जीवन का कोई लक्ष्य नहीं इसलिए उसको प्राप्ति की चिन्ता भी नहीं। हरिदास को हरि और हरिनाम सुमिरन की चिन्ता 'च्यंता तौ हरि नाउं की, और न चिंता दास।' 41

विवृति अणरता —अण ना० (=न)+रत। टूटै; टूटना<त्रुट्यति=अलग हो जाती है यूं (471) वेलंत —वेल्ल्, वेल्लयति=लोटना; वेल्लन। बिहाइ<हा=त्यागना, छोड़ना, विहापयति=बीतता है 'जागत रैनि बिहाइ' 721

कबीर जिनि कुछ जांण्या नहीं, तिन्ह सुख नींदड़ी बिहाइ।
मैं अबूझी बूझिया, पूरी पड़ी बलाइ ॥ 6 ॥ 499

भावार्थ : कबीर कहते हैं जब तक प्रिय को जाना नहीं, जब तक उससे प्रीति नहीं, तभी तक चैन है, तभी तक सुख की नींद अर्थात् अज्ञानी सुखी है; जिसे आत्म-बोध अथवा उसका परिचय मिल गया उसे कहाँ चैन! कबीर अपने लिए कहते हैं मैं अबूझी थी अर्थात् प्रिय से परिचय नहीं था तब तक चिंता मुक्त थी पर जबसे उसे बूझा-जाना अथवा उसकी ज्योति को देखा तब से बला मोल ले ली है अर्थात् किसी क्षण भी चैन नहीं। तुल० 501, 502

सुखिया सब संसार है खाइ अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै ॥ 112

विवृति : अबूझी=जिसने बूझा-जाना न हो, अबुद्ध। बूझिया=जाना (452, 489) बलाइ (270)। जाण्या नहीं अर्थात् उस एक को नहीं पहचाना। पड़ी (361, 460) पूरी<पूरित, पूर्।

जो वै एकै जांणिया, तौ जाण्या सब जाण।
जो वो एक न जांणिया, तो सब ही जांण अजांण ॥ 200

जब लग जीव परचा नहीं कन्या कुंवारी जाणि।
हथलेवा हौंसे लीया, मुसकल पड़ी पिछांणि ॥ 460

कबीर जांण भगत का नित मरण, अणजाणैं का राज।
असर पसर समझै नहीं, पेट भरण सूं काज ॥ 7 ॥ 500

भावार्थ : कबीर कहते हैं ज्ञानी-भक्त की नित्य-सतत मृत्यु है क्योंकि वह उस एक प्रिय के पाने के लिए पागल है। जो अज्ञानी है जिसको उसकी प्राप्ति की चिंता नहीं है वह मौज में है वह राजा की तरह भोग भोगता है। उसे तो इन्द्रियों की तृप्ति में ही संतोष है—खाना-पीना मौज करना चार्वाकों-शाक्तों की तरह। वे इस संसार की

असारता नहीं समझ पाते हैं और उन्हें यह भी नहीं बोध है इस असार संसार में इन्द्रियों का प्रसार— उनकी भोग वृत्ति—उन्हें ले डूबेगा। 'पसार' दुनिया का कामकाजी भी है।

"ई संसार असार को धंधा अंतकाल कोई नाहीं हो।' 'असार को धंधा अर्थात् असार का प्रसर (प्रसार)— यही 'असर पसर' है। पसर<सं, प्रसर (274)।

कबीर चिंता चित्ति निवारिये, फिर बूझिये न कोइ।
इन्द्री पसर मिटाइये, सहजि मिलेगा सोइ ॥ 274

विवृति : **समझै नहीं** = जानता नहीं। 'आपण **समझै** नांहि' (360) **पेट भरन सू काज** (मुहा०) अर्थात भोगी का आदर्श पेट भरने तक। **जांण भगत** = ज्ञानी और भक्त जिसे संसार की असत्यता और उस ब्रह्म की सत्यता का बोध है, साथ ही जो उसकी भक्ति में लयलीन है। ज्ञान-भक्ति एक दूसरे के पूरक हैं—

रैनि को भूषन इंदु है, दिवस का भूषन भानु।
दास को भूषन **भक्ति है, भक्ति का भूषन ज्ञान**। 43 वैरा०

ज्ञान को भूषन ध्यान है, ध्यान को भूषन त्याग।
त्याग को भूषन शांतिपद, तुलसी अमल अदाग ॥ 44 वैरा०

कबीर पेट भरना, पैसा कमाना जीवन का लक्ष्य नहीं मानते—यह तो जगत् का धंधा है, माया है जिससे लोभ-मोह-ईर्ष्या को आश्रय मिलता है। जीवन, रहस्य की खोज के लिए है।

आइंसटाइन ने कहा है—"रहस्यमयता हमारी सब से सुखद अनुभूति है—सारी सच्ची कला और विज्ञान का स्रोत भी यही है।"

आज की भोगवादी संस्कृति स्वकेन्द्रित है—अर्थ और पेट भरना। इसी के पीछे मनुष्य भाग रहा है। कबीर सावधान करते हैं इस अज्ञानता के विरुद्ध—जीवन की भूख रोटीमात्र से नहीं मिटती इसके लिए नैतिक मूल्यों पर आधारित जीवन चाहिए। कबीर ने अनुभव किया हिन्दू अकर्मण्य-आलसी-कर्त्तव्यच्युत है। उनकी भोगपरक दृष्टि मंदिर के भोग—प्रसाद तक है। मुसलमान भोग के लिए हिन्दू कन्याओं पर अधिकार करता है, लूटता है, मंदिर का सोना ले जाता है। कबीर मूल की खोज के लिए प्रेरित करते हैं—'आनन्दमूल सदा परसोतम' (31 सोरठि) 'उस आनन्द सूं चित लाऊँगा। तो मैं बहुरि न भौ जलि आऊँगा।' 31 गौड़ी

कबीर जिहि घटि जांण बिनांण है, तिहि घटि आंवटणां घणा।
बिन खंडै संग्राम है, नित उठि मन सूं जूझणा ॥ 8॥ 501

भावार्थ : कबीर कहते हैं ज्ञानी विज्ञानी (अध्यातममार्ग का पथिक) को चिंता-पीड़ा है, उसके भीतर काम-क्रोध विकारों से जूझने का द्वन्द्व हर समय छिड़ा रहता है—निरंतर वह इन विकारों से मुक्ति के लिए संघर्षरत रहता है क्योंकि सतत अभ्यास-

भावार्थ : कबीर राम अथवा हरिनाम में रत (लयलीन) की विरहानुभूति की बात करते हैं—उसे नींद नहीं उसकी रात्रि तड़फड़ाते-जगते बीतती है—'रैनि बिहाइ'। वह प्रिय से मिलने के लिए छटपटाता है जैसे जल से विलग मछली बेचैन होती है जल में पहुँचने के लिए। जिसे उस परमसत्य के प्रति प्रीति नहीं उसे सुख की नींद आती है—उसके जीवन का कोई लक्ष्य नहीं इसलिए उसको प्राप्ति की चिन्ता भी नहीं। हरिदास को हरि और हरिनाम सुमिरन की चिन्ता 'च्यंता तौ हरि नाउं की, और न चिंता दास।' 41

विवृति अणरता—अण प्रा० (=न)+रत। टूटै; टूटना<त्रुट्यति=अलग हो जाती है यूं (471) वेलंत—वेल्ल्, वेल्लयति=लोटना; वेल्लन। बिहाइ<हा=त्यागना, छोड़ना, विहापयति=बीतता है 'जागत रैनि बिहाइ' 721

> कबीर जिनि कुछ जांण्या नहीं, तिन्ह सुख नींदड़ी बिहाइ।
> मैं अबूझी बूझिया, पूरी पड़ी बलाइ॥ 6॥ 499

भावार्थ : कबीर कहते हैं जब तक प्रिय को जाना नहीं, जब तक उससे प्रीति नहीं, तभी तक चैन है, तभी तक सुख की नींद अर्थात् अज्ञानी सुखी है; जिसे आत्म-बोध अथवा उसका परिचय मिल गया उसे कहाँ चैन! कबीर अपने लिए कहते हैं मैं अबूझी थी अर्थात् प्रिय से परिचय नहीं था तब तक चिंता मुक्त थी पर जबसे उसे बूझा-जाना अथवा उसकी ज्योति को देखा तब से बला मोल ले ली है अर्थात् किसी क्षण भी चैन नहीं। तुल० 501, 502

> सुखिया सब संसार है खाइ अरु सोवै।
> दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै॥ 112

विवृति : अबूझी=जिसने बूझा-जाना न हो, अबुद्ध। बूझिया=जाना (452, 489) बलाइ (270)। जाण्या नहीं अर्थात् उस एक को नहीं पहचाना। पड़ी (361, 460) पूरी<पूरित, पूर्।

> जो वै एकै जांणिया, तौ जाण्या सब जाण।
> जो वो एक न जांणिया, तो सब ही जांण अजांण॥ 200
>
> जब लग जीव परचा नहीं कन्या कुंवारी जाणि।
> हथलेवा हौंसे लीया, मुसकल पड़ी पिछांणि॥ 460

> कबीर जांण भगत का नित मरण, अणजाणैं का राज।
> असर पसर समझै नहीं, पेट भरण सूं काज॥ 7॥ 500

भावार्थ : कबीर कहते हैं ज्ञानी-भक्त की नित्य-सतत मृत्यु है क्योंकि वह उस एक प्रिय के पाने के लिए पागल है। जो अज्ञानी है जिसको उसकी प्राप्ति की चिंता नहीं है वह मौज में है वह राजा की तरह भोग भोगता है। उसे तो इन्द्रियों की तृप्ति में ही संतोष है—खाना-पीना मौज करना चार्वाकों-शाक्तों की तरह। वे इस संसार की

असारता नहीं समझ पाते हैं और उन्हें यह भी नहीं बोध है इस असार संसार में इन्द्रियों का प्रसार—उनकी भोग वृत्ति—उन्हें ले डूबेगा। 'पसार' दुनिया का कामकाजी भी है।

"ई संसार असार को धंधा अंतकाल कोई नाहीं हो।' 'असार को धंधा' अर्थात् असार का प्रसर (प्रसार)—यही 'असर पसर' है। पसर<सं, प्रसर (274)।

कबीर चिंता चित्ति निवारिये, फिर बूझिये न कोइ।
इन्द्री पसर मिटाइये, सहजि मिलेगा सोइ॥ 274

विवृति : **समझै नहीं** = जानता नहीं। 'आपण **समझै** नांहि' (360) **पेट भरन सूं काज** (मुहा०) अर्थात भोगी का आदर्श पेट भरने तक। **जांण भगत** = ज्ञानी और भक्त जिसे संसार की असत्यता और उस ब्रह्म की सत्यता का बोध है, साथ ही जो उसकी भक्ति में लयलीन है। ज्ञान-भक्ति एक दूसरे के पूरक हैं—

रैनि को भूषन इंदु है, दिवस का भूषन भानु।
दास को भूषन **भक्ति है, भक्ति का भूषन ज्ञान**। 43 वैरा०

ज्ञान को भूषन ध्यान है, ध्यान को भूषन त्याग।
त्याग को भूषन शांतिपद, तुलसी अमल अदाग॥ 44 वैरा०

कबीर पेट भरना, पैसा कमाना जीवन का लक्ष्य नहीं मानते—यह तो जगत् का धंधा है, माया है जिससे लोभ-मोह-ईर्ष्या को आश्रय मिलता है। जीवन, रहस्य की खोज के लिए है।

आइंसटाइन ने कहा है—"रहस्यमयता हमारी सब से सुखद अनुभूति है—सारी सच्ची कला और विज्ञान का स्रोत भी यही है।"

आज की भोगवादी संस्कृति स्वकेन्द्रित है—अर्थ और पेट भरना। इसी के पीछे मनुष्य भाग रहा है। कबीर सावधान करते हैं इस अज्ञानता के विरुद्ध—जीवन की भूख रोटीमात्र से नहीं मिटती इसके लिए नैतिक मूल्यों पर आधारित जीवन चाहिए। कबीर ने अनुभव किया हिन्दू अकर्मण्य-आलसी-कर्त्तव्यच्युत है। उनकी भोगपरक दृष्टि मंदिर के भोग—प्रसाद तक है। मुसलमान भोग के लिए हिन्दू कन्याओं पर अधिकार करता है, लूटता है, मंदिर का सोना ले जाता है। कबीर मूल की खोज के लिए प्रेरित करते हैं—'आनन्दमूल सदा परसोतम' (31 सोरठि) 'उस आनन्द सूं चित लाऊँगा। तो मैं बहुरि न भौ जलि आऊँगा।' 31 गौड़ी

कबीर जिहि घटि जांण बिनांण है, तिहि घटि आंवटणां घणा।
बिन खंडै संग्राम है, नित उठि मन सूं जूझणा॥ 8॥ 501

भावार्थ : कबीर कहते हैं ज्ञानी विज्ञानी (अध्यात्ममार्ग का पथिक) को चिंता-पीड़ा है, उसके भीतर काम-क्रोध विकारों से जूझने का द्वन्द्व हर समय छिड़ा रहता है—निरंतर वह इन विकारों से मुक्ति के लिए संघर्षरत रहता है क्योंकि सतत अभ्यास-

वैराग्य से ही इनसे छुटकारा संभव है। मन चंचल है इसको वश में रखना अत्यंत दुष्कर है। सामान्य सूर तलवार से युद्ध करता है पर भक्त-दास के पास कोई अस्त्र शस्त्र नहीं केवल मनोबल, दृढ़ निश्चय, सतत संग्राम ही उसके उपकरण हैं। कबीर 'सूरातन कौ अंग' में कहते हैं—

कबीर मेरे संसा को नहीं, हरि सूं लागा हेत।
काम क्रोध सूं झूझणां, चौड़े मांड्या खेत ।। 659
कबीर घोड़ा प्रेम का चेतनि चढ़ि असवार।
ग्यान खडग गहि काल सिरि भली मचाई मार ।। 679

घटि = घट (सं०) = शरीर। बिनांण<विज्ञान। आवटणा<आवर्तन (वृत्) = चक्कर, भँवर, घूर्णन। 'आवर्त संशयानाम्' पंच० 1.191 **खंडै**<खड्ग। **सूं** (474) **मन सूं जूझणां** = मन के विकारों से लड़ना 'कबीर सोई सूरिवां, मन सो मांडै झूझ।' 655 तथा 'कबीरा मरि मैदान में, करि इन्द्रयां सूं झूझ।' 654 **जूझ, झूझ**<युद्ध युध्, युध्यते = झूझता है।

कबीर का शब्द सामर्थ्य और उनकी शैली की प्रभविष्णुता अद्भुत है।

कबीर राम बिवोगी तन बिकल, ताहि न चीन्हैं कोइ।
तंबोली के पांन ज्यूं, दिन-दिन पीला होइ ।। 9 ।। 502
कबीर पीलक दौड़ी सांइयां, लोग कहैं प्यंड रोग।
छांनै लंघण नित करै, राम पियारे जोग ।। 10 ।। 503

भावार्थ : कबीर साक्षीभूत में उस भक्त के बाह्य लक्षण बता रहे हैं जो राम प्यारे के विरह का अनुभव करता है और उस विरहज्वाला में जलता रहता है, जिसे न शरीर की सुधि और न भूख प्यास की। इस लंघन-उपवास से उसकी देह रक्ताभाव का शिकार हो जाती है जिससे वह पाण्डु रोगी (पीलिया) अथवा पान सदृश पीला दिखता है। कबीर का बल उस प्रियतम के योग-संयोग पर है। तु० साखी 63

गुण गाये गुण ना कटै, रटै न राम बियोग।
अह निसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूं पावै दुरलभ जोग ।। 63

विवृति : न चीन्है कोइ = लंघन करते करते उसका शरीर इतना कृश-पीत हो जाता है कि वह नितांत भिन्न लगता है। तंबूली<ताम्बूलिक पान<अप० पन्न सं० पर्ण। **दिन दिन** = अनुदिन, दिन-ब-दिन। **पीलक दौड़ी** = पीलापन छा गया। प्यंड<पाण्डु। **छांनै**, छांन<छन्न (छद् = ढकना) = छिपे-छिपे अथवा ओट में। **लंघण**<लङ्घण = उपवास, लङ्घ् = लांघना। जोग<योग **राम पियारे**—कबीर राम को पतिरूप में मानते हैं।

काम मिलावै राम कूं, जे कोइ जांणै राषि।
कबीर बिचारा क्या करै जे सुखदेव बोलै साषि ।। 11 ।। 504

भावार्थ : कबीर काम के विरोध में नहीं हैं—काम = प्रेम। बुरी है काम के प्रति

आसक्ति अथवा सांसारिक मोह । ईश्वरीय प्रेम (काम) गोपियों का अनुकरणीय है जिन्होंने घर छोड़कर कृष्ण के साथ ऐक्य स्थापित किया—शुकदेव इसके प्रमाण हैं । शुकदेव, व्यास के पुत्र, जिन्होंने श्री मद्भागवत पुराण राजा परीक्षित को सुनाया । कबीर तो एक अदना-नगण्य (फा० बेचार:) व्यक्ति है, उसके कहने का क्या महत्व ! कबीर का कथ्य है कि वे गोपियों की तरह प्रिय के विरह में व्याकुल हैं, उनका उस प्रम पर कोई वश नहीं—वे तो बिक चुके हैं उस पति के हाथों, उन्हें पातिव्रत धर्म निबाहना है । काम के प्रेरक भाव को जानना अपेक्षित है प्रेम के स्वरूप को जानने के लिए । **बोलै साषि**=साक्षी रूप में बोलनेवाला, प्रमाण । शुक 'साक्षी भूत' हैं ।

'जे कोइ जाणै राखि'=जो कोई काम भाव पर शासन करना अथवा उस पर चौकसी रखना जानता है ।

कबीर कामणि अंग बिरकत भया, रत्तभया हरि नांइ ।
साषी गोरखनाथ ज्यूं, अमर भये कलि मांहि ॥ 12 ॥ 505

भावार्थ : कबीर पूर्ववाली साखी में जिस काम की महिमा गा रहे हैं वह हरि और उसके नाम के प्रति है न कि किसी कामिनी के प्रति । हरिभक्ति माया के विरोध में है । गोरखनाथ लंगोट के पक्के थे, वे योगी थे, ईश्वरानुरागी थे, उनके उपदेश भक्ति परक हैं । कबीर गोरख को आदर्श रूप में मानते हैं—ईश्वरीय प्रेम के कारण । वे प्रमाण अथवा साक्षी हैं आत्मज्ञान के । अमर भये कलिमांहि=कलि में चारों ओर हिंसा, ईर्ष्या का बोलबाला है, इससे उद्धार के लिए हरि अथवा हरिनाम की शरण । कबीर का कथ्य है मन को रमावें हरि में, उसमें रात हों, सांसारिक वस्तुओं में नहीं । गोरख कहते हैं :

अजपा जपै सुंनि मन धरै पाँचों इन्द्रिय निग्रह करै ।
ब्रह्म अगनि मैं होम काया तास महादेव बन्दे पाया ॥
धन जोबन की करै न आस चित न राखै कामिनि पास ।
नाद बिंद जाके घटि जरै ताकी सेवा पारबती करै ॥

[लेखक की कृति **वैष्णव कबीर** (पुरस्कृत) में 'योगी गोरखनाथ और कबीर' प्रका० भाषा साहित्य संस्थान, 147 त्रिवेणी रोड, इलाहाबाद, 1986]

कबीर जदि बिषै पियारी प्रीति सूं, तब अंतरि हरि नांहि ।
जब अंतर हरि जी बसै, तब बिषिया सूं चित नांहि ॥ 13 ॥ 506

भावार्थ : कबीर राम और विषय का पारस्परिक विरोध स्पष्ट करत हुए कहते हैं—एक श्रेयस् का मार्ग है दूसरा प्रेय का, वैभव का, भोग का (कठ उपनिषद्); मनुष्य को इन दोनों में चुनाव करना है । जो विषयी है उसकी प्रीति राम से नहीं संभव है—वह परमार्थी नहीं बन सकता । परमतत्व को प्राप्त करने का इच्छुक (सत्यान्वेषी) लक्ष्य की ओर ही दृष्टि रखता है त्रिगुणात्मक जगत् की ओर नहीं । सांसारिक वस्तुएं नश्वर हैं वे इन्द्रियों को भोग की ओर खींचती है । इन्द्रियों का निग्रह अपेक्षित है हरि की प्रीति के लिए । प्रीति का प्रयोग कबीर उस परमेश्वर की प्रीति के लिए करते हैं (साखी 508)

चित्त तो एक ही है (ऊधो ! मन न होंहि दस बीस—सूर) चाहे उसे विषयों में लगावे चाहे किसी महान् उद्देश्य की प्राप्ति में। जिसे सफल होना है वह विषयों में रमेगा नहीं—रात नहीं होगा; वह राम में रत-लयलीन होगा। परमार्थी अंतरमुखी होता है वह कृतात्मन् होता है—आत्माराम होता है। कबीर कहते हैं 'जा दिन कृतमना हुवा··· हुता कबीरा राम जन' (सा० 150) कृतात्मन् अर्थात् स्थिर चित्तवाला अथवा पवित्र आत्मावाला। कबीर का बल है कि विषयों से आत्मशुद्धि संभव नहीं—आत्मिक शुद्धि-शांति के लिए साधुवृत्ति का होना आवश्यक है। जब भीतर निर्मल होता है तब आत्मा की ज्योति प्रकट होती है।

ब्रह्मबिंदूपनिषद्—'बंधाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्।' (विषयासक्त मन बंधन का तथा निर्विषय मन मुक्ति का कारण है।

कठ उपनिषद्—'पराचः कामान् अनुयन्ति बालाः।' (अज्ञानी बाह्य कामनाओं का अनुसरण करते हैं) इसके विपरीत 'अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते'=धीर पुरुष अमृतत्व को जानकर इहलोक के अनित्य पदार्थों में नित्य की आशा नहीं रखते।

कबीर जिंहि घट मैं संसा बसै, तिंहि घट राम न जोइ।
राम सनेही दास बिचि, तिणां न संचर होइ ॥ 14 ॥ 507

भावार्थ : कबीर संसारी-विषयी को जिसे राम पर आस्था नहीं है उसे संशयी कहते हैं—जहाँ द्विधा (दुविधा) है वहाँ तत्व बोध, आत्म-बोध कहाँ ! अतः संसा (संशय) को निर्मूल करना अपेक्षित है-मोह का कारण संदेह है। जो 'राम पियारे' है, पूरी श्रद्धा भक्ति से आत्मा में विश्वास करता है—वह उसके नश्वर रूप में दृढ़तापूर्वक आस्था रखता है। संशय ही भेद डालता है जीव और ब्रह्म में—ज्ञानी-भक्त और ईश्वर में अभेद का सम्बन्ध है। सनेही राम और सनेही दास के बीच तृण का संचार संभव नहीं है अर्थात् भक्त और भगवान में अद्वैत भाव होता है। तृण भेद का प्रतीक है। **सनेही राम**=सनेही हरि (सा० 749) **सनेही दास** (सा० 210)।

विवृति : जोइ < ज्योतयति (तिहि घट राम न जोइ=उस शरीर के अन्दर ब्रह्मज्ञान का प्रकाश नहीं संभव है जहाँ संशय है। **जोइ** (17, बिलावल 1) ज्युत्=प्रकाशित होना (तु० द्युत्)। **जोइया** (113) प्रकाशित किया **संचर** (सम्+चर्, चरति, संचरति=पहुँचता है, निकट आता है। संचारयति=चलाना, हिलाना।

तुलनीय, पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनन्त।
संसा खूंटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत ॥ 135

कबीर अंधा नर चेतै नहीं, कटै न संसै सूल।
और गुनह हरि बकसई, कामी डाल न मूल ॥ 394

कबीर **संशय-ग्रन्थि** को दूर करने पर बल देते हैं—'पढ़ै वेद औ करे बड़ाई, **संसै गांठि** न जाई।' **कठ उपनिषद्** में कहा गया है 'जब हृदय की सब ग्रंथियों का छेदन हो जाता है तब मनुष्य अमृत हो जाता है: 'यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रंथयः। अथ मर्त्योऽमृतो भवति एतावद्धि अनुशासनम्।'

"करत विचार मन ही मन उपजी, नां कहीं गया न आया।
कहै कबीर **संसा** सब छूटा, राम रतन धन पाया॥" 23 गौड़ी

कबीर स्वारथ का सब को सगा, जग सगला ही जांणि।
बिन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति पिछांणि॥ 15 ॥ 508

भावार्थ : हरिभक्त का लक्षण है जो स्वार्थरहित हो—'बिन स्वारथ'। भक्ति का मूल आधार शुद्ध चरित्र है—चरित्र ही निकष है। संसारी-विषयी की प्रवृत्ति स्वार्थपरक होती है, वह 'स्वारथि बंधी' है। विरक्त की प्रवृत्ति परसेवा की ओर होती है—वह हरि की प्रीति जानता है। दुश्चरित्रवाला आत्मखोजी हो ही नहीं सकता। कबीर संन्यास लेकर हरि प्रीति की बात नहीं करते हैं; उनकी दृष्टि में संसार कसौटी है—यहीं आदमी के अच्छे बुरे की पहचान होती है। लोक स्वार्थी है इसलिए लोक की राह छोड़कर चले। कबीर किताब बहा देने की बात करते हैं क्योंकि शास्त्र-ज्ञान तर्क में निपुण बनाता है—आत्मज्ञान के लिए शुद्ध चरित्र अपेक्षित है जो सतत अभ्यास-वैराग्य से संभव है। कठ उपनिषद् में कहा गया है—'जो दुश्चरित से विरत नहीं हुआ, जो अशांतचित्त है वह इस आत्मा को नहीं देख सकता।'

कबीर तेरा संगी को नहीं, सब **स्वारथिबंधी** लोइ।
मन परतीति न ऊपजै, जीव बेसास न होइ॥ 265
कबीर सब जग हंडिया, मंदल कंधि चढ़ाइ।
हरि बिन अपना को नहीं सब देखे ठोकि बजाइ॥ 594

विवृति : सब **को**=सब कोइ; **कोइ**<प्रा० कोइ, कश्चिद्, केचिद् (470, 481, 488, 594) **सगा** (1)। **सगल-सगला**<सकल। **जांणि**<ज्ञा; **जानाति**=जानता है, परिचित है। (460) **बिन**<विना। पिछांणि<प्रत्यभिजानाति=पहचानता है (460) **'पीव पिछांणन कौ अंग'**। **पिछांणन**<प्रत्यभिज्ञान। **हरि की प्रीति** अथवा 'हरि के नाउं सूं **'प्रीति'** (557) प्री=प्यार करना, **प्रीतड़ी** (193, 228)

'कबीर हरि के नाउं सूं, **प्रीति** रहै इकतार।
तौ मुख तैं मोती झड़ैं, हीरै अंत न पार'॥ 557

कबीर का बल रामप्रीति पर है—सांसारिक जीवन अथवा व्यवहार तभी निर्मल होता है जब भीतर उस साईं की अनुभूति हो—सर्वत्र वह दिखाई दे।

कबीर जिहि हिरद हरि आइया, सो क्यूँ छानां होइ।
जतन जतन करि दाबिये, तऊ उजाला सोइ॥ 16 ॥ 509

भावार्थ : आत्मानुभूति अथवा आत्मज्ञान प्रकाश है, वह ज्योतिस्वरूप है। हृदय में यदि वह प्रकाश है तो उसे छिपाया नहीं जा सकता, वह प्रच्छन्न (ढका) नहीं रह सकता है। कितना भी कोई यत्न करे कि संतई छिपी रहे पर यह संभव नहीं अर्थात् संत का शुद्ध आचरण-व्यवहार, उसका पवित्र चरित प्रमाण है उसके दीप्ति युक्त होने अथवा हरिभक्त का। जहाँ हरि की अनुभूति नहीं है वहाँ अंधकार है। मनुष्य को अपने घट (शरीर) में उस आत्मा-परमात्मा का अनुभव करना चाहिए। **छांना** (503) **सोइ** (340, 469, 473) **दाबिये** दबाइए < *दब्ब् = दबाना, दाबना गु० दाबवु, म० दाबणें।

कछु कछु चेति देखि जीव अबहीं। मनिषा जनम न पावै कबहीं।

सार आहि जे संग पियारा। जब चेतै तब ही **उजियारा**। रमैनी, बड़ी अष्टपदी

कबीर फाटै दीदै मैं फिरूँ, नजरि न आवै कोइ।
जिहि घटि मेरा सांइयां, सो क्यूं छांनां होइ।। 17 ।। 510

भावार्थ : कबीर कहते हैं मैं आँख फाड़-फाड़ कर चारों ओर देखता हूँ पर कोई हरि भक्त नहीं दिखाई पड़ता — सब पापी अथवा स्वार्थ में मस्त। कोई परमार्थी-रामपियारा नहीं। यदि हृदय में राम का वास हो तो उसे छिपाया नहीं जा सकता है, ऐसे संत का प्रकाश स्वतः प्रकट हो जाता है। संत कौन—(494)।

छांना = ढका हुआ (509) = अंधकार पूर्ण : स्वार्थ पूर्ण, विषयरत।

दीदा (फा० दीदः) **फाटै दीदै** = खुली आँख से। **फिरूँ** प्रा० फिरइ।

फाटै = फटा (स्फट्, स्फटति; स्फाटयति = फाड़ता है, स्फुट = फटा; **स्फुटित** = फटा।

कबीर सब घटि मेरा साइयां, सूनी सेज न कोइ।
भाग तिन्हौं का हे सखी, जिहि घटि प्रगट होइ।। 18 ।। 511

भावार्थ : कबीर अपने को प्रेयसी मानते हैं परम पति का—कहते हैं वह तो घट-घट (शरीर) में है, सर्वत्र है, किसी की शय्या उस प्रियतम से खाली नहीं है। बात केवल उसकी अनुभूति की है, उसके रंग में रत होने की है। कबीर मानते हैं कि ब्रह्म घट-घट व्याप्त है सर्वत्र उसी का प्रसार, पर बिना अन्तर्मुखी हुए उसका अनुभव नहीं हो सकता। इन्द्रियों को बाह्य सुख की ओर से मोड़कर जब आत्मा की ओर लगावें तब वह ज्योतिर्मय इसी घट में दिखाई पड़ता है। कबीर का स्वामी राम केवल उनका नहीं है—सब का है, वह सब का सनेही है।

सून, सूनी < शून्य = खाली प्रा० सुण्ण। **सेज** < शय्या। **'सब घट मेरा साइंयां'** —'जिहि **घटि** प्रीति न प्रेम रस फुनि रसना नहिं राम (52); ऐसे **घटि-घटि राम हैं**, दुनिया देखै नांहि। (761) **'राम रतन पाया पाया घट मांहि।'** 26 भैरूँ

कबीर ज्यूं नैनौं में पूतली, त्यूं खालिक घट मांहि।
मूरिख लोग न जांणहीं, बाहरि ढूंढण जांहि।। 769

कबीर पावक रूपी राम है, घटि घटि रह्या समाइ।
चित चकमक लागै नहीं, तातै धुंवा ह्वै ह्वै जाइ ।। 19 ।। 512

भावार्थ : राम ज्योति रूप में घट-घट = प्रत्येक प्राणी में समाया हुआ है अर्थात् प्रत्येक मनुष्य में उसका निवास है। पर वह चित्तस्थिरता से ही अनुभव किया जा सकता है अथवा प्रगट हो सकता है। मन विषयों से हटकर जब तक सद्भावन उस आत्मस्थ को ओर न लगेगा तब तक आत्मज्योति का साक्षात्कार नहीं होगा। चित्त चकमक पत्थर की भांति है सूर्य की किरणें केन्द्रित होने पर ही उसमें से लौ निकलती है अन्यथा धुआ ही निकलेगा। चित चकमक लागे नहीं—अर्थात् चित्त राम से संलग्न नहीं होता उससे जुड़ता नहीं; उसको लौ लगे तो आत्मानुभूति हो—'हिरदा भीतरि हरि बसै, तू ताही सौं **ल्यौ लाइ।**' 436 **पावक** = ज्योति—

'दसवां द्वारा देहुरा, तामैं **जोति** पिछांणि।' 435 'नाना बांणी बोलिया जोति धरी करतारि।' 544 **ज्योति** = ब्रह्म ज्योति 'अन्तः ज्योति' (5.24 गीता)।

कबीर पांणी केरा पूतला, राख्या पवन संवारि।
नाना बाणी बोलिया, **जोति** धरी करतारि ।। 544

कबीर खालिक जागिया और न जागै कोइ।
कै जागै बिषई बिष भर्या, कै दास बंदगी होइ ।। 20 ।। 513

भावार्थ : कबीर का कथ्य है 'सिरजनहार' = सृष्टिकर्ता चेतन है, वह सदा जागता रहता है। सचेतन होना ही उपलब्धि है। जागना अर्थात् किसी भी क्षण भय, संशय, द्विविधा का शिकार न होना, विनाशात्मक भावों के चक्कर में न पड़ना। अंग्रेजी में यही 'अवयरनेस' है। राम सनेही—सेवक वही है जो सदा जागरूक रहे, विषयों से मोहग्रस्त न हो। कबीर कहते हैं या तो कामी-विषयी इन्द्रियों की संतुष्टि के लिए जागता है या दास-भक्त। दास एक क्षण भी अपने स्वामी को नहीं भुलाता। गीता में कहा गया है जब सब संसार सोता है अर्थात् विषयों में लिप्त रहता है तब संयमी जागता रहता है—'या निशा सर्वभूतानाम् तस्मिन् जागर्ति संयमी।' गीता 2.69

कबीर के 'जागने' का आशय है शुद्ध हृदय होना, काम-क्रोध तस्करों से सचेत होना और रामनाम से लौ लगाना।

विवृति : बिषई < विषयिन् = विषयी, भोग-विलासी। **बिष** < विष = जहर, हलाहल : 'कबीर मूल निकंदिया कौण हलाहल खाइ।' 434 'अमृत छांड़ि हलाहल खाया, लाभ लाभ करि मूल गंवाया। कहै कबीर हम बनज्या सोई, जाथैं आवागमन न होई ।। 29 सोरठि। **खालिक** (सा० 417)

'जागहु रे नर सोवहु कहा।' 26 भैरू

जाग्या रे नर नींद नसाईं । चित चेत्यौ च्यंतामणि पाई ।।
कहै कबीर अब सोवौं नांहि । रामरतन पाया घट मांहि ।। 27 भैरू

कबीर चाल्या जाइ था, आगै मिल्या खुदाइ ।
मीरा मुझ सूं यूं कह्या, किन फुरमाई गाइ ।। 21 ।। 514

पाठान्तर कबीर हज काबे जाइ था, आगै मिल्या खुदाइ ।
साईं मुझ सिउं लरि परिआ, किन फुरमाई गाइ ।। 21 ।। 514

टिप्पणी : पहला पाठ नागरी प्रचारिणी सभा सं० श्याम सुंदर दास का है। यही पाठ माता प्रसाद गुप्त ने स्वीकार किया है। उन्होंने जो पाठान्तर दिया है वह भी दिया जा रहा है। पाठान्तर, अर्थ की दृष्टि से, अधिक संगत है---**'किन फुरमाई गाइ'** का आशय पाठान्तर से सुबोध हो गया है। गुप्त जी द्वारा किया गया अर्थ—'आप गाकर क्यों नहीं कहते हैं ? (उसे कहने के लिए मेरे समक्ष उपस्थित होने की अपेक्षा नहीं है।' पर, **'किन फुरमाई** का अर्थ है='कौन आदेश देता है ? 'गाइ' गाना के आकूत में नहीं; 'गाइ' गाय, गऊ का वाचक है। **'किन फुरमाइ गाइ'** अर्थात् गोवध अथवा गोकसी मुसलमान क्यों करता है ? मेरा ऐसा फर्मा नहीं, किसने हत्या-वध कहा है ?

'आगे मिल्या खुदाइ' का भाव है सिरजनहार' 'रचनाहार' 'कर्त्तार' सर्वत्र है। काबा (मक्का में कब्बः एक इमारत जिसे मुसलमान खुदा का घर मानते हैं) जाने की अपेक्षा नहीं। वे हमारे घट में हैं; सुमिरन करो तो वे प्रकट हैं।

तु०ल० 'तब नहिं होते गाय कसाई तब **कहु बिसमिल किन फुरमाई**। रमैनी **बिसमिल** (278) **'बिसमिल मेंटि'** बिसंभर एकै, और न दूजा कोई।' 58 गौड़ी कबीर कहते हैं बिसमिल करना है तो काम-क्रोध का करो—

'हरिगुन गाइ बंग मैं दीन्हा, काम क्रोध दोउ बिसमिल कीन्हा।' 60 गौड़ी
तथा, 'बिसमिल तामस भरम कंदूरी, पंचौं भषि ज्यूं होइ सबूरी ।।' 61 "

कबीर 'हज्ज काबे' गए नहीं, 'ना कहीं गया न आया' 23 गौड़ी। मुसलमानों को समझाने के लिए वे कहते हैं—

अलह राम जीऊँ तेरे नांई ।
क्या उजू जप मंजन कीये, क्या मसीति सिर नांये ।
रोजा करै निमाज गुजारे, **क्या हज काबै जाये** ।। 52 आसावरी

तथा, कबीर सेख सबूरी बाहिरा, **क्या हज काबै जाइ** ।
जिनकी दिल स्याबति नहीं, तिनकौं कहा खुदाइ ।। 419

तथा, हज काबे ह्वै ह्वै गया, केती बार कबीर ।
मीरां मुझमें क्या खता, मुखां न बोलै पीर ।। 797

विवृति : **किनि**=किन, कौन, (अप० कवण), पं० कौण<'कः पुनर्' क्यों, की, क्यूं क्या<प्रा० कि, की; पं० कि; सं० किम् **फुरमाई** (फा० फर्मा=आदेश फर्मान=शाही आज्ञा, हुक्म फर्मा=हुक्म फरमानेवाला। गाइ<गावी प्रा० गावी, गाई, (गो)। **मीरां**=मीर=मालिक, अग्रगण्य (141, 797) **यूं** (471 498)। □□

30. साध महिमा कौ अंग

कबीर चंदन की कुटकी भली, न बबूर की अबराउं।
बैस्नौं की छपरी भली, नां साखत का बड़ गांउं ॥ 1 ॥ 515

भावार्थ : साधु संत की चंदन और दुष्ट को बबूर से समता देने की परम्परा है— चंदन सुखद-सुगंधित-शीतल वृक्ष है और बबूर कांटेदार जिसका नैकट्य दुखद है। वैष्णव चंदन है और साखत (357, 466, 523) बबूर। शाक्त भोगी होता है, उसका महल अथवा उसका बड़ा गाँव साधु-संत के लिए व्यर्थ है उसके लिए रामभक्त की कुटिया अथवा छप्पर ही उचित है। कबीर का बल पवित्र आचरण पर है।

विवृति : **कुटकी**<कुट, कुटो=पेड़। बबूर<बब्बूल। **अंबराउं** (अंबराई, अमराई< आम्र+राजि। गु० अमराइ, म० अमराई। **छपरी** (छप्पर)<छत्वर, छद्=ढकना। **नां**<न; म० नां, ओड़ि० नां०, बं० ना। **बड़**<वड्र (331)

कबीर पुर पाटण सूबस बसै, आनंद ठाँयें ठाइ।
राम सनेही बाहिरा, ऊजड़ मेरे (भाइ) ॥ 2 ॥ 516

भावार्थ : कबीर साधु अथवा रामसनेही दास के महत्व को अंकित करते हुए कहतीं हैं अत्यन्त सुन्दर बसा हुआ पुर पाटण हो और सर्वत्र आनन्द-उल्लास हो पर यदि वह राम पियारा नहीं बसता है तो मेरे भाई! वह स्थान मेरी दृष्टि में बसा हुआ भी उजड़ा है। स्थान की शोभा सच्चरित्र व्यक्ति से है, दुश्चरित्र से नहीं। जहाँ ऐश्वर्य है, संग्रह है वहाँ अन्याय होगा ही।

पांटण<पट्टन=नगर, पुर। 'पुरपाटण' का संयुक्त प्रयोग। **ठांये ठांइ**=ठावँ ठांव<स्थामन् प्रा० थाम।

बाहिरा—पा० बाहिर प्रा० बाहिर, बाहर पं० बाहर; हि० बाहर, बाहरी =अलग, *बाहिर। **ऊजड़**<प्रा० उज्जड पं० उज्जड़, बं० उजड़ गु० उजड़, उज्जड़, *उज्जट (जाट—)। उजाड़<*उज्जाट। **मेरे भाइ**=मेरे भाई ('तुम्ह जिनि बिगरौ मेरे भाई।' (13 सोरठि) **भाइ, भाई**<भ्रातृ।

कबीर जिहि घरि साध न पूजिये, हरि की सेवा नांहि।
ते घर मड़हट सारिषे, भूत बसै तिन मांहि ॥ 3 ॥ 517

कबीर है गै गैवर सघन घन, छत्रधजा फरराइ।
ता सुख थैं भिष्या भली, हरि सुमिरत दिन जाइ ॥ 4 ॥ 518

भावार्थ : कबीर उसी घर को धन्य मानते हैं जिसमें हरिभक्ति, हरिकीर्तन हो—जो हरिदास से युक्त हो, जहाँ साधुओं का आदर होता हो, जहाँ हरि की सेवा हो—अर्थात्

जहाँ शुद्ध आचरण हो—लोभ-मोह का अभाव हो। जहाँ ये गुण नहीं है वह घट श्मशान तुल्य है।

चाहे छत्रपति ही हो, छत्र और ध्वजा शोभायमान हो और हय (घोड़ा), गज, गैवर (गजवर) से युक्त हो पर यदि वहाँ हरि-सुमिरन नहीं तो वह वैभव व्यर्थ है। उस राज्य के सुख से छप्पर में रहने का सुख अधिक है क्योंकि वहाँ ईश्वर का स्मरण और उसकी सेवा संभव है। 'दीन गरीबी बंदगी' कबीर का आदर्श है—

दीन गरीबी दीन की, दुंदर कौं अभिमान।
दुंदर दिल विष सूं भरी, दीन गरीबी राम ॥ 630
कबीर चेरा संत का, दासनि का परदास।
कबीर ऐसे ह्वै रह्या, ज्यूं पांऊं तलि घास ॥ 631

विवृति : मड़हट = मरघट। सारिषे<सारिक्ष (475, 485) गैवर<गजवर प्रा० गयवर, हि० गैयर। छत्र = राजछत्र। छत्रधुजा का संयुक्त प्रयोग सूरसागर में भी है। धजा<ध्वजा। फरराइ<*फट् = फरफर, फड़फड़ाना, गु० फड़फडवु म० फडफडणें।

कबीर है गै गैवर सघन घन, छत्रपती की नारि।
तास पटंतर ना तुलै, हरिजन की पनिहारि ॥ 5 ॥ 519
कबीर क्यूं नृपनारी नींदियै, क्यूं पनिहारी कौं मान।
वा मांग संवारै पीवकूं, वा नित उठि सुमिरै राम ॥ 6 ॥ 520

भावार्थ : कबीर वैभव-ऐश्वर्य से संबन्धित सभी वस्तुओं के विरोध में हैं क्योंकि जहाँ प्रेय है वहाँ सत्य नहीं—संग्रह के मूल में शोषण है, अनाचार है, छद्म है। कबीर उक्त साखियों मे छत्रपति (राजा) की पत्नी से श्रेयस् अथवा बढ़कर हरिभक्त की पनिहारिन को मानते हैं क्योंकि 'दीन गरीबी बंदगी' का सेवा और हरिसुमिरन से सम्बन्ध है। ऐश्वर्य अभिमान का मूल है। रानी को अपने शृंगार से प्रेम है वह राम को क्यों सुमिरे जबकि हरिदास की पनिहारी उठते ही राम राम कहती है। रानी व्यस्त है विषय सुख की खोज में जब कि पनिहारिन व्यस्त है संतों की सेवा में। संत जिसे किसी से बैर नहीं, जो निष्काम है, जो परसेवा में रत है और जिसे सर्वत्र अपना साहिब दिखाई देता है। संत की संगति से पनिहारि राम (ब्रह्म) में रत है, राजा की संगति में रानी विषय में रत। कबीर साधु की महिमा गा रहे हैं।

विवृति : पटंतर = बराबरी 'राम नाम कै पटंतरै देबे को कुछ नाहि।' 4 पनिहारि प्रा० पाणिअहारा<*पानीयहार।

कबीर धनि ते सुंदरी, जिनि जाया बैस्नौं पूत।
राम सुमिरि निरभै हुवा, सब जग गया अऊत ॥ 7 ॥ 521

भावार्थ : कबीर वैष्णव जन हैं—वे अपनी समग्र रचना में वैष्णव भक्त की प्रशंसा करते हैं। उनका वैष्णव विष्णु का उपासक नहीं, मंदिर के राम का भक्त नहीं, वह मूल

कर्त्ता राम अथवा ब्रह्म को अपना साहिब मानता है—वह साहिब जो 'घटि घटि रहा समाई' तथा 'राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे'। कबीर का कथ्य है कि ब्रह्म 'ततसार' है उसको स्मरण रखनेवाला भक्त निर्भय हो गया—उसे संसार-काल किसी से भय नहीं। जिस घर में ऐसा वैष्णव उत्पन्न हुआ है वही धन्य है, जिस नारी ने ऐसे रामदास को जना है वही भाग्यशालिनी है अन्यथा यह संसार उस खेत सदृश है जिसमें बीज पड़ा ही नहीं अर्थात् मनुष्य वही जो ईश्वरमुखी हो।

विवृति : **अऊत गया** = अ + ऊत < वप् उप्त > प्रा० वुत्त = बोया हुआ **अऊत** बिना बोया बिना बीज डाला। **जाया** (जन्) < जात = पैदा किया गया। **पूत** < प्रा० पुत्त < पुत्र। सुंदरी (292) **ते** = वे। **जिनि** = जिन्ह (मानस) = जिसने, जिन्होंने।

[कबीर के वैष्णवभाव के लिए पढ़ें—लेखक की पुरस्कृत कृत **वैष्णव कबीर** भाषा-साहित्य-संस्थान, 147 त्रिवेणी रोड, इलाहाबाद 03]

कबीर कुल तो सो भला, जिहि कुलि उपजे दास।
जिहि कुलि दास न ऊपजे, सो कुल आक पलास ॥ 8 ॥ 522

भावार्थ : कबीर रामभक्ति पर बल देते हुए कहते हैं कि वही कुल भला है जहाँ किसी वैष्णव जन का जन्म हो। जीवन की सार्थकता रामदास होने में है क्योंकि बिना दास बने आपा-अहंकार नहीं मिटता। कबीर का कथ्य है चारवर्ण का महत्व नहीं महत्व है राम दास होने का चारों वर्णों से ऊपर। **आक पलास** (487) निकृष्ट पौधे हैं इसीलिए कबीर जिस कुल में राम दास नहीं है उसे आक-पलास सदृश मानते हैं।

विवृति : सो, सोइ < सः (469, 473, 509) **भला** < भद्र प्रा० भल्ल 374, 473, 486। **उपजे, ऊपजे** < उत्पद्यते। 376

कबीर साखित बाह्मण मति मिलै, बैस्नो मिलै चंडाल।
अंकमाल दे भेंटये, जानू मिले गोपाल ॥ 9 ॥ 523

भावार्थ : कबीर शाक्तों के दुराचार और पंचमकार के सेवन के कारण उनकी निन्दा करते हैं—कुमारी-पूजा यौन पूजा है। कबीर वर्ण में नहीं आस्था रखते हैं—ब्राह्मण यदि शाक्त है तो वह भ्रष्ट है, उससे अच्छा है वैष्णव भले ही वह चांडाल हो—वैष्णव का हृदय 'सुध' (शुद्ध) होता है, वह सब में राम का दर्शन करता है भले ही वह विवशता में चांडाल का काम करे। वैष्णव कोई भी हो उसे भरपूर आलिंगन देने से प्रसन्नता होती है—वह रामरूप है। शास्त्रों में ब्राह्मण यदि चांडाल हो तो भी उसकी महत्ता प्रतिपादित है, कबीर वैष्णव की महत्ता के पक्षधर हैं वर्ण के नहीं।

विवृति : **साखित** < शाक्त (357, 515) **चंडाल** < चांडाल (चाण्डाल किमयं द्विजातिरथवा—भर्तृ० 3/56, मनु० 3/239, 4/29 **अंकमाल** < अङ्कपालि = अँकवार ('अंक भरे भर भेंटए' 486—'आजु जाये जानि सब **अंकमाल देत** हैं (कविता०

5/29), अंकमाल देना । भेंटिये 486, 'अनंतकला भेंटे गोब्यंद' 14 बसंत । 'रास सखा मुनि बरबस भेंटा (मानस 2/243) भेंट<प्रा० भिट्टिजइ=मिलता हैं *भेट्ट; हि० भेंटना, गु० भेटवु म० भेंटणें, मै० भेंटब, ओ० भेंटिबा, बं० भेंटा । जानू (ज्ञा, जानाति) 'जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्' (मनु० 2/110)

गोपाल, मुरारि, त्रिभुवनराय, त्रिभुवनपति प्रयोग कबीर के वैष्णव होने की सूचना देते हैं । (द्रष्टव्य, लेखक की कृति वैष्णव कबीर ।)

राम जपत दालिद भला, टूटी घर की छांनि ।
ऊँचे मन्दिर जालि दे, जहाँ भगति न सारंगपानि ॥ 10 ॥ 524

भावार्थ : कबीर का आदर्श है रामभक्ति—सर्वत्र मुरारि की उपस्थिति की अनुभूति, प्राणिमात्र की समानता, अभद । उस आदर्श की पूर्ति में दरिद्रता ही संभव है, संग्रह-वैभव नहीं । इसलिए कबीर का कथ्य है राम जपते हुए, सत्य का सुमिरन करते हुए दरिद्र रहना अच्छा है (आदर्श की प्राप्ति और वैभव का भोग परस्पर विरोधी हैं) । त्यागी सेवक के पास कभी ऊँचे महल नहीं हो सकते, उसके घर की छादन हमेशा टूटी-फूटी बेमरम्मत ही रहेगी क्योंकि उसका ध्यान प्रेय (सांसारिक सम्पदा) की ओर नहीं होता है । कबीर कहते हैं हम अट्टालिका से क्या लेना-देना उसे तो जला दूँ, विनष्ट कर दूँ क्योंकि वहाँ सचाई, परसेवा और हरि सुमिरन संभव नहीं । कबीर 'निराकार' 'अवरन' 'ब्रह्म' 'निरंजन' के भक्त हैं पर वे सारंगपानि, कृष्ण, राम का गुण गान करते थकते नहीं । अपनी साखी-सबद के द्वारा उन्होंने 'राम गुन बेलड़ी' का ही गुणगान किया है ।

राम जपत=राम जपते हुए (रामहि राम जपंतड़ा' 364) जप्=मन ही मन कहना ('हरिरिति हरिरिति जपति' गीत गो०) ।

विवृति : टूटी=बेमरम्मत, जीर्ण-शीर्ण । टूटना<त्रुट्यति=टूटता है । त्रुटित । घर<*घर ('घर जालौं घर ऊबरै, घर राखौं घर जाइ ।' 622) घर की फिक्र करने वाला आत्मखोजी, आत्माराम नहीं हो सकता है । जालि दे=जला दो (ज्वालयति=जलाता है) कबीर ऊँचे घर के लिए मंदिर (महल) का प्रयोग करते हैं—'ते मन्दिर खाली पड़े, बैसण लागे काग ।' 214 'कबीर मन्दिर लाख का' (229) कबीर भाषा-प्रयोग में बड़े सतर्क हैं—उनकी शब्दसम्पदा एवं वाक्यज्ञान से वे अपढ़ नहीं हैं प्रत्युत् उपनिषद्-गीता-भागवत भक्तिपरक ग्रंथों के पण्डित हैं । ऊँचे<उच्च । 'ऊँचे मन्दिर' साभिप्राय है—घर फूस-फास का होता है; मन्दिर ईंटों का बना : (कबीर मन्दिर ढहि पड़ा, ईंट भई सैवार ।' 227 कबीर के विशेषण-प्रयोग काव्य-मर्म को उद्घाटित करते हैं । सारंगपानि (सारङ्ग=धनुष) जिनके हाथ में धनुष है—विष्णु, राम)<शार्ङ्ग=सींग का बना धनुष; शार्ङ्गपाणि=विष्णु ।

कबीर भया है केतकी, भँवर भए सब दास ।
जहँ जहँ भगति कबीर की, तहँ तहँ राम निवास ॥ 11 ॥ 525

भावार्थ : कबीर राम-भक्ति के प्रचार-प्रसार की सफलता का मूल्यांकन करते हुए कहते हैं–साखी, रमैनी, सबद अथवा राम का गुणगान सुननेवाले कष्ट सहकर भी निछावर हैं। लोगों को अनुभव हो रहा है कि जहाँ-जहाँ कबीर (=श्रेष्ठ=राम) की भाव-भगति, नाम जप, कीर्तन को लोग अपना रहे हैं वहाँ-वहाँ राम का वास है। राम वहीं हैं जहाँ लोग शुद्ध हृदय से माया-मोह लोभ के बन्धन को तोड़कर राम में लवलीन हैं। कबीर और रामसनेही भक्तों के बीच केवड़े और भ्रमर का संबंध है। कबीर की भक्ति=राम की भक्ति।

केतक (केवड़ा) पर भंवरे मंडराते रहते हैं भले ही उसके नोकीले सूई की भाँति कांटे उन्हें बेधते हैं। 'ऋतु संहार' में कहा गया हैं—'हसितमिव विधत्ते सूचिभिः केतकीनाम्।' 2/23 केवड़े के पुष्प के प्रति भँवरे का प्रेम आदर्श रूप में अंकित किया जाता रहा है। 'पदमावत' में जायसी राजा रतनसेन का पद्मावती के प्रति आकर्षण अंकित करते हुए कहते हैं—

फूल फूल फिर पूछौं जौं पहुँचौं ओहि **केत**।
तन नेवछावर कै मिलौं ज्यौं मधुकर जिउ देत॥ 125

सूरसागर— 'ज्यौं मधुकर बस परे केतकी, नहि त्वां हैं निकरे। 2925

केतकी < केतक, केतकी=केवड़े का पौधा अथवा फूल जो तीव्र गंधवाला है। कबीर जयदेव, नामदेव की परम्परा से जुटे हैं और रामभक्ति, मुरारिभक्ति के प्रति परम भागवत हैं। विष्णु-भक्ति-धारा में कबीर, दादू, रयदास निर्गुणवादी होते हुए भी सम्मिलित हुए; इनका राम निराकार ब्रह्म है, ओंकार है साथ ही वह अनन्त गुणवाला है।

'जहँ जहँ भगति **कबीर** की' से ध्वनित होता है कि 'कबोर' नाम जनता का दिया है कबीर के उच्च आदर्श और सम्यक् साधुमय आचरण के कारण। **कबीर** (अरबी) विशेषण है जिसका अर्थ है बड़ा, महान्, उत्तम। **कबीर** राम भक्ति से **कबीर** हुए यह बार-बार कवि अंकित करता है संभव है विनम्रता-भक्ति के कारण। तुलसी, 'जा सुमिरत भयो भांग ते, तुलसी तुलसीदास।' (मा० 1/26)

कबीर की कीर्ति केवड़े के सुवास की भाँति फैली फलतः सभी वर्ग के लोग, मुख्यतः उपेक्षित उनके अनुयायी हुए।

□□

31. मधि कौ अंग

कबीर ने **मधि** (= मध्य) **कौ अंग** में निरपष = निरपेक्ष (निर् + अपेक्ष) की बात कही है। दादू ने 'मधिभाव' को अभेद—समदृष्टि अथवा तटस्थ के भाव में प्रयोग किया है :

समदृष्टि सूँ भाई सहज में, आपहि आप विचारा।
मैं तैं मेरी यह मति नाहीं, निरबैरी निरबिकारा॥

तथा, द्वै पखरहित पन्थ गह पूरा, अबरन एक अधारा॥

'द्वै पख रहित' भाव ही 'मधि' है। यही निर्द्वन्द्व (गीता 1,45) की स्थिति है। दूसरे शब्दों में द्वैत (हर्ष-विषाद) से परे की स्थिति है यह। जहाँ द्वैत है वहीं दुविधा (संशय) है अतः कबीर 'मधि कौ अंग' में संशय तथा आपा-पर भाव से विगत रहने की सीख देते हैं। द्वन्द्व भाव समझाने के लिए वे धरती-आकाश का प्रतीकात्मक प्रयोग करते हैं—दोनों सीमाओं से मुक्त अथवा विरक्त हो जो वही योगी-साधु है। भारतीय दर्शन के अद्वैतभाव का यही निचोड़ है। कबीर जब लोक-वेद से ऊपर उठने की बात कहते हैं तब 'मधि' भाव ही समझना चाहिए। कबीर हिन्दू-मुसलमानों के आपसी घृणात्मक भाव को दो पक्षों का भाव मानते हैं और उसके विरोध में अपने को न हिन्दू कहते हैं और न मुसलमान। नामदेव भी अपने को मन्दिर-मसजिद से अलग मानते थे :

हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद।
नामा सोई सेविया, जहँ देहरा न मसींद॥

सभी संतों ने राम-रहीम, राम-खुदा कासी-काबा के झगड़े को द्वन्द्व कहा है। (साखी 532, 536)

कबीर कहते हैं काजी 'चढ़ि मसीति एकै कहै' पर 'ब्रह्म हतै तब दोइ' (414) यही उसकी द्वैत दृष्टि (आपा-पर का भेद) सर्वनाश का कारण है। काजी 'दुनी का साथि' है 'दीन' की बिसारि—'दिल थैं दीन बिसारिया'। कबीर का 'देहुरा' और 'मसीति' इस शरीर के भीतर है—कहीं बाहर नहीं—'दस द्वारे का देहरा तामे जोति पिछांणि।' 435 कबीर अद्वैतवादी हैं—'दूजा' कोई है नहीं। उस एक को पहचानना जानना ही 'मधि कौ अंग' है।

सं० मध्य का एक अर्थ है तटस्थ, निष्पक्ष। इसी भाव में 'मधि' है। सं० मध्य से विकसित मंझ, मांझ, मांह है। उच्चारण सुविधा से 'मध्य' हो मधि है। 'मधि कौ अंग' अर्थात् निष्पक्ष, निर्द्वन्द्व रहनि की महिमा।

कबीर मधि अंग जे को रहै, तौ तिरत न लागै बार।
दुइ दुइ अंग सूं लाग करि, डूबत है संसार॥ 1 ॥ 526

भावार्थ : कबीर का कथ्य है 'निरपष'—निर्द्वन्द्व रहने पर भवसागर पार होने (मुक्ति) में विलम्ब नहीं लगता। संसार राम से नाता न जोड़कर दूसरों से नाता जोड़ता है। दुइ-दुइ अंग (एक अंग 527) अर्थात् द्वैत भेद अथवा दो पक्ष। सामयिक संदर्भ में हिन्दुओं का पष और तुरुकों का पष दो भिन्न-भिन्न मार्ग। सचाई यह है मानव उसी परमेश्वर का अंग है—सर्वत्र वही। कहीं भेद नहीं, दो नहीं। हिन्दू-मुसलमान को 'मधि' का अंग अपनाना चाहिए। दुइ-दुइ अंग दुविधा (527) संशय के आशय में भी है। दुइ-दुइ अंग = एक 'अबरन' को छोड़कर दूसरा रास्ता पकड़ना, राम-अल्लाह में भेद मानना, हिन्दू-तुरुक को अलग मानना। **नारद भक्ति सूत्र**—'कस्तरति कस्तरति मायाम्। यः सङ्गास्त्यजतियो महानुभावं सवते निर्ममो भवति।' 46

'डूबत' के स्थान पर 'बूड़ना' 'हरि की भगति जाने बिना, भव बूड़ि मुवा संसार।' रमैनी। कबीर का 'मधि अंग' हरिभक्ति है जो संसार से तारता और परमार्थ से जोड़ता है। अन्यत्र भी 'बूड़हुगे परिवार सकल सिउ राम न जपहु अभागे।' तरने का विरोधी है बूड़ना, डूबना, नष्ट होना।

'तारन तिरन तिरन तूं तारन, और न दूजा जानौं।'

विवृति : **जे को** = जो कोई, **जे** < यः, को < केचित् (265, 508, 594) **तिरति**—तॄ, तरति = पार जाता है। **बार न लागै** = समय नहीं लगता है, बार < वार (2, 237) दुइ < द्वि = दो, दोनों। **लाग करि** < लग्न। **डूबत** = बूडत, (110); **बूड़ना** < प्रा० बुड्ड (177)।

कबीर दुबिधा दूरि करि एक अंग ह्वै लागि।
बहु सीतल बहु तपति है, दोऊ कहिये आगि॥ 2 ॥ 527

भावार्थ : दुविधा (द्विधा = दो टुकड़ों में बँटा = संशय ग्रस्त = चंचल) दूर करके मनुष्य उस एक 'अबिनासी', 'त्रिभुवन पति' से मन लगावे दूजा से नहीं, यही मुक्ति का मार्ग है 'संशयात्मा विनश्यति।' **एक अंग ह्वै लागि** अर्थात् एक के आश्रित रहे—उसी एक का दास। **दुइ दुइ अंग** नहीं अर्थात् किसी और का भरोसा नहीं। संसार में द्वन्द्व है हर्ष-विषाद का, शीतल-उष्ण का, राग-द्वेष का इन दोनों अंगों को छोड़कर मार्ग चुने। शीतल और तप्त दो छोर है—दोनों ही अंततः कष्टप्रद हैं; हर्ष-शोक का चक्र चलता रहता है। साधक को इन द्वन्द्वों से विरक्त रहना चाहिए अर्थात् द्वन्द्वातीत। एक अंग का आशय रामभक्ति से है—उस 'समृथ्थ' (समर्थ) के आश्रित होने से है। **नारद भक्ति सूत्र** 'भक्ता एकान्तिनो (= अनन्य) मुख्याः'।

दुबिधा— कबीर हरदा भीतर आरसी, मुख देखणां न जाइ।
मुख तौ तौ परि देखिये, जे मन की दुबिधा जाइ॥ 280

कबीर अनल अकासा घर किया, मधि निरंतर बास।
बसुधा ब्योम बिरकत रहै, बिन ठाहर बिन बास॥ 3 ॥ 528

भावार्थ : कबीर दादू ने 'अनल अकासा' की बार-बार चरचा की हैं—उसे आदर्श माना है। अनल पक्षी : इसके बारे में मान्यता है कि वह अधर (अंतरिक्ष)= मधि (मध्य) में वास करता है—न आकाश में न धरती पर दोनों से विगत। कबीर-दादू के अनुसार यही 'मधि अंग' है, यही निरपष का भाव है—द्वन्द्व से परे अर्थात् निर्द्वन्द्व अथवा द्वन्द्वातीत। निस्संग, वियुक्त, निर्मम अथवा संग से बिरकत (विरक्त)। कबीर के अनुसार भक्त का ठाहर-वास संसार नहीं जहाँ माया का साम्राज्य है जहाँ, दुविधा है, जहाँ मनुष्य का चित्त चंचल है। आत्मस्थ होने के लिए द्वन्द्वातीत होना अनिवार्य है भारतीय दर्शन के अनुसार—यही अद्वैतभाव है। तुलनीय,

> 'मन उनमन उस अंड ज्यूं **अनल अकासा** जोइ।' 281
>
> '**अनल पंषि** आकास कूं माया मेर (मेरु) उलंघि।
> दादू उलटे पंथ चढ़ि, आइ बिलंबे अंगि॥'

विवृति : **अकासा**<आकाश=अंतरिक्ष, गगन। कबीर ने इसी भाव में 'अधर' (आकाश के नीचे) का भी प्रयोग किया है—

> कबीर मनवा तो **अधर बस्या** बहु तक भीणा होइ।
> आलोकत सचु पाइया, कबहुँ न न्यारा सोइ॥ 286

दादू ने भी—

> षेलै सीस उतारि करि, **अधर** एक सौं जाइ।
> दादू पीवें प्रेम रस, सुष में रहे समाइ॥

घर किया=निवास किया। **घर**<पा०, प्रा० घर (62) **निरंतर**—कबीर का बल सतत राम से जुड़े रहने के लिए है। एक क्षण के लिए भी उस '**आनंद मूल सदा परसोत्तम**' (सोरठि 31) को न भूले—सदा निर्द्वन्द्व रहे। **बिरकत**<विरक्त=विगत= सांसारिक निषय-वासना से उदासीन। **ठाहर**=ठौर<स्थावर; ठौर-ठाहर, ठहराना।

> बासुरि गमि न रैणि गमि, ना सुपनंतर गंम।
> कबीर तहाँ बिलंबिया, जहाँ छांह न घंम॥ 4॥ 529

भावार्थ : कबीर उस 'अबरन बरन' अलष राम के धाम का वर्णन करते हुए कहते हैं उस परम धाम में न दिन (सूर्य) की गति है और रात्रि (चन्द्रमा) की। सबके लिए अगम्य। वहाँ धूप-छाँह का द्वन्द्व नहीं है—वह सभी द्वन्द्वों से रहित है। वहाँ स्वप्न में भी नहीं पहुँचा जा सकता है, अर्थात् समय-स्थान की सीमा से परे है वह अलख। कबीर उस अलख के पास ठहर रहा है और वहाँ आनंद ले रहा है।

विवृति : **बासरि**<वासर। **गम, गमि**<गम्य (185, 126, 310) **रैंणि**<रजनी, प्रा० रयणि, रयणी, **बासर-रैंनि** (रैणि) का प्रयोग द्वन्द्व भाव के बोध के लिए है; हिंदी दिन रात (रात दिन) इसी भाव में है (बासर सुख नां रैणि सुख, ना सुख सुपिनै मांहि।

कबीर बिछुट्या राम सूं, नां सुख धूप न छांह।' 71 **सुपनंतर**=स्वप्न में **बिलंबिया**< लंब्, विलंबते=ठहरा हुआ है (कबीर तहाँ बिलंबिया करै अलष की सेव। 163)= संलग्न। **छांह**<छाया; छाहीं। **घंम**=घाम<पा० प्रा० घम्म<धर्म।

जिहि पैंडे पंडित गए, दुनिया परी बहीर।
औघट घाटी गुर कही, तिहिं चढ़ि रह्या कबीर॥ 5॥ 530

भावार्थ : कबीर का कथ्य है कि पंडितों ने शास्त्र की घिसी-पिटी जो लीक चलाई उसी पैंडे बधिर 620 (बहिर अंधी—साखी 736) दुनिया लग गयी। अथवा 'दुनिया परी बहीर'=फिर दुनिया उस पर चल पड़ी। (हि० बहुरि, मा० बहोड़ि (=फिर)<प्रा० वाहुडिअ) समझा और न अनुभव किया यहाँ 'पंडित' हिंदू-मुसलमान और दोनों के आशय में है। पंडित-मुल्ला कर्मकाण्ड में फँसे हैं—मन्दिर मसजिद के द्वन्द्व में पड़े हैं, उन्हें समता-अभेद का मार्ग, शुद्ध हृदय की बात आती ही नहीं। उन्हें उस भेदरहित परमात्मा के प्रति आस्था नहीं। उस निराकार का पैंडा (=पंथ) अगम है उस मार्ग पर सब नहीं चल सकते, वह संकीर्ण है। (प्रेम गली अति सांकरी) वह औघट है। कबीर कहते हैं गुरु कृपा से वह अगम्य-दुर्गम पथ 'सुघट-घाट' हो गया है और कबीर उस राम से अपनाया जा चुका है :

घट मांहैं औघट लह्या, औघट माहैं घाट।
कहै कबीर परचा भया, गुरु दिखाई बाट॥ 131

'राम रतन पाया घट माहि।' 27 भैरूं। ईश्वर भीतर है मंदिर-मसजिद में नहीं।

पैंडा<पद—दण्ड (पगडंडी)=मार्ग। कबीर का कहना है लोकवेद के रास्ते चलकर न जाति-पांति कुल का भेद मिटेगा और न उस ज्योति का अनुभव होगा—

पीछै लागा जाइ था लोकवेद के साथि।
आगै थै सतगुर मिला दीपक दीया हाथि॥ 11

नारद भक्ति सूत्र—'निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः'।

स्रग नृक थैं हूँ रह्या, सतगुरु के प्रसादि।
चरन कवंल की मौज मैं, रहिस्यूँ अंति रु आदि॥ 6॥ 531

भावार्थ : कबीर पहले भक्त हैं बाद में कुछ और। वे निर्गुण निराकार राम की बात करते हैं पर साथ ही राम के चरण कमल में अपना मन लगाते हैं : यही उनकी वैष्णवी उपासना है (द्रष्टव्य, लेखक की कृति **वैष्णव कबीर**), कबीर को मात्र निर्गुणी मानना औचित्य से परे हैं।

कबीर का कहना है उन्हीं राम के चरणकमल के प्रसाद से मैं रामरस में मस्त रहता हूँ। मैं आदि-अंत सदा उन्हीं चरणों की भक्ति में रहूँगा। आदि-अंत सीमा द्योतक है और परस्पर विरोधी। कबीर का कथ्य है प्रत्येक काल-स्थिति में मैं अभेद भाव से उसी राम के प्रति समर्पित हूँ। सतगुरु ने मुझे यही ज्ञान-मार्ग दिया है (रामानन्द में भी ज्ञान-भक्ति का समन्वय है।) इसी भक्ति से मैं सर्ग-नरक दोनों सीमाओं से अलग हूँ अर्थात् मुझे बिहिश्त और दोजख से भय नहीं :

दोजग तौ हम अँगिया यहु डर नाहीं मुझ।
भिस्त न मेरे चाहिये, बाझ पियारे तुझ ॥ 199

कबीर राम को पति (खसम) रूप में मानते हैं। वे अपने को रामदास भी कहते हैं, राम सनेही भी। उन्हें केवल राम से नाता है उसी के नाते वे निर्भय और निर्द्वन्द्व हैं; शरणागत भक्त की स्थिति यही है। कबीर को न स्वर्ग से मोह है और नर्क से भय। उनका कहना है—

हरि चरनौं चित्त राखिये, तौ अमरापुर होइ ॥ 445

अमरापुर में होना = मौज-आनन्द में होना है। यह स्थिति तभी संभव है जब सर्वभावेन राम के चरणों में चित्त लगा रहे और हृदय निर्मल रहे—"कबीर माला पहर्‌या कुछ नहीं गांठि हिरदा की खोइ" 445 भगति मुरारि (545) और 'चरन सेवा' पर बल है कबीर का—'चरनन लागि करौं सेवकाई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई।' अन्यत्र भी "कहै कबीर सेवौं बनवारी, सींचौ पेड़ पिवै सब डारी।" कबीर का कथ्य है कि जपतप-तीर्थ-व्रत थोथरे-व्यर्थ हैं :

कबीर जप तप दीसै थोथरा, तीरथ व्रत बेसास।
सूवैं सैमल सेविया, यूं जग चल्या निरास ॥ 433

कबीर की भक्ति का अर्थ है सर्वत्र राम के स्वरूप का दर्शन 'सकल मांड मैं रमि रह्या, साहिब कहिये सोइ। 581 सूर-तुलसी की भक्तिभावना के आधार कबीर हैं। गोरख, ज्ञानदेव, नामदेव सबका बल रहा है अभेद पर। घर में और बाहर एक ही तत्व है—वही जल भीतर वही बाहर। घड़ा फूटने पर जल परमतत्व में लय हो जाता है। यह अभेद दृष्टि भारतीय दर्शन का मुख्य अंग है। कबीर को पूरी परंपरा से जोड़कर समझा जा सकता है। कबीर भले-'अविगत,' 'निरंजन की बात करें पर उनका हृदय सूर-तुलसी की भांति रामचरन में है।

कबीर हिंदू मूये राम कहि, मुसलमान खुदाइ।
कहै कबीर सो जीवता, दुह मैं कदे न जाइ ॥ 7 ॥ 532

भावार्थ : कबीर द्वैत का बार-बार विरोध करते हैं—दुह (=दुइ) को नहीं एक को जानो (526, 527)। हिन्दू-मुसलमान दोनों ही उस एक तत्व को जो सर्वत्र-सब में है भुलाकर राम और खुदा को अलग-अलग जानते हैं। 'पुरुषोतम' एक ही है—सारा जग उसी से व्याप्त है और सारा जग उसमें है। जब तक अभेद दृष्टि मिलेगी नहीं और समत्व को लोग अपनावेंगे नहीं तब तक दोनों का सर्वनाश—दोनों धर्म के नाम पर लड़ रहे हैं इसलिए दोनों की राह गलत है। यह पंथ उस 'अविनाशी' का नहीं है। कबीर का बल एक राम, एक ब्रह्म, एक मुरारि पर है। 'दुह में कदे न जाइ' अर्थात् अनन्य भक्ति 'अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता।' नारद भ० सू० **कदे न** (209)। 'मूये' और 'जीवता' (मृतक-जीवित) परस्पर विरोधी हैं।

कबीर अखंडता एकता-समता के सर्वोच्च कवि हैं। उन्हीं का दर्शन हमारी सामाजिक धार्मिक समस्याओं को सुलझा सकता है। गोरख से लेकर तुलसी तक ज्ञान-भक्ति-समता की जो त्रिवेणी बहती है उसी में अवगाहन करना होगा। तर्क से एकता संभव नहीं। 'निरपष' बनना आत्मदर्शन से ही संभव है। यह 'मधि का अंग' है। 'दुइ-दुइ अंग लाग करि, डूबत है संसार' 526 'दुइ' के विरोध में 'अबरन एक अकल अबिनासी, घटि-घटि आप रहै।' तथा 'जो यह एकै जांणिया, तौ जाणां सब जांण।' 200 तथा, 'आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास।' 203 दूजी आस = 'जगत की आस'। कबीर राम से आशा रखनेवाले को 'जीवता' (जीवित) कहते हैं और संसार से आशा रखनेवाले को 'मृतक' : 'कबीर जीवित मृतक ह्वै रहै, तज जगत की आस।' 619 ऐसी स्थिति होने पर फिर भगवान ही भक्त की सेवा करते हैं—उसे दुख नहीं होने देते : 'तब हरि सेवा आपण करै, मति दुख पावै दास।' 619 **भामिनी विलास** 4/19 में है—"ध्रुवं ते **जीवन्तोऽ**प्यहह मृतका मन्दमतयो, न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथभणितिः।"

> कबीर दुखिया मूवा दुख कूं, सुखिया सुख कौं झूरि।
> सदा अनंदी राम के, जिन सुख दुख मेल्हे दूरि॥ 8 ॥ 533

भावार्थ : कबीर सुख-दुख के द्वन्द्व से मुक्त होकर 'अनंदी राम' बनने की कला बताते हैं। आनंद और सुख में अंतर है—सुख इन्द्रियसुख, भौतिक समृद्धि है, प्रेय की प्राप्ति है और आनन्द मानसिक-आत्मिक शांति। कबीर आनन्द के दर्शन की विवृति कर रहे हैं। संसार में जो सम्पन्न हैं वे और सुख की तलाश में दुःखी हैं इसलिए वे सुखी-सम्पन्न होते हुए भी माया-मोह से संतप्त हो रहे हैं—अधिक से अधिक संग्रह उनके विनाश का कारण बनता है। जो सचमुच दुख-विपन्नता का शिकार है वह तो मर ही रहा है। इस प्रकार सुख-दुख सबको पीड़ित कर रहा है। यह विषमता किसी भौतिक दर्शन से सुलझने वाली नहीं है। अधिक सुख और अधिक दुख दोनों ही आग हैं (527)। संत सुख-दुख से राग नहीं करता। वह विरक्त हो इन्द्रियों को बाह्य जगत् से मोड़कर भीतर की ओर प्रेरित करता है। आत्मज्योति से वह सर्वत्र एक ही सत्य का अनुभव करता है।

'सदा अनंदी राम के' कबीर की भक्ति भावना एवं समदृष्टि की पुष्टि करता है—आनंद आत्मसुखी होने में है, संतुलन में है, 'यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणिसंन्यस्यति, ततो निर्द्वन्द्वो भवति।' नारद भ० सू०

आज संसार प्रक्षेप्यास्त्रों की लड़ाई में भस्म हो रहा है—सारी लड़ाई अधिकार और सुख-भोग के लिए है। यह साम्राज्यवादी नीति विषमता का मूल है। इससे मुक्ति के लिए कबीर की विचारधारा सहायक है। सामाजिक असमानता दूर करनी होगी, एतदर्थ हृदय को निर्मल-उदार-त्यागी बनाना होगा। **झूरि** (सा० 111) **मेल्हे दूरि** = सुख दुख को दूर हटा दिया = राम भक्त हर्ष-विषाद से मुक्त। तुल०

पूरे सूँ परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्हो आतमा, ताथैं सदा हजूरि ॥ 35

कबीर हरदी पीयरी, चूना उज्जल भाइ।
राम सनेही यूँ मिलें, दून्यूं बरन गमाइ ॥ 9 ॥ 534

भावार्थ : कबीर 'मधि कौ अंग'' में मध्यम मार्ग—निरपष भाव को ग्रहण करने की सलाह दे रहे हैं। हिन्दू-मुसलमान जातिभेद, वर्णभेद को भूलें तो मेल संभव है। इसी को प्रतीकात्मक ढंग से कबीर कहते हैं कि हल्दी पीली होती है और चूना उज्ज्वल। जब चूना हल्दी अपनी अपनी पहचान छोड़ते हैं और मिलते हैं तब सम्यक् रंग उत्पन्न होता है। हिन्दू-मुसलमान राम-अल्लाह का भेद मिटा कर मिलें तभी अखंडता-एकता की रक्षा हो सकेगी। जो द्वन्द्व छोड़े वही 'राम सनेही' है। कबीर कर्मकाण्ड को महत्व नहीं देते उनका बल विचारशुद्धि, हृदयशुद्धि पर है। कबीर अपने को बार-बार **'राम सनेही'** कहते हैं। आज धर्मसनेही, वैभवसनेही, भेदसनेही का प्राबल्य है। कबीर इसलिए आज के संदर्भ में महत्वपूर्ण हैं। 'राम सनेही' वही है जो शील (सम्यक् आचरण) का निर्वाह करे। कबीर पंडितों से कहते हैं तू 'कागद की देखी' कहता है और मैं 'आंखिन देखी'—अर्थात् तुम शास्त्रों के पीछे पड़े हो, और यहाँ सर्वत्र असमानता। प्रत्यक्ष समस्या भेदभाव की है, वह पंडित-मुल्ला बढ़ा रहे हैं—वे सत्य-यथार्थ को नकार रहे हैं; यह तो ईश्वर की भक्ति नहीं। यह भेद मनुष्य की एकता के विरोध में है। 'दून्यूं बरन गमाइ' अभिव्यंजनापूर्ण है। भाइ (भाव) भी महत्वपूर्ण है—हिन्दू-मुसलमान दोनों अपने-अपने 'भाव' को छोड़कर एकता का भाव अपनावें तभी समाज सुखी हो सकेगा 'साईं सेती सांच चलि, औरों सौं सुध **भाइ**।' (447) **गमाइ** (सा० 385)।

काबा फिर कासी भया, राम भया रहीम।
मोट चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम ॥ 10 ॥ 535

भावार्थ : कबीर 'मधि कौ अंग' में एक ही बात पर बार-बार बल देते हैं—**'दून्यूं बरन गमाइ'** (534) एक हों। अभेद दृष्टि से काबा और कासी का, मस्जिद-मन्दिर का झगड़ा समाप्त हो जायगा। भेद दृष्टि से ही हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के शत्रु हैं। ईश्वर के सब बन्दे हैं। इसलिए हर एक 'राम सनेही' (534) बने मस्जिद-मन्दिर सनेही नहीं। राम इन सब मर्यादाओं से ऊपर है। ईंटों का भेद मनुष्य-मनुष्य के बीच खाई है। राम-रहीम भिन्न नहीं, नामभेद हमारी दृष्टि को मंद कर रहा है। 'मोट चून मैदा भया' अर्थात् मोटा और बारीक चूर्ण मैदा सदृश पिस कर एक बनें तब ऐक्य-अभेद। जेमन = भोजन, खाना। 'मोट चून मैदा भया बैठि कबीरा जीम' = 'इस मन कौं मैदा करौं नान्हां करि-करि पीस। तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलकै सीसि ॥ 759 'बैठि कबीरा जीम दे का सांकेतिक अर्थ है, द्वन्द्व भुलाकर ऐक्य का आनन्द। अनासक्ति, निर्लिप्तता, निस्संगता का सुख।

कबीर मनोवैज्ञानिक आधार पर दृष्टिकोण की महत्ता पर बल दे रहे हैं—हम किसी वस्तु, किसी घटना, किसी स्थान के प्रति क्या दृष्टिकोण रखते हैं अथवा उसके सम्बन्ध में हमारी क्या प्रतिक्रिया है यह महत्व की बात है। हमारे सुख-दुःख का कारण हमारा सोचने का ढंग है। अभेद दृष्टि से काबा-कासी में कहाँ भेद, मुसलमान हिन्दू में कहाँ अन्तर ? ईश्वर के प्रति आस्था हो तो चाहे राम पुकारो चाहे रहीम—ये सारे अंतर बाह्य हैं। कबीर का बल भीतर की दुनियाँ पर है। चोर भीतर है बाहर नहीं—भीतरी शुद्धि से दृष्टिकोण में भेद की जगह अभेद, घृणा की जगह प्यार और विरोध की जगह मेल विकसित होगा।

कबीरकालीन समस्या हिन्दू-मुसलमान एकता की थी—समाज की विशृंखलता कबीर को पीड़ा दे रही थी। कबीर के सामने विघटन का यह भयावह चैलेंज था। कबीर ने उस चैलेंज से जूझना अपना धर्म समझा यही उनकी महानता है—वे तत्का-लीन सामाजिक नेता कहे जा सकते हैं।

कबीर को चिंता भारत राष्ट्र की थी वे समझ रहे थे कि राष्ट्र का पतन उसके भीतरी दोषों से होता है—द्वेष, घृणा, भेद-भाव सामाजिक विकास के शत्रु हैं। कबीर ने रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया और समाज की एकता (मूल वस्तु) को खोखला बनानेवाले दुर्गुणों के प्रति लोगों को सचेत किया, उन्हें जागरूक बनाया। उन्होंने सोते हुए लोगों को जगाया। उन्होंने राम-रहीम को एक घोषित किया—मुसलमानों को काबा की ओर न देखकर कासी की ओर देखने के लिए प्रेरित किया ताकि मंदिरों का ध्वंस होना बन्द हो। बैठ कबीरा 'जीम' अभेद का शंख नाद है। कबीर बाहरी भेदभाव को दूर करने के लिए भीतर की जोति पहचानने पर बल देते हैं—

कबीर मन मथुरा दिल द्वारिका काया कासी जाणि।
दसवाँ द्वारा देहुरा तामैं जोति पिछाणि ॥ 435

कबीर धरती अरु असमान बिचि दोइत बड़ा अवध।
षट दरसन संसै पड़्या अरु चौरासी सिध ॥ 11 ॥ 536

भावार्थ : कबीर इस साखी में भी दृष्टिकोण पर बल दे रहे हैं। जहाँ द्वैत का भाव है वहीं संदेह, भ्रम, अविश्वास। कबीर अद्वैतवादी हैं—मूल के प्रति समर्पित। कबीर मानते है कि आत्मा (जीव) और संसार उसी परमात्मा का रूप या प्रतिबिंब है, उससे भिन्न नहीं। ऐसा विश्वास होने पर ही समदृष्टि संभव है—समता अद्वैत भाव का फल है।

षट् दर्शन में सांख्य भी है जो अनीश्वरवादी है। कबीर-दर्शन में भक्ति-समर्पण-भगवत् चरणों में प्रीति है। कबीर षट् दर्शन द्वारा प्रतिपादित ज्ञान के पक्षधर नहीं।

सिद्ध अति मानवी सिद्धियों की प्राप्ति के पीछे रहते हैं—वे मन्त्रतन्त्र अपनाते हैं—ऐन्द्रजालिक शक्तियों के पीछे भागते हैं। कबीर का विरोध इनसे भी है। कबीर का मार्ग वेद-लोक की परम्परा से भिन्न है। उनका कहना है द्वैतभाव की ही देन है घृणा और भेदभाव, यह **अवध** (<अवद्य=वचनीय, निंदनीय) है। द्वैत भाव से ही हिन्दू-तुरुक में वैमनस्य है।

झूठ गर्भ भूले मति कोई, हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई ॥

गीता (15 12) में भगवान् अर्जुन को बतलाते हैं कि सर्वत्र एक ही 'तेज' है—वही सूर्य, वही चन्द्र।

द्वैत के विरोध में अद्वैत –

न हज जाऊँ न तीरथ पूजा। एक पिछांण्या तो का दूजा।
कहै कबीर भरम सब भागा। एक निरंजन सूँ मन लागा। 13 भैरू

द्वैत भाव के विरोध में दादू कहते है—

दादू एक घोड़ै चढ़ि चलै, दूजा कोतिल होइ।
दहुँ घोडा चढ़ि चालता पारि न पहुँचा कोइ ॥ 644

[**अवध**< अवद्य (विलोम, अनवद्य)। गुप्त जी ने 'अवध' को 'अवध्य' से जोड़ा है। 'कबीर वाङ्मय' में 'अबाध' से जोड़कर 'अविनाश्य' अर्थ किया गया है।]

□□

"अपने से खोजो सत्य को" भगवान महावीर की यह आर्षवाणी नित्य सत्य है। कबीर सत्यखोजी हैं – उनका मार्ग अपना है। वे लोक-वेद की परम्परा से ऊपर हैं। उन्होंने ऐसे पाण्डित्य को नकारा जो शास्त्रार्थ के निमित्त है अथवा जिसका शील और जीवन से सम्बन्ध न हो। कबीर की कसौटी जगत है—हम कैसे परस्पर व्यवहार करते हैं, कैसे अपनी समस्याओं के बारे में सोचते हैं और कैसे असमानता दूर करने के लिए अपने दृष्टिकोण में समता-'मसरि' भाव को अपनाते हैं। कबीर हिन्दू-मुसलमान के भेदभाव को निर्मूल करने के लिए सेतु हैं। वे काबा-कासी को महत्त्व न देकर मानव मूल्यों मानवता को महत्त्व देते हैं। वे यथार्थ से आँख नहीं मूंदते—उसका सामना करते हैं। साथ ही मूल 'वस्तु'—सत्य-ब्रह्म से जुड़े रहते हैं।'

—लेखक की कृति **कबीर-काव्य : प्रतिमा-संरचना**

32. सारग्राही कौ अंग

कबीर षीर रूप हरि नांव है, नीर आन ब्यौहार।
हंस रूप कोइ साध है, तत को जांणनहार ॥ 1 ॥ 537

भावार्थ : कबीर कहते हैं क्षीर नीर को पहचानने वाला कोई विरला साधु है—जिसे विवेक है जो तत्वज्ञानी है वही सार का ग्रहण करता है। संसार का धंधा नीर सदृश है और परमतत्व क्षीर (दूध) सदृश। आत्मखोजी हंस की भाँति क्षीर की प्राप्ति में लगता है जब कि सांसारिक प्राणी नीर में रमता है।

'हंसोहि क्षीरमादत्ते तान्मिश्रा वर्जयत्पयः।' श० 6/27

कबीर साखित को नहीं सबै बैस्नौं जांणि।
जा मुख राम न उचरै ताही तन की हाँणि ॥ 2 ॥ 538

भावार्थ : कबीर समदृष्टि पर बल देते हुए कहते हैं—अनीश्वरवादी (सकठा) अथवा असंत को भी आदर दो क्योंकि उसके भीतर भी वही राम है। सभी वैष्णव हैं—हरि के हैं, इस भाव को ग्रहण करना ही सकारात्मक चिंतन है। किसी से घृणा-द्वेष नहीं। किसी की निंदा नहीं। जो हरिभक्ति में मन नहीं लगाता है उसी का जीवन व्यर्थ जायगा। कबीर का आशय है दोषदृष्टि पापदृष्टि है गुण को देखो, मनुष्य को उसके मनुष्य होने के कारण आदर दो, भेद नहीं।

दादू साध सबै करि देषणा, असाध न दीसै कोइ।
जाकै हिरदै हरि नहीं, ता तनि टोटा होइ ॥

कबीर-काव्य में साखित (=साकट) और वैष्णव परस्पर विरोधी विचारों को व्यक्त करते हैं—ये प्रतीकात्मक कहे जा सकते हैं। वैष्णव राम का प्रतिनिधि है जिसमें दया-माया-करुणा-सेवा-त्याग सभी गुण होने चाहिए, साकित को आध्यात्मिक अथवा मानवमूल्यों की चिन्ता नहीं। कबीर अद्वैतभाव से कहते हैं—हम घृणा किसी से न करें अपने विरोधी से भी नहीं, घृणा बुरे कार्यों से करनी चाहिए। यदि कोई सन्मार्ग पर नहीं चलता है तो उसका तनमन स्वतः दूषित हो जायगा और उसे अपने कुविचारों का फल मिलेगा। 'ताही तन की हाणि' में तन केवल शरीर नहीं व्यक्ति का सम्पूर्ण रूप है।

कबीर औगुण नां गहै, गुण ही कौ ले बीनि।
घट घट महु के मधुप ज्यूं परआतम ले चीन्हि ॥ 3 ॥ 539

भावार्थ : अद्वैतवादी सर्वत्र उसी को देखता है गुण की ओर उसका ध्यान जाता है। कबीर रचनात्मक विचारों-कर्मों के कवि हैं। आत्मशुद्धि तभी संभव है जब हमारा दृष्टि-

कोण संरचनात्मक और शुद्ध हो। कबीर का यह भी विश्वास है कि बिना उस परमात्मा की अनुभूति के मनुष्य शीलवान् नहीं बन सकता। आध्यात्मिक आधार होना अपेक्षित है दृष्टिकोण के सम्यक् विकास के लिए। संसार में गुण भी है अवगुण भी, नीर क्षीर का संगम है यह। यहाँ संत भी हैं और काक-बक भी, सत्यपथिक भी हैं और अनाचारी भी। संत-साधु को मधु-प्रेमी मधुप (भौरा) सदृश होना चाहिए जो सुगंध-गुण को ग्रहण करे। प्रत्येक घट (शरीर) में परमात्मा है उसी ओर दृष्टि रखे किसी की शारीरिक, मानसिक दुर्बलता अथवा अभावों के कारण अवहेलना न करे, उसके सकारात्मक पक्ष का आदर करे। यह उदारवादी दृष्टकोण अद्वैत-दर्शन की देन है। द्वैत भाव में हम छिद्रान्वेषण करते हैं।

दादू— दादू साधु गुण गहै औगुण तजै विकार।
मानसरोवर हंस ज्यूं, छाड़ि नीर गहि सार॥
हंस गियानी सो भला, अतरि राषै एक।
विष माँ अमृत काढ़ि ले, दादू बड़ा बमेक॥

'परमातम ले चीन्हि' = 'रचनाहार कूँ चीन्हि ले' (562) 'ताके चीन्हें परचौ पावा।' बड़ी अष्टपदी रमैणी 8.

बसुधा बहु बन भांति है, फूल्यो फल्यौ अगाध।
मिष्ट सुवास कबीर गहि, विषम कहै किहि साध॥ 4 ॥ 540

भावार्थ : ऊपर की साखी के मर्म को स्पष्ट करने के लिए कबीर इस संसार को वन सदृश मानते हैं जहाँ ढंग-ढंग के फूल फल है। साधु-विवेकी विषम को नहीं सम को ग्रहण करता है। उसकी दृष्टि 'सुवास' पर, गुण पर, अच्छाई पर रहती है—'मिष्ट सुवास कबीर गहि।' जब साधु का ध्यान विषम (दुर्गुण) की ओर जाता ही नहीं तब वह किसे विषम कहे। साधु व्यक्ति ब्राह्य रूप को महत्त्व नहीं देता उसके लिए भीतर प्रकाशित ब्रह्म-ज्योति का महत्त्व है। कबीर का साधु वसुधा के सौंदर्य का आदर करता है, उसकी अनेकरूपता में वह उस मधुत्व को ढूंढ़ता है जो सर्वत्र और सब में है। ऐसी दृष्टि से विषय की ओर ध्यान जायगा नहीं— 'कहै कबीर मधिम नहीं कोई। सो मधिम जा मुखि राम न होई।' (गौड़ी 41)

असाधु को साधु बनाने के लिए उसके दोषों को अनदेखा करना पड़ता है ताकि उसमें गुणों के प्रति प्रीति का विकास हो। कबीर व्यवहारजगत् के मनोवैज्ञानिक कवि है। जीवन के उज्ज्वल पक्ष को देखे।

'विषम कहै किहि साध' का पाठान्तर 'विषम गहै नहि साधु'।

दादू— ऊजल करणी हंस है मैली करणी काग।
मधिम करणी छाड़ि सब दादू उतिम भाग॥
पहली न्यारा मन करै पीछै सहज सरीर।
दादू हंस विचार सौं न्यारा कीया नीर॥

□□

33. बिचार कौ अंग

कबीर राम नाम सब को कहै, कहिबै बहुत बिचार।
सोई राम सती कहै, सोई कौतिगहार ॥ 1 ॥ 541

भावार्थ : कबीर का बल सम्यक् चिंतन, सम्यक् शील और करनी पर है। विचार शुद्ध है तो करनी शुद्ध होगी क्योंकि मूल विकार है। कबीर कहते हैं केवल राम नाम उच्चारण से हित नहीं, हित तब है जब निर्मल भाव एवं विश्वास से राम को ग्रहण किया जाय—आचरण में राम भाव को उतारा जाय। सती का शील प्रसिद्ध है—वह जब राम कहती है तब सच्चे मन से अपने को राम के प्रति समर्पित करती है। वही 'राम' तमाशा करनेवाला भी कहता है। पर कौतुकहार बकुले की भाँति मतलबी धूर्त है। वह धोखा देने के लिए रामनाम कहता है। अन्यत्र भी

कबीर सोई, आँसू सजणां, सोई लोक बिडाँहि।
जे लोइण लोही चुवै, तो जाणौं हेत हियाँहि ॥ 93

कबीर आगि कह्या दाझै नहीं, जे नहीं चंपै पाइ।
जब लगि भेद न जाणिये, राम कह्या तौ कांइ ॥ 2 ॥ 542

भावार्थ : ऊपर की साखी के भाव को स्पष्ट करने के लिए कबीर कहते हैं कहनी का महत्व नहीं महत्ता है करनी का—आग-आग कहने से उष्णता नहीं मिलेगी और न आग जला सकेगी किसी वस्तु को। आग का प्रयोग करने पर ही उससे लाभ उठा सकते हैं। आग पर पाँव रखेंगे तभी वह दग्ध करेगी।

कबीर सोच बिचारिया दूजा कोई नांहि।
आपा पर जब चीन्हिया तब उलटि समाना मांहि ॥ 3 ॥ 543

भावार्थ : कबीर 'विचार को अंग' में सम्यक् विचार, सम्यक् ज्ञान की बात कर रहे हैं—उस परमतत्त्व 'परम पदारथ' को मानना दूजा कुछ भी सत्य नहीं। जीव और ब्रह्म की एकता का बोध होने पर मनुष्य माया से विमुख हो अपने में समा जाता है अर्थात् उसकी वृत्ति बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी हो जाती है, वह आत्मा में रमता है, राम में निवास करता है, अहंकार निर्मूल हो जाता है।

दादू जल मैं गगन, गगन मैं जल है फुनि वे गगन निरालं।
ब्रह्म जीव इहि विधि रहै, अैसा भेद विचारं ॥

'उलटि समाना मांहि' अथवा 'उलटो मांहि समाइ' :

कबीर केती लहर समंद की, कत उपजै कत जाइ।
बलिहारी ता दास की उलटो मांहि समाइ ॥ 491

उलटि समाने की स्थिति का आशय है आपा-पर के भेद को जानने पर ब्रह्म में लीन होना—अथवा जीव और ब्रह्म की अद्वैतता का बोध होने पर अपने को ब्रह्म का ही रूप मानना—

आपा पर सब एक समान । तब हम पाया पद निरबाण । 15 रामकली
कबीर रचनाहार कूं चीन्हि ले । 562

तथा, सेई तुम्ह सेई हम एकै कहियत, जब आपा पर नहीं जाना ।
ज्यूं जल में जल पैसि न निकसे, कहै कबीर मनमाना ।। 30 सोरठि

एक के भाव को उपनिषद् से समझना होगा—"विश्वव्यापी परमात्मा एक, निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य और निरंजन है । अपने अन्दर उसका साक्षात्कार किये बिना जीवन के दुःख-दैन्य का अन्त असंभव है । जैसे ईंधन में आग समाई रहती है उसी प्रकार वह एक सब में व्याप्त है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्व भूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।
निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निर वद्यं निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परं सेतु दग्धेन्धनमिव निलम् ।। श्वेताश्वतर

इसी उपनिषद् में 'चीन्हना' का भाव स्पष्ट किया गया है—'इन्द्रियों के द्वारा भोक्तृत्व में प्रवृत्त होकर मनुष्य का अन्तर्निवासी आत्मा अपने स्वामित्व का ज्ञान खो देता है और बन्धन में जकड़ जाता है । जब वह स्वामित्व का अनुभव करता है तब प्रत्येक पाश से मुक्त हो जाता है ।'

कठोपनिषद् में जल में जल समाने की बात है 'पर्वत शिखर पर बरसनेवाला जल अनेक धाराओं में विभाजित होकर पर्वत के चारों दिशाओं में बहता है । इसी प्रकार अज्ञानी पुरुष एक के अनेक रूप देखता है और शिखर पर गिरने वाले जल के समान भ्रांत हो जाता है । पानी में डाला हुआ पानी उसके साथ मिलकर एक हो जाता है । यही बात ज्ञानी के आत्मा के सम्बन्ध मे भी है जो अनेक रूपों में एक रूप का दर्शन करता है ।"

'आपा पर—माहि' का मनोवैज्ञानिक आशय है सत्य का अनुभव होने पर मनुष्य नकारात्मक भावों से विलग होकर सकारात्मक-रचनात्मक-हितकारी भावों को ग्रहण करता है ।

कबीर पानी केरा पूतला, राख्या पवन संवारि ।
नानां बाणी बोलिया, जाति धरी करतारि ।। 4 ।। 544

भावार्थ : कबीर पंचतत्त्व से बने इस शरीर मे जीव की स्थिति स्पष्ट करते हुए कहते हैं— यह शरीर पानी से बना है इसमें पवन को सँवारकर रखा है, (इसमें पवन है) इसके भीतर पावक (=ज्योति) है । यह कर्त्तार की दी हुई काया उस ज्योति से ही है और उसी आत्मा के कारण भाँति-भाँति के बोल बोलती रहती है ।

कबीर संसा जीव मैं कोइ न कहै समझाइ।
बिधि बिधि बांणी बोलता सो कत गया बिलाइ ।। 552

जोति आत्मा का वाचक है। जीव परमात्मा का ही रूप है। जब तक आत्मा है तभी तक जीवन है –

कबीर मन्दिर माहि झलकती, दीवा कैसी **जोति**।
हंस बटाऊ चलि गया, काढ़ौ घर की छोति ।। 710

तथा, दसवां द्वारा देहुरा तामै **जोति** पिछांणि। 435

तथा, कहै कबीर भव बधन छूटे **जोतिहि जोति समानी**।

तथा, जीव रूप यक अन्तरवासा, अन्तर **ज्योति** कीन्ह परगासा।

गीता— सर्व द्वारेषु देहेऽस्मिन् **प्रकाश** उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्यात् विवृद्धं सत्त्वमित्युत ।। 14.11

'प्रकाश' ही जीवन का मूल है—जहाँ प्रकाश की अनुभूति है वहीं निर्माणात्मक विचार अथवा सात्विक भाव हैं अथवा सत्त्वगुण का उदय ही प्रकाश है।

नौ मन सूत अलूझिया, कबीर घर घर बारि।
तिनि सुलझाया बापुड़े, जिनि जानी भगति मुरारि ।। 5 ।। 545

भावार्थ : कबीर मानत हैं कि मोक्ष (सुख-दुख से मुक्ति) भक्ति से ही संभव है। जो भगति को नहीं स्वीकारते वे कर्म-पाश में उलझे रहते हैं। नौ मन सूत अलूझिया' मुहावरा है—नौ श्रेष्ठ अंक है और 'नौ मन' आधिक्य को बोध कराने के लिए है। सूर—'उरझयौ विबस कर्म निरन्तर। 1.162

उलझना का आशय है मोह में फंसना—**सूर उरझि** मोह सिवार। 1.99 संसार के स्वाद में उलझना 'जिह्वा स्वाद मीन ज्यौं **उरझ्यौ**।' 1.147 कबीर का कथ्य है घर-घर (द्वार-द्वार) मोह-अंधकार (अप्रकाश) व्याप्त है, सब माया (नकारात्मक भावों) में उलझे हुए हैं।

कहत सुनत सब दिन गए, उरझि न सुरझ्या मन।
कहि कबीर चेत्या नहीं, अजहुँ सुपहला दिन ।। 785

सुलझना अर्थात मोह से निवृत्त होना। कबीर का मत है भक्ति ही-शरणागति ही माया-मोह-क्रोध-चिन्ता से मुक्त कर सकती है। 'सुलझना' चेतन के आशय में है। व्यक्ति प्रमाद-आलस्य छोड़कर सत्य की अनुभूति में जुट जाय यही चेतना है—नकारात्मक विचारों से उलझाव और सकारात्मक से सुलझना। उरझना (सा० 356)< उपरुध्यते। जिस प्रकार पतंग दीपक ज्योति के मोह में आग में कूद पड़ता है वैसे ही अज्ञानी मोहाग्नि में—'जोति देखि पतंग उरझैं पसु न पेखै आगि।' कबीर

चरनन लागि करौं सेवकाई **प्रेम प्रीति राखो उरझाई**।

'नौ मन सूत अलूझिया' तमोगुण का सूचक है इसे दूर करने के लिए सत्त्वगुण को स्थान दें—

गीता अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन । 14.13
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ।। 14.14

गीता से प्रकाश और अप्रकाश के भेद को समझना चाहिए । मनोवैज्ञानिक शब्दावली में प्रकाश अर्थात् 'पाजिटिव थाट्स' अप्रकाश अर्थात् 'निगेटिव थाट्स ।'

कबीर ने भक्ति के साथ मुरारि, गोब्यंद, कृष्ण, नरहरि, रचनाहार आदि अभिधानों का प्रयोग किया है---कर्त्तार एक है उसे किसी नाम से कहो यह है कबीर की मान्यता । नाम भेद नहीं —अल्लाह भी उसी राम का नाम है । कबीर नकारात्मक भावों (अप्रकाश) से बचने के लिए सत्य के प्रकाश से 'सतत युक्त' होने की बात करते हैं । सत्य के प्रति 'प्रेम प्रीति' से मनुष्य बहकेगा नहीं ।

कबीर आधी साषी सिरि कटै, जौ रे बिचारी जाइ ।
मनि परतीति न ऊपजै, तौ राति दिवस मिलि गाइ ।। 6 ।। 546

भावार्थ : कबीर का बल विचार और प्रतीति से सुलभ तत्त्वबोध पर है । आधी साखी ही तत्त्वसाक्षात्कार, ब्रह्म ज्ञान अथवा प्रकाश की अनुभूति के लिए पर्याप्त है यदि उसमें अंकित विचारों पर प्रतीति हो ।

तत्त्वबोध तभी संभव है जब उसके प्रति सच्ची जिज्ञासा हो, सच्ची लगन हो और उस परमात्मा के प्रति आस्था-विश्वास हो---अनीश्वरवादी के मन प्रतीति नहीं उसके लिए साखी-पद के भाव व्यर्थ । वह भगवान के लिए सिर का सौदा न करेगा । बिना सम्यक् विचार-शील के पद-साखी का रात दिन गाया जाना व्यर्थ है :

कबीर पद गाया मन हरषिया, साषी कह्या अनन्द ।
सो तत नाउ न जाणियाँ, गल मैं पड़िया फंद ।। 372
कबीर भगति दुहेली राम की, नहीं कायर का काम ।
सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरि नाम ।। 676
करत विचार मन ही मन उपजी ना कहीं गया न आया ।
कहै कबीर संसा सब छूटा, राम रतन धन पाया ।। 23 गौड़ी
कबीर तेरा संगी को नहीं, सब स्वारथबंधी लोइ ।
मनि परतीति न ऊपजै, जीव बेसास न होइ ।। 255
गुण गावै लै लीन होइ, कछु एक मन में और । 266
जिनि गाया विस्वास सूं तिन राम रह्या भरपूरि ।। 580

मन परतीति न ऊपजै —कबीर का बल प्रतीति पर है :

तथा, कबीर खोजी राम का गया जु स्यंघल दीप।
राम तौ घट ही भीतर रमि रह्या जौ आवै परतीत ।। 764

तथा, मन परतीति न प्रेम रस नां इस तन में ढंग।
क्या जाणौं उस पीव सूं, कैसे रहसी रंग। 208

तथा, मन परतीत ब्रह्म मन मांहि। 2 भैरू

कबीर सोई अषिर सोई बैन, जन जूंजुवा चवंत ।
कोई एक मेलै लवणि, अमी रसांइण हुंत ।। 7 ।। 547

भावार्थ : कबीर का बल भाव पर है 'मन परतीत ब्रह्म मन मांहि' (2 भैरू)। भगवान का नाम (अषिर) सब अपने-अपने ढंग से जुदा-जुदा भाव से लेते हैं—कोई विष्णु, कोई राम, कोई अल्लाह आदि। पर, उच्चारण के पीछे जो विचार, श्रद्धा-भक्ति-प्रतीति है वही मुख्य है। आखर के पीछे जो तत्त्व है वही उस आखर में बल भरता है। राम का नाम सती भी लेती है और तमाशा दिखानेवाला भी (साखी 541) पर दोनों के भाव में अन्तर है इसलिए फल में भी अन्तर है। जब बयन (वचन) में प्रीतिरस घुलता है तब वही अमृतरस हो जाता है।

विवृति : अषिर (375) : 'बावन अषिर सोधि करि ररै ममै चित लाइ।' 'सोई राम सती कहै सोई कौतिगहार' (541) बैन<प्रा० वयण<वचन।

बहुत भगत भौसागरा नाना बिधि नानांभाव।
जिहि हिरदै श्री हरि भेंटिया सो भेद कहूँ-कहूँ ठांव ।। 28 गौड़ी

जन जूजुवा चवंत—प्रत्येक अपने-अपने भाव के अनुसार कहता है :

जोगी गोरख-गोरख करै। हिन्दू राम नाम उच्चरै।
मुसलमान कहै एक खुदाइ। कबीर कै स्वामी घटि-घटि रह्यो समाइ ।। 6 भैरू

सिध साधु पैकंबर हूवा। जपै सु एक भेष है जूवा।
अपरंपार का नांउं अनंत। कहै कबीर सोइ भगवंत ।। 3 भैरू

जूजुवा, जूवा<प्रा० जुअय<युत (यु=अलग करना)
चवत=चबा चबाकर बोलना, बकवास करना।

ते सब तिरे राम रस स्वादी, कहै कबीर बूड़े बकवादी। 2 ललित

मेलै (सा० 35) लवणि<लवण=नमक (=राम रस बोली मे) यहाँ लवण 'प्रीति रस' है। अमी रसाइण : भक्ति :

(1) नीझर झरै अमीरस निकसै इहि मद रावल छाका।
(2) राम रसाइन प्रेम रस पावत अधिक रसाल। 172
(3) एक बूंद भरि देइ राम रस ज्यूं भरि देइ कलाली। 3 रामकली
(4) कबीर हरिरस यूं पिया बाकी रही न छाकि। 171

(5) कबीर हरि रस पीया जाणिये जे कबहूँ न जाइ खुमार। 174

(6) कबीर सबै रसाइण मैं कीया हरि सा और न कोइ।
तिल एक घट म संचरै तौ सब तन कंचन होइ।। 178

कबीर हरि मोत्यां की माल है, पोई कांचै तागि।
जतन करो झंटा घणा, टूटेगी कहुं लागि।। 8 ।। 548

भावार्थ : कबीर कहते है हरिनाम, हरिभक्ति अमूल्य मोतियों की (हीरा मणि) की माला है, यह कच्चे तागे से गुही है अर्थात् श्रद्धा प्रेम के धागे में यह माला पिरोई है। इसे बहुत यतन से सुरक्षित रखना है अन्यथा संसार अथवा माया के झंटा (ठोकर, चोट, झटका) में यह टूट सकता है। 'टूटेगी कहुँ लागि' अर्थात् विध्वंसात्मक विचारों में लग्न होने पर हरि भक्ति की माला टूट जायगी।

कैसे होइगा मिलावा हरि सनां।
रे तू विषै बिकार न तजि मनां।। 29 गौड़ी

इस माला की रक्षा के लिए 'जोग जुगुति' जानना होगा—

रे तै जोग जुगुति जान्यां नहीं। तै गुर का शब्द मान्या नहीं।। 29 गौड़ी

कबीर यहु तन कांचा कुंभ है, लीया फिरै था साथि।
ढबका लागा फूटि गया, कछु न आया हाथि।। 249

कबीर मन नहीं छाड़ै विषै न छाड़ै मन कौं।
इनका इहै सुभाव, पूरि लागी जुग जन कौं।।
खंडित मूल विनास, कहा किम विग्रह कीजै।
ज्यूं जल में प्रतिब्यंब त्यूं सकल राम जाणीजै।।
सो मन सो तन सो विषै, सो त्रिभुवनपति कहूँ कस।
कह कबीर ब्यदहु नरा, ज्यूं जल पूर्‌या सकल सर।। 9 ।। 549

भावार्थ : कबीर मन और विषय के पारस्परिक सबंध पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि मन और विषय-विष ये दोनों ही मनुष्य को विकारग्रस्त किए रहते हैं—जब तक मन नही निर्मल होगा तब तक विषयविकार से मुक्ति नहीं। मन खंडित है विषयों में फँसने के कारण और मूल (आत्मा, परमात्मा) से अलग। अतः मन को निर्मल करने पर ही उसका बोध होगा।

कबीर कहते है उसके विग्रह (रूप, आकृति) की बात कैसे की जाय। जैसे जल में प्रतिबिंब (परछांई) वैसे ही उसी का भाव सर्वत्र। कबीर अपनी अद्वैतता बताते हैं— उनका मन, उनका तन, उनका विषय सब वही त्रिभुवन पति है- एकमेक। अतः उसका रूप बताना सम्भव नहीं। उसे ऐसे जानों हे मनुष्य। जैसे सरोवर मे जल भरा हो उसी प्रकार वह व्याप्त है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के शब्दों में—"वह परमात्मा हमारे अन्दर तिल में तेल के समान, हृदय मे छिपे हुए घी के सामान, नदी की रेत मे छिपे जल के समान, अरणि में छिपी अग्नि के समान प्रकट न होने पर निवास करता है।" □□

34. उपदेस कौ अंग

हरि जी यहै बिचारिया, साषो कहौं कबीर।
भौ सागर में जीव है, जे कोइ पकड़ै तीर॥ 1 ॥ 550

भावार्थ : कबीर अपने काव्य-सर्जन के बारे में बताते हैं कि यह साषी हे हरि, इस विचार से कही जा रही है कि लोग, इस उपदेस से, भवसागर (जन्म-मरण अथवा आवागमन का चक्र) से पार हो सकें।

'भौ सागर अति वार न पारा।
तिरिबे का करहु बिचारा॥'

'भवसागर में जीव है' यह जीव परमात्मा ही है पर जब तक वह अपने को इन्द्रियों के बंधन में मानता है तब तक वह बंधा है। और जब मन को इन्द्रियों से हटाकर आत्मा में लीन करे—योगस्थ हो—तब व्यक्ति परम तत्व से युक्त हो जाता है। यही भवसागर से पार जाना है। यही मोक्ष है।

साषी<साक्षी = उस परमतत्त्व की अनुभूति, उसका सर्वत्र साक्षात्कार, उसकी गवाही अथवा समदर्शी होना।

पकड़ै तीर = तीर पकड़ना अर्थात् जन्म मरण से पार होना, अथवा 'उत्तम सुख' प्राप्त करना उस आत्मा के नैकट्य में।

गीता में भवबन्धन से मुक्त होने के लिए योग का उपदेश इस प्रकार है :

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ 6.18
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमास्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत॥ 6.26
प्रशान्त मनसं ह्येन योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजस ब्रह्मभूतम् अकल्मषम्॥ 6.27

'भव सागर' प्रतीक है मोह-द्वेष-आसक्ति आदि पतनोन्मुखी विचारों का, मुक्ति है अंधकार से प्रकाश की ओर गति।

कबीर कलिकाल ततकाल है, बुरा न करियौ कोइ।
अनबावैं लोहा दाहिणै, बोवैं सु लुणता होइ॥ 2 ॥ 551

भावार्थ : कबीर का उपदेश है कि कर्म ही मुख्य है—अच्छा बोओगे तो अच्छा काटोगे बुरा करोगे तो बुरा, कर्म का फल कलिकाल में तत्काल है। जो नहीं बोवेगा उसके दाहिने हाथ में लोहा (= हँसिया) ज्यों का त्यों रहेगा जो (अच्छा) कर्म करेगा वही (अच्छी) फसल काट सकेगा।

'कबीर विष की क्यारी बोइ करि लुनत कहा पछिताय ।

लुणता = लुणत (277) लू—लुनति, लुनन्ति । लूनना । 'बुरा न करियौं कोइ' अर्थात् तन-मन से किसी प्रकार की हिंसा न करना ।

कबीर संसा जीव मैं, कोइ न कहै समझाइ ।
बिधि-बिधि वांणी बोलता, सो कत गया बिलाइ ॥ 3 ॥ 552

भावार्थ : कबीर ईश्वरवादी हैं । उनका कहना है कि कोई क्यों नहीं समझा कर कहता कि कौन विधि-विधि वाणी बोलता है ? मृत्यु के बाद तो कोई नहीं बोलता—स्पष्ट है कि जीव, जो ईश्वर का अंश है, वही इस पंचतत्त्व में बोलता है । इसी से जुड़ा प्रश्न है कि वह बोलनेवाला आत्मा, मृत्यु के बाद, कहाँ चला गया ? कबीर का कहना है :

पंचतत अविगति के उतपना एकै किया निवासा ।
बिछुरे तत फिरि सहज समाना देखि रही नहीं आसा ॥ 44 गौड़ी
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यहु तत कथौ गियानी ॥ वही
अगम अगोचर लखी न जाइ । जहाँ का सहज फिरि तहां समाइ । 3 बिलावल
'कहै कबीर संसा सब छूटा राम रतन धन पाया । 23 गौड़ी

कबीर संसा दूरि करि, जामण मरण भरम ।
पंचतत तत्तहि मिलें, सुरति समाना मन ॥ 4 ॥ 553

भावार्थ—कबीर ईश्वर आत्मा की एकता पर बल देते हुए कहते हैं कि जीव और परम् आत्मा में अद्वैतभाव है, यह अनुभव करे मनुष्य । द्वैत ही संशय-द्विविधा है—केवल वही एक, दूजा कोइ नहीं । जन्म-मरण (आवागमन) में भ्रमित होना पड़ेगा जब तक संशय है । संशय गया तो मनुष्य एकमेक हुआ उस तत्त्व से, जन्म-मरण सबसे मुक्ति-मोक्ष । यह शरीर कच्चा घड़ा है जिसमें जल (आत्मा) निवास करता है—इस घड़े के फूटते ही पंचतत्त्व वाला शरीर पंचतत्त्व में मिल गया और मन (आत्मा) सुरति (ईश्वर) में उलटकर समा गया—जहाँ से आया था वहाँ चला गया—यही 'सहज' का रूप है ।

जन्म-मरण त्रिगुणात्मक जगत् की देन है । इससे आत्मा निर्लिप्त है । **सुरति**—'सुन्नहि सुरति समाइया ।'

'उलटै पवन चक्र षट् भेदे **सुरति सुन्न** अनुरागी ।'

गृही तौ च्यंता घणों, वैरागी तौ भीष ।
दुहुँ कात्या बिचि जीव है, दोइ न सतौ सीष ॥ 5 ॥ 554

भावार्थ : कबीर मध्यम मार्ग के उपदेशक हैं—गृही और वैरागी दो छोर है—गृही को संग्रह-परिग्रह की चिन्ता और वैरागी साधु को नित्यप्रति भिक्षा प्राप्ति की चिन्ता । दोनों ही स्थितियाँ साधना के अनुकूल नहीं—अति परिग्रह और अति अपरिग्रह दोनों ही घातक

हैं—'दुहुं कात्या बिचि जीव है = ये दोनों अवस्थाएं कर्त्री>काती = छुरी, कैंची की तरह है अर्थात् ये दोनों ही जीव को चिन्तित बनाए रखती है— वह ईश्वर में, सर्वभावन मन नहीं लगा पाता।

कबीर बैरागी बिरकत भला, ग्रिही चित्त उदार।
दुहुं चूका रीता पड़ै, ताकूं वार न पार॥ 6 ॥ 555

भावार्थ : कबीर स्वधर्म पालन पर बल देते हुए कहते हैं वैरागी वही है जो सचमुच विरक्त-अनासक्त हो। वैराग्य अनासक्ति का ही नाम है। यदि संसार छोड़कर मन में विराग नहीं तो वह वैराग्य कष्टप्रद है —उस वैराग्य से शांति-मोक्ष सम्भव नहीं, वह ढकोसला मात्र है।

गृहस्थ का धर्म है दानी होना, दूसरों के दुःख मे सम्मिलित होना, परदुःख को अपना ही दुःख समझना। यदि ऐसा उदारभाव गृहस्थ में नहीं तो वह धर्मच्युत है—संग्रह के साथ दान अपेक्षित है।

कबीर कहते हैं वैरागी और गृहस्थ होना महत्त्वपूर्ण नहीं महत्व है अपने-अपने कर्त्तव्य-पालन में प्रमाद का न होना। धर्म से विमुख व्यक्ति 'रीता' (खाली) है— उसकी असफलता का वार-पार नहीं अर्थात् उसका आध्यात्मिक विनाश ही समझिए।

विवृति : **भला** (सा० 363, 655) **चूका**<प्रा० चुक्क<*चुक्क (सा० 21, 782) च्यु (च्युत) **रीता**<रिक्त, रिच् (जन जाग्या तसकर गये रीते ' 27 भैरू) **रीता पड़ना** (मु०) **ताकूं** = उसका (ताका 167, ताकी 489 **वार**<अपार; **बार पार**< अपार पार (सा० 412)

वैरागी (गृहस्थी त्याग कर चला जाना) होने से कुछ नहीं—विषय-भोग से मन दूर हो तब सच्ची विरक्ति है—

घर तजि बन खंडि जाइए खनि खइये कंदा।
बिषै विकार न छूटई, एसा मन गंदा॥ 26 रामकली

कबीर जैसी उपजै पेड़ सूं, तैसी निबहै ओार।
पैका पैका जोड़तां, जुड़सी लाष करोड़॥ 7 ॥ 556

भावार्थ : कबीर अध्यात्म तत्त्व की बात कर रहे हैं एक सादृश्य देकर। पेड़ यहां ब्रह्म का वाचक है—'बीज बिन अंकुर पेड़ बिनु तरुवर बिनु साखा तरवर फलिया,' तथा 'भूमि बिना अरु बीज बिन तरवर एक भाई।' तथा,

तरवर तास बिलंबिए बारह मास फलंत।
सीतल छाया गहर फल, पंखी केलि करंत॥ 731
कबीर दाता तरवर दया फल, उपगारी जीवंत।
पंथी चले दिसावरां, बिरषा सुफल फलंत। 732

कबीर का कथ्य है जीव ब्रह्म ही है पर शरीर के साथ युक्त होने से वह माया-पाश में बँध जाता है। 'माया तरवर' (सा० 334) से न जुड़कर राम से जुड़ कर उस सम्बन्ध का अन्त तक निर्वाह करे (कबीर तासूं प्रीति करि जो निबाहै ओड़ि। 475)।

'पैका-पैका जोड़ता' मुहावरा है थोड़ा-थोड़ा संग्रह करना अथवा कमाना। यदि मनुष्य थोड़ो-थोड़ो भी भगवान की भक्ति करता रहे तो वह मुक्ति प्राप्त कर लेगा वैसे ही जैसा पैकाकार (फा० पैकार) थोड़ी-थोड़ी कमाई से लखपति—करोड़पति हो जाता है।

कबीर का बल सतत चेतनता, जागरूकता, प्रयत्न और कर्मनिष्ठा पर है। प्रमाद बाधक है साधना में।

अगली साखी में उक्त भाव स्पष्ट है :

> कबीर के हरि के नाउं सूं, प्रीति रहै इकतार।
> तौ मुख तैं मोती झड़ैं, हीरै अंत न पार ॥ 8 ॥ 557

भावार्थ : कबीर हरिभक्ति की महिमा कह रहे हैं—यदि मनुष्य सतत—एक तार—हरि सुमिरण करे उसमें प्रमाद न होने दे तो हृदय निर्मल हो जायगा। फलस्वरूप उस भक्त के मुख से मोती-हीरा की वर्षा होगी अर्थात् उसकी वाणी मणि सदृश बहुमूल्य होगी—लोगों को शांति-सुख देने वाली होगी। हीरा मोती रत्न हैं। हृदय में 'रामरतन' है वही वाणी से झरता है—

> 'कहै कबीर अब सोवौ नाहिं। राम रतन पाया घट माहिं ॥' 27 भैरू

तथा, 'आई सूधि कबीर की पाया राम रतन।' 42

हीरा राम अथवा रामनाम है—

> यहु हीरा निरमोलिका, कौड़ी पर बीका।
> कहै कबीर सुनि केसवा, तूं सकल बियापी।
> तुम्ह समान दाता नहीं, हम से नहिं पापी ॥ 26 रामकली

कबीर का कथ्य है जिसने भीतर उस रत्न-हीरा को पा लिया उसकी वाणी से सदा वही झरेगा, सदा हरिरस की वर्षा होगी जिसका मूल्य मणि-माणिक से बढ़कर है।

मोती से आशय उसी परब्रह्म से है—

> कबीर पारब्रह्म बूठा मोतिया, घड़ बांधी सिखराइ।
> सगुरा सगुरा चुणि लीये, चूक पड़ी निगुराइ ॥ 782
> मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहिं।
> मुकताहल मुकता चुगै, अब उड़ि अनत न जाहिं ॥ 161

मुख से मोती झड़ैं हीरै अंत न पार का भाव है ब्रह्मज्ञान —

'कबीर हीरा बणजिया मान सरोवर तीर।'

पद्मावत— "हिय भंडार नग अहि जो पूँजी। खोली जीभ तारा कै कूँजी॥
रतनपदारथ बोलइ बोला। सरस पेम मधु भरी अमोला॥ 23

कबीर ऐसी बाणी बोलिये, मन का आपा खोइ।
अपना तन सीतल करै, और न कूँ सुख होइ॥ 9 ॥ 558

भावार्थ : कबीर के अध्यात्म का सार है आपा खोना-मिटाना। 'मैं मेरा' का भाव ही आपा है—इसी से सम्बन्धित 'मेरा तेरा' भाव है। समता, निर्वैरता और समदृष्टि तब तक सम्भव नहीं जब तक 'आपा' है। और 'आपा' निर्मूल होता है भगवद्भक्ति से, उस परमतत्त्व में मन को समाहित करने से। मन ही कारण है बन्धन और मोक्ष का। मन जब 'मेरा तेरा' से आसक्त रहता है तब द्वेष, अहंकार, घृणा, वैरभाव, उद्वेग की वाणी बोलता है और वही जब पवित्र, समत्वयुक्त होता है तब प्रेम-स्नेह-करुणा की बोली फूटती है जिससे बोलनेवाला और सुननेवाला दोनों ही सुख-शांति प्राप्त करते हैं। जहाँ 'आपा' है वहीं उद्वेग और क्षुब्धता है।

आपा खोना=हृदय की गाँठ नष्ट करना।

कबीर माला पहर्‌या कुछ नहीं, **गाँठि हिरदा की खोइ।**
हरि चरनौं चित राखिये, तौ अमरापुर होइ॥ 445

कहै कबीर मैं मेरी खोइ। तबहि राम अवर नहि कोई॥ 66 पौड़ी

दादू— मैं तैं मेरा यह मति नाहीं, निरबैरी निरविकारा॥

जहाँ मैं मेरो (=आपा) है वहाँ राम नहीं, जहाँ राम है वहाँ आपा नहीं। इसलिए मन को हरि चरणों में लगावें।

कबीर-काव्य हरिचरणों की प्रीति को प्रतिपादित करता है—भक्तियोग में 'मैं' नहीं 'वह'। यही समर्पण योग है। यही योग है। यही चित्त का समाहित होना है। (द्रष्टव्य लेखक की कृति **वैष्णव कबीर**)

खोइ (445) < प्रा० खवइ=नष्ट करता है।

संसार आज 'मैं मेरो' से ग्रस्त है। इससे मुक्ति अध्यात्मवाद से ही संभव है। अध्यात्म=मानव मूल्य।

कबीर कोई एक राखै सावधान, चेतनि पहरै जागि।
बस्त न बासन सूँ खिसै, चोर न सकई लागि॥ 10 ॥ 559

भावार्थ : कबीर का बल चेतनता-जागरूकता है। प्रमाद-आलस्य-असावधानी नाशक है साधना में—

कबीर माया-मोह की भई अँधारी लोइ।
जे सूता ते मुसि लीया, रहे **बस्त** कौं रोइ॥ 338

मोह-आसक्ति के अन्धकार में प्रकाश है रामनाम, राम भक्ति। वही 'बस्त' है वही मूलधन है। उसे गँवाना, सर्वनाश है। उसकी ओर मन लगाने से ही 'आपा' मिटेगा और शीतलता-शांति मिलेगी।

बस्त की व्याख्या कबीर के शब्दों में—

है कोई रामनाम बतावै। **बस्त अगोचर** मोहि लखावै। 16 आसा०

उपर्युक्त साखी का भाव अन्यत्र भी—

मन रे जागत रहिये भाई।

गाफिल होइ **बस्त** मति **खोवै**, चोर मुसै घर जाई। 23 गौड़ी

जरा भी गाफिल हुये नहीं कि विनाशकारी भाव धावा बोल देते हैं।

बस्त (=वस्तु)— वह अगोचर, अनुपम, अव्यक्त, अगम, मूल तत्त्व है जो जागरूकता और सतत समाहित चित्त से प्राप्त होता है—'अंधियारे दीपक चहिए तब **बस्त अगोचर** लहिए।'' तथा **अगम अगोचर** गमि नहीं, जहाँ जगमगै जोति। 126

इक कथि कथि भरम लगावैं, समिता सो **बस्त न** पावै। 15 सो०

सत्य का मूल सूक्ष्म है उस सूक्ष्म के प्रति निष्ठावान बने।

बस्त न बासन सूं खिसै अर्थात् साधक को मूल तत्त्व नहीं गंवाना-खोना चाहिए। **बस्त** < वस्तु (338)। **बासन** < वसन, वस् = पहनना, बसना = बस्ता; बसनी = थैली जिसमें द्रव्य रखते है।

चोर न सकई लागि—अर्थात् वस्तु की रक्षा चोरों से करे। चोर = अध्यात्म के विरोधी नकारात्मक भाव—क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष आदि : 'चंचल मनवा चोर' (276)। जहाँ मन स्थिर नहीं है, उस एक के प्रति समर्पित नहीं है वहीं दुविधा, वहीं विनाश।

चेतनि पहरै जागि—चेतनता से रखवारी करता हुआ = जागरूक होकर 'चेतनि चौकी बैठि करि, सतगुरु दीन्हा धीर।' 23 **चेतन** < चित् = जानना, सचेत रहना; **चेतन** = आत्मा, परम तत्त्व। चचल चित्त का विरोधी चेतन (चित्त)। **पहर** < प्रहर = तीन घंटा। **कोइ एक राखै सावधान** = संत पूरी चौकसी से वस्तु की रक्षा करता है।

खिसै = गिरै < प्रा० खिसइ *खिस् = गिरना; सरकना।

(कोशों में खसना, खिसना को कस् से सम्बन्धित बताया गया है जो अशुद्ध है)।

□□

35. बेसास कौ अंग

कबीर ने साधना-पथ पर चलने के लिए विश्वास की अपेक्षा बताई है। जिस प्रकार जैन धर्म में 'आचाराङ्ग' है उसी प्रकार कबीर-काव्य वैष्णव का आचारांग है। कबीर का काव्य विश्वास पर है—ईश्वर के प्रति। उसके प्रति अटूट आस्था ही मनुष्य का संबल है। यह 'बेसास' ही 'मैं मेरा' से, कुलाभिमान से, परिग्रह-लोभ से, हिंसा से, आसक्ति से, द्वन्द्व से मुक्त रखता है। कबीर मानते हैं कि मनुष्य को सतत प्रयत्न करना है मुक्ति के लिए। साथ ही, वह यह भी मानते हैं कि कर्ता वही राम है—बिना उसकी कृपा कुछ नहीं। यही भक्ति-योग है कबीर का।

कबीर-काव्य में आचार पर बड़ा बल है। साथ ही, उस परम पुरुष को प्रतिपालक मानने पर भी बल है। जो ईश्वर को नहीं मानते उनके विरोध में हैं कबीर। गीता में प्रतिपादित समर्पण-योग के पक्षधर हैं वे। कबीर मानते हैं बिना दृढ़ विश्वास के मनुष्य धीर-वीर परमार्थी नहीं हो सकता। मोक्ष आचरण-संयम पर निर्भर है ऐसा जैन धर्म मानता है; पर कबीर का मत है कि मनुष्य द्वन्द्व से विमुक्त हो ही नहीं सकता बिना हरिभगति, हरिसुमिरण के। कबीर तीर्थव्रत को नहीं मानते हैं। कबीर नरहरि (विष्णु का अवतार), कृष्ण (विष्णु का अवतार) की स्तुति करते हैं—

> कबीर जिनि नरहरि जठराइ उदिक थैं प्यंड प्रगट कीयौ।
> सिरजे श्रवन कर चरन जीव जीभ मुख तास दीयौ॥
> उरध पाव अरध सीस बीस पषां इम रषियौ।
> अंन पान जहाँ जरै, तहां तैं अनल न चषियौ।
> इहि भाँति भयानक उद्र में, उद्र न कबहूँ छंछरै।
> कृसन कृपाल कबीर कहि, हम प्रतिपाल न क्यूं करै॥ 1 ॥ 560

[संसार में पेट भरने की चिन्ता होनी स्वाभाविक है। चिन्ता से मनुष्य आनन्द खो बैठता है—आत्मा का मूल गुण आनन्द है। यह कैसे सम्भव है कि व्यक्ति कर्म करता हुआ निश्चिंत रह सके? चिन्ता से छुटकारा पाने के लिए उसके विरोधी भाव आनन्द को ग्रहण करना होगा और यह अनश्वर आनन्द बिना उस नरहरि-कृष्ण-पालक के प्रति आस्था हुए संभव नहीं। यही भक्तियोग की देन है। बुद्धि से चिन्तन करने पर चिन्ता दूर नहीं होती ऐसा आस्थावादी मानता है; गीता का यही प्रतिपाद्य है।]

भावार्थ : कबीर कहते हैं जिस भगवान ने जल से पंचभौतिक पिंड बनाया, जिसने इन्द्रियाँ दीं, जिसने बीस पक्ष पेट में रक्षा की, जिसकी कृपा से जठराग्नि में हम जले

वहीं उसके प्रति यदि हम आस्थावान् नहीं बने और जीवन-मरण की चिन्ता से व्यथित रहे तो जीवन में आनन्द-शान्ति संभव नहीं। वही कर्ता है, उसी के भरोसे रहें, उसी को सुमिरें, यही मुक्ति है। संशय नहीं, विश्वास (578)।

कबीर निराकार के गायक हैं पर विष्णु और उनके अवतारों की स्तुति करते अघाते नहीं।

> कबीर भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग।
> भांडा घड़ि जिनि मुख दिया सोई पूरण जोग ॥ 2 ॥ 561
>
> कबीर रचनहार कूं चीन्हि लै, खैबै कूं कहा रोइ।
> दिल मन्दिर में पैसिकरि, तांणि पछेवड़ा सोइ ॥ 3 ॥ 562

भावार्थ : रचनाहार की महिमा, उसकी शक्ति को पहचानना-जानना ही ज्ञान है। ज्ञान होते ही रोना समाप्त। जिसे अपने बल का भरोसा है वह सुख-दुःख के झटके को सहन नहीं कर सकता। आसक्ति दुःख का मूल है। इन्द्रियों को रूप-रस-गंध से मोड़कर भीतरी जगत् में लगाना होगा। यही ब्रह्मलीन होना है। 'दिल मंदिर में पैसि करि' अर्थात् जिस भीतरी गुहा में उसकी ज्योति प्रकाशित है उसके सम्पर्क में आवे व्यक्ति तब नश्वर संसार—माया मोह से मुक्त हो जाय। 'तांणि पछेवड़ा सोइ' मुहावरा प्रभविष्णु है। इस जगत् में उस परम ब्रह्म के आश्रित रहने पर ही चिन्ता से मुक्ति संभव है। पेट की, योग-क्षेम की चिन्ता नहीं, चिन्ता हो हृदय शुद्धि की, परमार्थ की।

कबीर भाषा के धनी हैं—कबीर सदृश समर्थ कवि-रचनाकार कोई नहीं। 'रचनहार को चीन्हि ले' में 'रचनहार' साभिप्राय है। 'चीन्हना' ठेठ प्रयोग है पर है बेजोड़। 'खैबे कूं कहा रोइ' व्यंजनायुक्त है—पेट भरने की क्या चिन्ता ? चिन्ता हो वो ज्ञान की, शान्ति की, मुक्ति की। 'दिल मंदिर' अर्थात् भीतर पैठो।

विवृति : चीन्हि (543) **पैसि कर** (477) भीतर घुसना।

> ज्यूं जल में जल पैसि न निकसे यूं ढुरि मिल्या जुलाहा। 5 धनाश्री
>
> कबीर यहु घर प्रेम का, खालां का घर नांहि।
> सीस उतारै हाथि करि सो **पैसे घर मांहि** ॥ 671
>
> एकमेक ह्वै मिलि रह्या, दासि कबीरा राम ॥ 407
>
> कबीर सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्है कोइ।
> जिन्ह सहजै हरि जी मिलै, सहज कहीजै सोइ ॥ 408

तांणि = तानकर (तन्, तनोति) पछौड़ा = चादर (* पश्च—पट); ओड़िया, पछौड़ा; गुज० पिछोरी। 'ऊपरि राति पिछउरी तानी' 135 चांदा०। सूर—पिछौरि, पिछौरी, पिछौरे।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'दिल मंदिर' के भाव को इस प्रकार शब्दों में बांधा है—

"The cure for all illness of life is stored in the inner depth of life itself, the access to which becomes possible when we are alone. This solitude is a world in itself, full of wonders and resources unthought of. It is absurdly near, yet so unapproachably distant."

राम नाम करि बोहड़ा, बाहो बीज अघाइ।
अंति कालि सूका पड़ै, तौ निरफल कदे न जाइ ॥ 4 ॥ 563

भावार्थ : कबीर कृषि जगत् से सादृश्य देकर समझाते हैं—भक्ति की—रामनाम की—खेती करो। 'बाह' जोताई के आशय में प्रयोग होता है; यह वह् धातु से विकसित है। बीज बाहना अर्थात् बीज बोना। अघाइ अर्थात् भरपूर अथवा जितना चाहो उतना। कबीर कहते हैं बाहरी खेती वर्षा पर निर्भर है पर रामनाम की खेती आन्तरिक जगत् से सम्बन्धित है। यह खेती कभी निष्फल नहीं अर्थात् जो रामभक्ति की खेती करेगा उसे सदा शान्ति की प्राप्ति होगी, कभी उसके लिए दुकाल नहीं।

कबीर का कथ्य है मनुष्य इन्द्रियों की तुष्टि के लिए कितनी भाग-दौड़ करता है पर आसक्ति में शान्ति नहीं। मनुष्य वही शक्ति भीतरी ज्योति को पहचानने में लगावे तो सारा संकट, सारी चिन्ता समाप्त। 'मैं मेरा' समाप्त होते ही अतुलित बल का अनुभव उस सर्वशक्तिमान् के सान्निध्य में। 'निरफल कदे न जाइ' प्रभविष्णु प्रयोग है। तुल० 'कदे न होइ अकाज ॥ 209

विवृति : अंत कालि = अंततः। **सूका** < शुष्क (780) कदे न **निरफल** होइ (481) **कदे न** (209, 210)

च्यंतामणि मन मैं बसै, सोई चित्त में आणि।
बिन च्यता च्यंता करै, इहै प्रभु की बाणि ॥ 5 ॥ 564

भावार्थ : कबीर हिंदू-मुसलमान दोनों को यह बताना चाहते हैं कि वह ईश्वर बाहर—मंदिर-मसजिद में—नहीं 'दिल मंदिर' में है। यह शरीर ही उसका निवास है, यही जानो और उसे भीतर झाँककर चीन्हो। वह आत्मा-परमपुरुष स्वयं हमारे 'योग-क्षेम' की चिंता करता है—यह उसके सहज स्वभाव में है। आप उसके लिए सोचें या न सोचें पर वह सदा ही राखनहार है।

चिन्तामणि होने पर व्यक्ति निश्चित हो जाता है ऐसी मान्यता है। पर, मनुष्य उस चिंतामणि को अपने भीतर पाकर भी लोभ-मोह में भटकता है। कबीर का कहना है—'च्यंता तो हरि नांउ की और न चिंता दास।' 41 'च्यंतामणि प्रभु निकट छांड़ि करि, भ्रमि भ्रमि मति बुधि खोई।' 17 केदारौ। तु० विनय० 99

विवृति : प्रभु जगन्नाथ की बाणि : ईश्वर का स्वभाव। **बानि**<वर्ण। 'जीय की बानि'—'कहै कबीर यामैं झूठ नांहीं, छोड़ जीय की बांनि। राम नाम निसंक भजि रे, न करि कुल की कांनि। 15 केदारौ तथा, 'अरे परदेसी पीव पिछांणि। कहा कभयौ ताकौं समुझि न परई, लागी कैसी बानि। 13 केदारौ।

कबीर का तूं चितवै, का तेरा च्यंत्या होइ।
आ मन च्यता हरि जी करै, जो तोहि च्यंत न होइ ॥ 6 ॥ 565

भावार्थ : कबीर ने उपर्युक्त साखी की बात ही इसमें दोहराई है। कबीर मन को विश्वास करने के लिए उद्‌बोधित करते हैं—हे मन, तेरी चिंता हरि जी करते हैं तू क्यों चिंता करता है अपनी ? तेरा एक ही काम है उनको सुमिरन करना बस बाकी उन पर छोड़ दो। तेरे चिंता करने से क्या बनेगा—जितनी ही चिंता उतना ही माया का बंधन, कर्त्तव्य का पालन करें निश्चित होकर।

चिंता : चिंता-मुक्ति के लिए भक्तियोग ही मार्ग है। मनोविज्ञान मानता है कि व्यक्ति कहीं भी आस्था-विश्वास के साथ लग जाय तो चिन्ता की आदत छूट सकती है क्योंकि मन ही बंधन है और मन ही मोक्ष।

कबीर करम करामां लिखि रह्या, अब कछु लिखा न जाइ।
मांसा घटै न तिल बधै, जो कोटिक करै उपाइ ॥ 7 ॥ 566

भावार्थ : कबीर मानते हैं कि मनुष्य अपने कर्मों का फल भोगता है—कर्म ही भाग्य हैं। जो कर्म-फल विधाता (करीम = कृपालु ईश्वर) लिख देता है उसे भोगना ही पड़ता है उसमें मासां भर न घट सकता है और तिल भर बढ़। उसके घटाने-बढ़ाने का करोड़ उपाय भी व्यर्थ है।

घटै—घटता है, कम होता है। 'मासा घटै न तिल बधै' मुहा० **मासा**<फा० माश: = आठ रत्ती; बारह माशा = एक तोला। **करीम** (अरबी) = दयालु (63 गौड़ी)।

बधै—(250, 329, 353, 425, 567) 'रती घटै न तिल बधै (567); उपाइ<उपाय।

जाकौ जेता निरमया, ताकौं तेता होइ।
रती घटै न तिल बधै, जो सिर कूटै कोइ ॥ 8 ॥ 567

भावार्थ : कबीर ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास करने के लिए कहते हैं—वही सब कुछ करता है हमारी चिंता व्यर्थ है, जितना हमारे भाग्य में लिखा है—जो हमें मिलना है वह मिलेगा ही। उसमें न रत्ती भर कम और न तिल भर अधिक, चाहे कोई कितना ही सिर कूटे (यत्न करे)। **सिर कूटना** (मुहा०)

कबीर च्यंता न कारि अचित रहु, सांई है समरथ।
पसू पंषेरू जीव जंत, तिनको गांठि किसा ग्रथ ॥ 9 ॥ 568

भावार्थ : कबीर साईं के सामर्थ्य पर विश्वास कर अचित रहने की सलाह देते हैं—उनका कहना है वह सब का पोषक-पालक है। पशु-पक्षी जितने भी जीवजंतु हैं उन्हें कौन देता है ? वही न। उनकी गाँठ में कहाँ रोकड़ बंधा है। अर्थात् व्यर्थ का लोभ-परिग्रह हितकर नहीं।

अंचित=निश्चित (निस् + चित)। अचित हिन्दी का प्रयोग है। अ+चित।
सम्रथ (सा० 15०, 209) **किसा**=कैसा (474, 'तिनसूं किसा सनेह')

संत न बांधै गांठड़ो, पेट समाता लेइ।
सांई सूं सनमुख रहै, जहाँ मांगै तहां देइ॥ 10 ॥ 569

भावार्थ : संत संग्रही-परिग्रही नहीं होता—वह गठरी नहीं बांधता-ढोता। जो पेट भर के लिए पर्याप्त हो बस वही उसे चाहिए। **पेट समाता**—जो पेट में समा सके अर्थात् पेट भरने भर का। संत का एक ही धर्म है साईं के सन्मुख रहना (उसका सुमिरन, उसकी सेवा, उससे प्रीति)। संत को कहीं भटकना नहीं पड़ता उसकी आवश्यकता की पूर्ति 'प्रतिपालक' स्वयं करता रहता है। ईश्वरवादी लोभी नहीं, संग्रही नहीं—वह 'पेट समाता लेइ'। रूस का समाजवाद स्वप्न बनकर रह गया हिंसा, संग्रह, शोषण के कारण। कबीर की समता अध्यात्म-आचरण पर आधारित है।

गाठड़ी=गठरी (सूर, गठरिया)<ग्रंथि (ग्रंथ्) **सनमुख रहना**=सांईं के अनुकूल रहना (विलोम, विरोध)<संमुख।

कबीर रामनाम सूं दिल मिली जम हम पड़ी बिराइ।
मोहि भरोसा इष्ट का, बंदा न्रक न जाइ॥ 11 ॥ 570

भावार्थ : मृत्यु-भय, यम-भय से मुक्ति का एक ही उपाय है रामनाम अथवा उस व्यापक तत्त्व से प्रीति। रामभक्त नरक नहीं जा सकता क्योंकि वह पाप-दृष्टि से मुक्त है। यमराज अथवा नरक का भय 'स्वारथ बंधी' को होता है। भक्त तो आत्मिक मूल्यों में रत होने से निश्चित। जिसे राम का भरोसा है उससे यम अलग रहता है। सोऽहं के बोध होने पर मृत्यु-भय कहाँ? कबीर का आशय है माया (असत्य) का भरोसा नहीं करें —'नारद से मुनियर गिले, किसौ भरोसो ताहि।' कबीर यह भी कहते हैं कि जो उस 'बिसंभर' को छोड़कर पत्थर की मूर्ति का भरोसा करते हैं वे भी यमराज द्वारा नरक में भेजे जाते हैं—

कबीर पाहन केरा पूतला, करि पूजै करतार।
इह रे भरोसे जे रहे, त बूड़े कालीधार॥ 426

तुलसी : जदपि कबित रस एकउ नाहीं। राम प्रताप प्रगट एहि माहीं॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसंगु बड़प्पन पावा॥ मानस 1.10

सूरसागर : भरोसौ नाम को भारी।' 1.176

विवृति : भरोस-भरोसा < *भर+वश्य। नेपाली में भर विश्वास, सहारा के आकूत में प्रयुक्त होता है। संस्कृत 'भरं करोति' का आशय है अपने ऊपर अपना भार रखना। बं० भड़ोस्सा, कु० भरोसा, भर्सा; ने० भरोस, ओ० भरसा, मै० भरोस, मार० भरोसो, गु० भरोसो, सिंधी भरोसा। [एक कोश में भरोसा को भद्राशा से व्युत्पन्न बताया गया है। हि० शब्द सागर में भर+आशा और 'तुलसी शब्द-सागर' में भरण+आशा है।] 'मानक हि० को०' में व्युत्पत्ति नहीं दी गयी है। मराठी व्युत्पत्ति को० में 'भरवंसा' को सं० विश्रंभ से सम्बन्धित बताया गया है। पर, सं० विश्रंभते (श्रंभ्) का प्राकृत

रूप है 'विस्संभइ'। पद्मावत में 'निभरोसी' असहाय, दुर्बल, निराश्रित के अर्थ में है। प्राकृत-अपभ्रंश में भरोस-भरोसा का प्रयोग नहीं है।

सं० भर = वजन, बोझ। भार का प्रयोग कीर्तिलता 2.147, 3.26 में है।

बिराइ = बिलग = अलग < *विलग्न = संलग्न।

कबीर तू काहे डरै, सिर पर हरि का हाथ।
हस्ती चढ़ि नहीं डोलिये, कूकर भुसैं जु लाष ॥ 12 ॥ 571

भावार्थ : कबीर निश्चिंत होने के लिए एक ही मार्ग बताते हैं हरि की शरणागति। इस भवसागर में सब को मृत्यु का भय रहता है। प्रत्येक व्यक्ति, श्री अरविंद के शब्दों में, अमरता चाहता है। यह अमरता तभी संभव है जब व्यक्ति समग्र से अपने को जोड़े। जिस पर हरि का हाथ है, जो ब्रह्म की अनुभूति सर्वत्र करता है उसे कैसा भय ? भक्त उच्चतर भावों में रमता है, यही गयंद पर चढ़ना है। गयंद और कूकर प्रतीक हैं ऊर्ध्वगामी आंतरिक प्रवृत्ति और निम्नगामी बाह्य प्रवृत्ति के। कबीर का कथ्य है जो व्यक्ति समष्टि से योग प्राप्त कर चुका हो उसकी जीवन-दृष्टि में तुच्छ स्वार्थपरक भावों का स्थान नहीं। कबीर मुहावरों के प्रयोग में पटु हैं। उनकी भाषा सशक्त है। 'सिर पर हाथ' हो बड़ों का तो मनुष्य निश्चिंत रहता है। 'हस्ती चढ़ि नहीं डोलिए' और 'कूकर भूकना' प्रचलित मुहावरे हैं 'सुनहां खेदै कुंजर असवारा।' 144 गौ०

कबीर मीठा खांणा मधुकरी, भाँति भांति का नाज।
दावा किस ही का नहीं, बिन बिलाइत बड़राज ॥ 13 ॥ 572

पाठान्तर—'बड़ा देस बड़राजु'।

भावार्थ : कबीर कहते हैं पराधीनता अच्छी नहीं। किसी के अधिकार (दावा) में रहने पर स्वतंत्रता का सुख नहीं—जिसका खायँगे उसकी ऐसी करनी पड़ेगी। मधुकरी (भिक्षावृत्ति) का अपना सुख है—न किसी का लेना और न देना।

कबीर का बल स्वतंत्र जीवन पर है। कबीर कहते हैं कि मधुकरी में नाना प्रकार के अनाज मिलते हैं यह उसकी विशेषता है। मधुकरी की मिठास ही और है। संतोष के कारण यह जीवन बिना राज का राज है। वह स्वामी नहीं किसी भूखंड का पर उसका अपने मन पर अधिकार है, इसलिए उसके पास जो कुछ है वही 'बड़ादेस बड़राज' है। सच्ची स्वतन्त्रता मानसिक तुष्टि-संतोष में है।

काव्यमर्म : शांति-सुख के लिए किसी कार्य या वस्तु के उज्ज्वल पक्ष को देखने की आदत डालनी चाहिए। 'भांति भांति के नाज' मधुकरी की विशेषता है पर यहाँ महत्त्व है कबीर के सौन्दर्य-बोध का, उनके रचनात्मक दृष्टिकोण का। मधुकरी की मिठास श्रेष्ठ है साधु के सोचने के ढंग के कारण। दुःख-सुख का भाव हमारे सोचने-विचारने की पद्धति पर निर्भर है।

बिलाइत—अरबी बिलायत = राज्य।

कबीर मांनि महातम प्रेम रस, ग्रवातण गुण नेह।
ए सबहीं अहला गया, जब दे कह्या कुछ देह ।। 14 ।। 573
कबीर मांगण मरण समान है, बिरला बंचै कोइ ।।
कहै कबीर रघुनाथ सूं, मति रे मंगावै मोंहि ।। 15 ।। 574

भावार्थ : कबीर इन साखियों में स्वाभिमान; आत्मसम्मान पर बल दे रहे हैं। किसी के सामने हाथ फैलाना मृत्यु सदृश है—हाथ फैलाते ही आत्मसम्मान गया और पराधीनता आई। कबीर कहते हैं मान, माहात्म्य, प्रेम-रस, गौरव का गुण, स्नेह सभी, 'अहला गया' = प्रभावहीन हो गए जब हम किसी से याचना करते हैं। कबीर हाथ पसारने की स्थिति से बचने की बात करते हैं। कबीर अपने इष्टदेव रघुनाथ से विनती करते हैं कि वे कबीर को इस दयनीय-मर्यादाहीन स्थिति से बचावें। जीवन का सुख आत्मसम्मान और आत्मगौरव की रक्षा में है। कबीर किसी राजा-शाह की दया पर जीवन-यापन के विरोधी थे।

विवृति : ग्रवातण (भारीपन) < गुरुत्व। गुरुता = गुरुआई। गरवा < गुरु 'साहिब गरवा चाहिए' अहल < अफल = व्यर्थ, निष्फल। मति < मा (343 523)।,

कबीर पाडल पंजर मन भंवर, अरथ अनूपम बास।
राम नाम सींच्या अमी, फल लागा बिस्वास ।। 16 ।। 575

भावार्थ : कबीर विश्वास अथवा प्रतीति पर बल देते हैं—राम पर अटूट-दृढ़ विश्वास या भरोसा हो तभी शांति-आनन्द अथवा द्वन्द्व से मुक्ति; उस एक के आश्रित दूजा नहीं। कबीर का कथ्य है सारी साधना विश्वास से हो सफल। इस आस्था की प्राप्ति को कबीर एक रूपक से समझाते हैं—शरीर (पंजर) सुगंधित पाडल (पादर < पाटला) का वृक्ष है, मन भंवरा है जो इस फूल का रस-बास अथवा सार तत्त्व ग्रहण करता है। 'अरथ अनूपम बास' पुष्प का वास (गंध) ही 'ब्रह्मबास' है। अर्थ (ब्रह्मतत्त्व) की प्राप्ति के लिए इस पुष्प वृक्ष को रामनाम के सुधारस से सींचना चाहिए। इतनी तत्परता से की गयी साधना अथवा भक्ति से ही 'ब्रह्म विश्वास' का फल मिलता है। (344 580)

तुलनीय : 'गुनी अनगुनी अर्थ नहिं आया, बहुतक जने चीन्हि नहिं पाया।' 'पुहुम बास भँवरा एक राता, बारा से उर धरिया।' 'कबीर मन मधुकर भया, करै निरन्तर बास।' 12 'अंतर कंवल प्रकासिया ब्रह्मबास तहाँ होइ। मन भँवरा तहाँ लुबधिया, जाणैगा जन कोइ ।।' 129

विवृति : 'बास' = ब्रह्मवास, 'बिस्वास' = ब्रह्मविश्वास—अर्थात् सर्वत्र उस सुवास की अनुभूति—भीतर और बाहर। जिसके भीतर यह सुवास व्याप्त है उसका मन कहीं नहीं भटकेगा। 'मिल्यौं राम उपज्यौं बिसवासा।'

'अरथ' = 'अर्थतत्त्व' = परमात्मा या ब्रह्म। 'पुहुप बास थैं पातला ऐसा तत्त अनूप।' 584

पाडल 'सूर 10.2903<सं० पाटल, पाटला, पं० म० गु० पाडल, हि० पादर, पाढ़ल । 'पाटल संसर्ग सुरभिवनवाताः' शाकुं० 1/3 पाटला के वृक्षों में, पुराने होने पर, फूल-फल लगते हैं । पुष्प लाल पर भीतरी भाग पीत ।

कबीर मेर मिटी मुकता भया, पाया ब्रह्म बिसास ।
अब मेरे दूजा को नहीं, एक तुम्हारी आस ।। 17 ।। 576

भावार्थ : कबीर ब्रह्म विश्वास रूपी फल प्राप्त की कसौटी बता रहे हैं—जब 'मैं मेरा' का स्वार्थ-भाव मिट जाय अथवा आपा (अहंकार) निर्मूल हो तब 'ब्रह्म बास' और ब्रह्म विश्वास की प्राप्ति होती है । इस विश्वास का आशय है एक उसी का सहारा, उसी का भरोसा, दूजा नहीं—अद्वैतभाव । जो कुछ कहना-मांगना हो उसी से । मेर मिटने पर घट-घट उसकी व्याप्ति का अनुभव । जब सर्वत्र सब में वही तब समता का भाव—'मैं मेरा, का अभाव । तुल० (270, 271, 6-8) तथा,

मेर निसाणी मीच की, कुसंगति ही काल ।
कबीर कहै रे प्राणियाँ, वाणी ब्रह्म संभाल ।। 467

तुलसी— 'एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास ।'

कबीर जाको दिल मैं हरि बसै, सो नर कलपै कांइ ।
एकै लहरि संमद की, दुखदालिद सब जाइ ।। 18 ।। 577

भावार्थ : कबीर कहते हैं उस ब्रह्म-रघुनाथ में विश्वास रखनेवाला क्यों कलपता—दुःखी होता है ? अरे, उस करुणासागर की एक लहर से सारे दुःख-दारिद्रय समाप्त हो जायँगे । अर्थात् हरिभक्त को चितारहित, आसारहित 'अकलप' होना चाहिए । 'एकै लहर—' काव्यमर्म से भरी सूक्ति है ।

कबीर मैमंता अविगतरता अकलप आसाजीत ।
राम अमलि माता रहै, जीवत मुकति अतीत ।। 176
'बिज पीव मिलें कलप टलि गइया ।' दुपदी रमैणी

विवृति : कलपै कांइ = क्यों रुदन करता है, कृप् = रोना (लैमेंट) [कृपण और कृपा में भी कृप् धातु है ।] सूर—कलपत 10. 477 'ये कलपति बांनता' 10.4039 'जो कलपै सो कांची ।' 1.32 'करमहीन कलमत फिरत (तुलसी) । कांइ<किम् (385, 187, 449) चांदा० 68, 369 । दुख दालिद = दुःख दारिद्र्य । दुख दारिद' का संयुक्त प्रयोग—'दारिद दुख निवार्यौ ।' सूर 10.4245, 'तुलसी दारिदी दुखारी देखि' क० 7.174

कबीर पद गाये लै लीन ह्वै, कटी न संसै पास ।
सबै पिछोड़े थोथरे, एक बिनां बैसास ।। 19 ।। 578

भावार्थ : कबीर का बल विश्वास-प्रतीति पर है उसके बिना चाहे कितना कीर्तन किया जाय, गुण गाया जाय सब व्यर्थ । हृदय में आस्था होने पर भ्रम-संशय का पाश (611) समाप्त होगा बिना विश्वास सारे कार्य थोथे-छूँछे हैं सूप से पछोरने पर जो हलकी भूसी होती है वह उड़कर अलग हो जाती है इसे पछोरन अथवा 'पिछोड़' कहते हैं (तु० 580)

विवृति : तुलसी—'ठालीं ग्वालि जानि पठए अलि कह्यो है पछोरन छूँछो। (कृ० 43)

सूर— (1) जिन हठि भुसी पछोरी। 10.3553

(2) तुम मधुकर निर्गुन निज नीके देखे फटकि पछोरे। 10.3763

(3) लोकलाज सब फटकि पिछोर्यो 10.1661

पिछोड़े = पछोरन, पछोड़न (भुसी), कु० पछोड़णो प्रा० पक्खोडइ *प्रक्षोटयति (*क्षुट्) थोथरे = छूँछे; 'जपतप दीसै थोथरा।' 433 पं० थोथा, गु० थोथु, कु० थोत्रो, सिं० थोथो < *थोत्थ।

कबीर गावण ही में रोज है, रोवण हीं मैं राग।

इक बैरागी गृह मैं, इक ग्रिही बैराग।। 20 ।। 579

भावार्थ : कबीर कहते हैं बैरागी और गृहस्थ में स्थान अथवा भेष का महत्त्व नहीं—महत्त्व है जीवनपद्धति, रहनि अथवा जीने का ढंग का। एक, भेष से साधु होते हुए भी गृहस्थ सदृश है यदि वह चितायुक्त है और एक गृहस्थ वैरागी-साधु संत है यदि वह चितामुक्त अथवा अनासक्त है। गृह में वैराग्य भाव संभव है। वैराग्य और गृहस्थ के भाव में अन्तर है मनुष्य की जीवन-दृष्टि का। जीवन एक खेल है। खेल में जीतना-हारना महत्त्वपूर्ण नहीं, महत्त्व है हम कितनी ईमानदारी सचाई से खेलते हैं। जिस प्रकार अंधकार में प्रकाश, गायन में रुदन, रुदन में गान, सुख में दुःख और दुःख में सुख उसी प्रकार राग में विराग और विराग में राग समाया रहता है।

कबीर का बल कर्म करने के दृष्टिकोण पर है—कोई भी कर्म मुक्तिदायक अथवा बंधनकारक हो सकता है। कबीर सम्यक् जीवन की बात कर रहे हैं जिसमें आचरण प्रमुख है। रोज < रुदन। [कन्हावत में प्रयुक्त] 'गावण ही में रोज है रोवण ही में राग' काव्यमर्म एवं अर्थ-गौरव से भरपूर है। कबीर सूक्तियों के कवि हैं।

कबीर गाया तिनि पाया नहीं, अणगायां थैं दूरि।

जिनि गाया बिसवास सूं, तिन राम रह्या भरपूरि।। 21 ।। 580

भावार्थ : कबीर का बल आंतरिक भाव पर है। मनुष्य विश्वास-आस्था से राम का सुमिरण करेगा तभी वह राममय हो सकेगा, तभी वह ब्रह्म-रस के स्वाद और 'ब्रह्मवास' की सुगंधि से परिचित हो सकेगा। (575) गाने और न गाने का महत्त्व नहीं—

'राम तौ घट ही भीतर रमि रह्या, जौ आवै परतीत।' 764

कबीर घटिबंधि कहीं न देखिए ब्रह्म रह्या भरपूरि।

जिन जांन्यां तिनि निकटि है, दूरि कहै ते दूरि।। 765

कबीर सबद सरीर मैं, बिनि गुण बाजै तंति।

बाहरि भीतरि भरि रह्या, तार्थैं छूटि भरंति।। 611

अणगाया = अनगाया यथा, अनआया, अनकीया, अनचिन्ता अनजाना आदि कबीर में प्रयुक्त।

तुलसी— 'बाजिमेध कब कियो अजामिल गज गायो कब साम को।' विनय 99

36. पीव पिछांणन कौ अंग

कबीर का राम—ब्रह्म-अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है—अणु-अणु में है। वह गुप्त है और प्रकट भी। यह विश्वास ईश्वरवादी विचारधारा से सम्बन्धित है। इस विचारपद्धति से भक्त सर्वत्र प्रिय का दर्शन करता है और फलतः सब से प्यार करता है। निरंजन का बास हृदय में है अतः हृदय को शुद्ध करे। बाह्य पूजा-तीरथ-ब्रत 'दूजा' है।

इसी परम्परा में, पत्थर में भी भगवान का दर्शन किया जाने लगा और मंदिरों में मूर्ति को प्रतीक मानकर उसकी पूजा में लोग लग गये फलतः ईश्वर की व्यापकता सीमित हो गयी एक प्रतीक में—कबीर इस पद्धति के विरोध में हैं स्वामी दयानन्द की भाँति—कबीर ने सामाजिक व्यवहार को देखकर यह निर्णय लिया कि बाह्यपूजा मनुष्य का ध्यान आचरण से हटा देती है।

कबीर संपुट माहिं समाइया, सो साहिब नहीं होइ।
सकल मांड मैं रमि रह्या साहिब कहियै सोइ॥ 1 ॥ 581

भावार्थ : जो ईश्वर किसी संपुट अथवा घेरे में है वह ईश्वर नहीं कहा जा सकता है। ईश्वर असीम है। साहिब को किसी सीमित रूप में मानना ईश्वर को न जानना है। सकल 'मांड' (=सृष्टि) में वह व्याप्त है। कबीर शालग्राम (संपुट) की पूजा के विरोध में कह रहे हैं (430,431,432)। शालग्राम (विष्णु का प्रतीक) भ्रम-माया से मुक्ति नहीं देगा।

विवृति : संपुट<सम्पुट=डिबिया। **समाइया**=समाजाना, अँटना (सा० 491,493, 543) **मांड**<मण्डन, मण्ड्=सजाना। 'अंजन मांड्या सब बिस्तार', तथा 'अंजन सकल पसारा रे' तथा 'छांड़ि पसार राम भजु बउरे।' **मांड**=सृष्टि का पसार-विस्तार। **अंजन**=प्रकट, सं० मण्ड् और अञ्ज् समानार्थी हैं। मांड=अंजन। सकल मांड=समस्त रूपायित सृष्टि। निरंजन=अंजनहीन, रूप रहित। उस निरंजन का पसार (=अंजन) यह सृष्टि है। सं० **अनञ्जन** का एक अर्थ है परब्रह्म, विष्णु या नारायण। कबीर का निरंजन इसी आशय में है—ये विष्णु और उनके अवतारों के नाम बराबर लेते हैं यथा राम, नरहरि, कृष्ण, गोपाल आदि। कबीर जनता का ध्यान मूल की ओर आकृष्ट करते हैं ताकि धर्मभेद मिटे। ईश्वरवादी चाहे हिन्दू हो या मुसलमान उसका इष्ट गुप्त-अप्रकट ईश्वर है—प्रकट (संसार) में वह व्याप्त है। सूफी कवि भी यही मानते हैं और उसी से प्रेम और उसी के विरह की बात करते हैं। सं० निरंजन='बिना आंजक'=निष्कलंक, निर्दोष, मिथ्यात्व से रहित (संसार मिथ्या है और मूल सिरजनहार सत्य)। 'निरंजन' शिव का विशेषण है। 'कबीर जेती देखौं आतमा, तेता सालिगराम।'

सकल मांड में रमि रह्या='सब घटि रह्यो समाइ'। **रमि रह्या**=रम रहना, रमजाना; रम्, रमते।

रहै निराला मांड थैं, सकल मांड ता माहि।
कबीर सेवै तास कूं, दूजा कोई नांहि ॥ 2 ॥ 582

भावार्थ : कबीर ईश्वर का प्रत्यभिज्ञान कराते हुए कहते हैं वह सकल सृष्टि में रमता है पर वह सृष्टि से अलग है—वह रमते हुए भी निरार (=अलग) है। सारा अंजन (दृश्य जगत्) उसी में समाया है :

अंजन अलप निरंजनसार।
इहै चीह्नि नर करहु विचार ॥
अंजन उतपति बरतनि लोई। बिना निरंजन मुकति न होई।
अंजन आवै अंजन जाइ। निरंजन सब घटि रह्यो समाइ ॥ 12 भैरू

विवृत्ति : कबीर का कथ्य है 'एक पिछांण्या तो का दूजा अर्थात् उस एक से ही लौ अन्य साधन रोजा-हज-तीरथ सब दूजा हैं।

कबीर सेवै तासु कूं=उस निराकार-निरंजन के भरोसे रहे—उसी की हृदय में उपासना और भक्ति :

एक निरंजन अलह मेरा।
हिन्दू तुरुक दहूं नहिं नेरा ॥ 13 भैरू

दूजा कोई नांहि=उस निराकार के अतिरिक्त कुछ सत्य नहीं—तीरथ व्रत 'दूजा' है :

राखूं बरत न माह रमजान। तिसही सुमिरौं जो रहै निदांन।
पूजा करौं न निमांज गुजारौं। एक निराकार हिरदै नमसकारौं।
ना हज जाऊं न तीरथ पूजा। एक पिछाण्या तौ क्या दूजा।
कहै कबीर भरम सब भागा। एक निरंजन सूं मन लागा ॥ 13 भैरू

कबीर का 'एक' पर बल है 'दूजा' भ्रम है। कबीर का एक 'निराकार' है, वह 'त्रिभुवनराइ' है, वह 'सारंग पानि' है, वह 'नारायण' है, वह 'गोव्रधनधारी' है, वह 'बनवारी' है। कबीर का निराकार विभिन्न नामों से जाना जाता है। वही 'अल्लाह' भी है, अतः नामभेद से मूल को न छोड़े।

कबीर की उपासना-सेवा बाह्यजगत् में नहीं हृदय (दिल) में होती है—वहीं वह 'त्रिभुवनपति' बसता है, हृदयकमल उसका निवास है। उसी हृदय में विरह की आग जलती है, साधक शीतलता की खोज में उस निरंजन में मन लगाता है।

निराला=निनारा=न्यारा<अन्याकार। **तामांहि**=उसमें। **ता**<तद्। **मांहि** (478) **सेवै**<सेव्। **दूजा**<द्वितीय (473)।

कबीर भौलै भूली खसम कै, बहुत किया बिभचार।
सतगुरि आंनि बताइया, पुरिबला भरतार ॥ 3 ॥ 583

भावार्थ : कबीर परमेश्वर को पति और अपने को उसका 'दिलदार' = प्रेमपात्र (सफ सफा दिलदार दोदार—राग सूहो)। उस खसम या भरतार को भूलने पर मनुष्य व्यभिचार करता है अर्थात् 'दूजा' का सहारा लेता है। 'पुरबिला भरतार' अर्थात् मूल अथवा आदि पुरुष जो सब का स्वामी है और सब में बसता है।

कबीर का कथ्य है कि गुरु ही उस परम पुरुष का बोध कराने में समर्थ है। जब उस पूर्व (प्रथम-मूल) भर्तार की पहचान हो जाती है तब मनुष्य निर्मल हो उठता है—

पूरे सों परचा भया सब दुख मेल्ह्या दूरि।
निर्मल कीन्ही आतमा, तार्थें सदा हजूरि ॥ 35

जब तक हृदय (आत्मा) निर्मल नहीं होता तब तक व्यक्ति व्यभिचार (कुकर्म) करता है और जन्म-मरण के चक्र में मरता रहता है। 'भोले-भूली' ज्ञान के विरोध में है।

विवृति : भोलै = **भोल** (प्रा० भुल्ल = भूल) **भोलै भूली** = अज्ञानता के कारण मूल पति को भूली। **पुरबिला**<पूर्वित, पूर्वी = प्राचीन (= परम पुरुष, आदि)। **बिभचार**< व्यभिचार 'व्यभिचारात्तु भर्त्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति गर्ह्यताम्।' मनु० 5/164

कबीरा तालिब तोरा। तहां गोपि हरी गुर मोरा।
तहाँ हेत हरि चित लाऊँगा। तो मैं बहुरि न भौजलि आऊँगा ॥ 31 **गौड़ी**

सतगुर मिल्या त का भया जे **मन पाड़ी भोल**।
पासि बिनट्ठा कप्पड़ा क्या करै विचारी चोल ॥ 24

कबीर जे को सुंदरी, जाणि करै **बिभचार**।
ताहि न कबहूँ आदरै, परम पुरिष भरतार ॥ 757

बताइया = बताया (बताइ, सा० 482) **सतगुर आंनि बताइया** = सतगुरु ने आकर सुमति दी 'दुरमति दूरिगवाइसी, देसी सुमति बताइ।' 482 जब तक **'सुमति'** नहीं तभी तक व्यभिचार।

भरतार<भृ = भरण करना, पोषण करना सं० भर्ता (= भर्तृ)।

कबीर की यह भक्तिपद्धति निर्गुणी होते हुए भी प्रेम प्रधान होने से सगुणी है—वे परम पुरुष के साथ रमण करते हैं उनकी रमणी-प्रेयसी के रूप में। कबीर सूफियों से भिन्न मत रखते हैं। कबीर का आदर्श है गोपी-कृष्ण प्रेम।

कबीर जाके मुँह माथा नहीं, नहीं रूप करूप।
पुहुप बास थैं पातला, ऐसा तत अनूप ॥ 4 ॥ 584

भावार्थ : कबीर उस परमपुरुष प्रियतम (रघुनाथ) की पहचान बता रहे हैं—उसे इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता—न वह रूपवान है और न कुरूप अर्थात् रूप रहित। उसके मुँह-मस्तक नहीं अर्थात् वह शरीरी नहीं। वह सूक्ष्म है, अगोचर है। वह प्रत्येक प्राणी में है पर सूक्ष्म—

फूलनि मैं जैसे रहत **बास**।
यूं घटि घटि गोब्यंद **हरिनिवास** ॥ 5 बसंत

विवृति : थैं (= से 531) **पातला**<पत्र। **अैसा**<ईदृश्। **तत**<तत्त्व (—**'हंस रूप कोइ साधु है तत का जाननहार।'** 537 **'कबीर सोइ तत गहि जो गुर दिया बताइ।'** 705 **अनूप**<अनुपम।

37. बिरकताई कौ अंग

कबीर मेरे मन में परि गई, अैसी एक दरार।
फाटा फटक पषांण ज्यूं, मिल्या न दूजी बार ।। 1 ।। 585

भावार्थ : बिरकताई = वैराग्य भाव, विराग । कबीर संसार से आसक्ति के विरोध में हैं । उनका लक्ष्य है भक्ति-हरिप्रेम, हरिगुणगान अथवा माया से विमुख । कबीर कहते हैं कि संसार और मेरे बीच में एक दरार (खाई) पड़ गई है अब वह दरार दूर नहीं हो सकती । मेरा मन उसी प्रकार जगत् से जुड़ (एकमेक) नहीं सकता जिस प्रकार स्फटिक पाषाण टूटने पर नहीं जुड़ता । अर्थात् 'लोक वेद' का रास्ता भिन्न, मेरा मार्ग भिन्न ।

विवृति : **दरार** = अलगाव, दृ = फटना, फाड़ना, विभक्त करना; दीर्यति, दीर्ण; दारयति = विदीर्ण करता है । सं० **दार** >दरार । **फाटा** = फटा या दरार युक्त; **स्फट्** = फट पड़ना, स्फटति = फटता है । **स्फुट्** (स्फुटति, स्फोटति, स्फुटित) । **फटक** <स्फटिक बार <वार (सं० बहुवारान्) ज्यूं (471, 590)

वैराग्य की अनुभूति होने पर संसार से मनुष्य उदासीन होकर परमतत्त्व की ओर मन लगाता है । **आखिरी कलाम** में जायसी की भी स्वीकारोक्ति कबीर की ही भाँति है—

जायसनगर मोर अस्थानू । नगर का नावं आदि उदयानू ।
तहाँ देवस दस पहुने आएउं । भा **बैराग** बहुत सुख पाएउं ।
सुख भा सोच एक दुख मानौं । ओहि बिनु जिवन मरन कै जानौं ।
नैन रूप सो गएउ समाई । रहा पूरिभरि हिरदै छाई ।
जहंवै देखौं तहंवै सोई । और न आवै दिस्टि तर कोई ।
आपुन देखि देखि मन राखौं । दूसर नाहिं सो कासौं भाखौं ।। 10

कबीर संसार की कालिख से अलग हो गए; संसार और उनमें भेद पड़ गया—यही वैराग्य है :

कबीर काजल केरी कोठरी, तैसा यहु संसार ।
बलिहारी ता दास की, पैसि रे निकसणहार ।। 477

कबीर मन फाटा बाइक बुरै, मिटी सगाई साक ।
जौ परि दूध तिवास का, ऊकटि हूवा आक ।। 2 ।। 586

भावार्थ : संसार से वैराग्य क्यों ? संसारी स्वार्थी होता है उसे किसी से भी प्रीति नहीं । कबीर कहते हैं संसार से मन फट गया—विदीर्ण हो गया बुरे आचरण-व्यवहार के कारण; सगे-संबंधियों से सगाई (रिश्ते) टूट गयी । 'स्वारथ बंधी' लोगों का साथ उसी

प्रकार उपविष सा है जैसा मदार का दूध—जिस प्रकार तिवास (तीन दिवस) का दूध फट कर आक (मदार) का दूध हो जाता है और भोज्य नहीं रह जाता उसी प्रकार सांसारिक स्वार्थपूर्ण सम्बन्ध।

ऊकटि<उत्कट = विषम ? **फाटा**<फट्<स्फटति = टूटता है। **बाइक**<वाक्य; कुवाक्य = कुवचन।

कबीर चंदनभागां गुण करैं, जैसे चोली पन।
दोइ जन भागे नां मिलै, मुकताहल अरु मन ॥ 3 ॥ 587

भावार्थ : कबीर कहते हैं एक बार मन विभक्त हो गया तो वह नहीं जुटता जैसे मोती नहीं जुटती। हाँ, चंदन का टुकड़ा और मजीठ की जड़ या उसके पत्ते विभाजित होने पर भी अपना गुण नहीं छोड़ते हैं। कबीर का मन संसार से बिछुड़ गया है। **चोल** = मञ्जिष्ठा (मजीठ का लाल रंग)।

विवृति : मुकताहल (सा० 161)<मुक्ताफल। **भागां**<भज्; टुकड़ा, भग्न = टूटा।

पासि बिनंठा कापड़ा कदे सुरांग न होइ।
कबीर त्याग्या ग्यान करि, कनक कामनी दोइ ॥ 4 ॥ 588

भावार्थ : कबीर का कथ्य है जिस प्रकार धूल से भरा कपड़ा रंगा नहीं जा सकता अथवा धूल धूसरित कपड़े पर रंग नहीं चढ़ता उसी प्रकार विषयी (जो भोग में लिप्त है) पर अध्यात्म अथवा गुरु के ज्ञान का प्रभाव नहीं पड़ता (तुलनीय सा० 24)। जब तक यह भ्रम है कि भोग में ही सुख है तब तक अज्ञान है। भोग की ओर से मन हटना ही ज्ञान है। कबीर ने ज्ञान होते ही कनक और कामिनी (माया-धंधा) से मुँह मोड़ लिया उलटे रास्ते चल पड़े। (तुल० सा० 505) कामिनी से विरक्त होकर राम में लौ लगा लिया।

विवृति : पासि (सा० 24)<पांशु। **बिनंठा**<विनष्ट 463, 24, 231, 242 **कदे न** (सा० 465) **सुरांग**<सुरंग (219) **कनक कामनी** का संयुक्त प्रयोग भक्ति साहित्य में बहुल है। तुल०

सतगुर मिला त का भया, जे मन पाड़ी भोल।
पासि बिनंठा कप्पड़ा, क्या करै बिचारी चोल ॥ 24

चित चेतनि मैं गरक ह्वै, चेत न देखै मंत।
कत कत की सलि पाड़िये, गल बल सहर अनंत ॥ 5 ॥ 589

भावार्थ : कबीर का अपने लिए तथा जन-जन के लिए उद्‌बोधन है कि चैतन्य (जो प्रत्येक के भीतर है) को न बिसारो संसार में मुग्ध होकर। चेतो, जागो, चैतन्य में लौ लगाओ—उसी में गरक हो जाओ (डूब जाओ) मंत (मन्त्र) तो राम नाम, उसे ही पहचानो। गरक<गर्क (अरबी) सलि पाड़िए = शल्य नष्ट या समाप्त कीजिए।

सहर=नगर (शरीर) **कत-कत की सलि पाड़िए**=कहाँ कहाँ का काँटा नष्ट करेंगे—शरीर तो शल्य का घर है। इस पंचभौतिक शरीर की चिंता छोड़नी होगी **पाड़िया** < पारयति=समाप्त करता है, प्रा० पारिय=समाप्त। शरीर (तन) पट्टन (पाटन) सदृश—'तन पाटन मैं कीन्ह पसारा'।

राम नाम ल्यौ लाइकरि, चित चेतन ह्वै जागि।
कहै कबीर ते ऊबरे, जे रहे राम ल्यौ लागि। 5 बारहपदी रमैणी

तथा, कबीर कोई एक राखै सावधान, चेतनि पहरै जागि
बस्त न बासन सूं खिसै, चोर न सकई लागि। 559

तथा, सब मदमाते कोई न जाग।
तार्थें संग ही चोर मुसन लाग॥ 10 बसंत

कबीर जाता है सो जांण दे, तेरी दसा न जाइ।
खेवटिया की नाव ज्यूं, घणें मिलेंगे आइ॥ 6 ॥ 590

भावार्थ : कबीर का कथ्य है संसार में कितने लोग मिलते-बिछुड़ते हैं—कितने भक्ति पथ पर चलने वाले मिलते हैं और कितने उसे छोड़कर चले जाते हैं। इसकी चिंता नहीं करना है। अपनी ओर अथवा अपनी आत्मिक दशा की ओर ही साधक का ध्यान रहना चाहिए।

जिस प्रकार खेवक को कितने ही साथी मिलते और बिछुड़ते हैं पर वह तटस्थ भाव से सब के साथ व्यवहार करता है, किसी के साथ आसक्त नहीं होता, उसी प्रकार भक्त को अपनी लौ उस परम के साथ लगाए रहनी चाहिए। **तेरी दसा न जाइ**=तुम अपना पंथ न छोड़ो, आत्मतत्त्व को न भूलो।

कबीर नीर पिलावत क्या फिरै, सायर घर-घर बारि।
जो तृषावंत होइगा, सो पीवैगा झष मारि॥ 7 ॥ 591

भावार्थ : कबीर का कहना है भक्ति सिखाई नहीं जाती—जिसे ईश्वर की प्राप्ति की तीव्र लालसा होगी वह स्वयं उसे खोजेगा—वह स्वयं अपनी प्रेम-प्यास बुझाने का यत्न करेगा। मिलन की इच्छा साधक को उस प्रेम-सागर के पास स्वतः ले जायगी। अतः तृषा मुख्य है प्रेम की। वह प्रिय घट-घट में है उसे जानना-पहचानना होगा 'सायर घर घर बारि।' भक्ति का उपदेश देना व्यर्थ है।

झख मारकर=विवश होकर (झख मारना मुहा०)

कबीर उपर्युक्त दो साखियों में उपदेश की व्यर्थता बता रहे हैं; पात्र अनुकूल हो तब ज्ञान की बात।

कबीर गांठी कोपीन है, साध न मानै संक।
राम अमलि माता रहै, गिणैं इन्द्र कौं रंक॥ 8 ॥ 592

कबीर दावै दाझण होत है, निरदावै निरसंक।
जे नर निरदावै रहैं, ते गिणै इन्द्र कूँ रंक ॥ 9 ॥ 593

भावार्थ : कबीर राम भक्त की निश्चितता की चर्चा कर रहे हैं—भक्त को केवल अपने राम से काम, उसे आत्मरति ही प्रिय है। उसे इन्द्र की भी परवाह नहीं। आत्मा में रमण करने का आनंद असीम है। उस सुख के आगे इन्द्र का ऐश्वर्य फीका है—साधु की दृष्टि में प्रेय नहीं श्रेय होता है, वह संपत्ति (द्रव्य) की ओर ताकता नहीं, वह आत्मक्रीड़ा में, उस भूमा के साहचर्य में सुखी-संतुष्ट रहता है। इन्द्र प्रतीक है वैभव का। साधु निर्द्रव्य (रंक) है पर है स्वतंत्र-मुक्त, उसका मन द्रव्य (धन) के फेर में नहीं पड़ता—जहां द्रव्य है, संपत्ति है, वैभव है वहीं शंका, भय, ताप और दुःख। 'दावै दाझण होत है' = जहाँ द्रव्य है वहीं दग्ध होना है। निरदावै <निर्द्रव्य। साधु के पास संपत्ति के नाम पर एक लंगोटी ही है, उसे वैभव की रक्षा की चिंता ही नहीं। 'राम अमलि माता रहै' = नित्य राममय।

गांठी<(1) ग्रंथि (2) ग्रथ = गथ = धन। 'गांठी कोपीन है' अर्थात् साधु ने द्रव्य के नाम पर कुछ भी नहीं गठियाया है (द्रव्य गांठ बांधकर रखते थे)। **दावा**< द्रव्य = सामग्री, संपत्ति (द्रव्य परिग्रह = धन का संचय); **निरदावै**<निर्द्रव्य = संपत्ति-हीन, दरिद्र। **दाझण**<दह्; **दाझणां** 102

कबीर च्यंता न करि अचिंत रहु, साईं है संम्रथ।
पसू पषेरू जीव जंत तिनकी गांठि किसा ग्रथ ॥ 518

कबीर सब जग हंडिया, मंदल कंधि चढ़ाइ।
हरि बिन अपना को नहीं, सब देखै ठोंकि बजाइ ॥ 10 ॥ 594

भावार्थ : कबीर का अनुभव है कि संसार में कोई सगा नहीं है—'सब स्वारथ बंधी लोग' इसलिए किसी के प्रति सक्ति न हो। जैसे नाव का यात्री आता-जाता है उसी प्रकार संसार के लोगों को भी समझें—क्षणिक सुख को छोड़ें। कबीर का कहना है कि कंधे पर मर्दल (ढोल) टांग कर सारा जग घूम डाला कोई भी 'अपना' नहीं—अपना केवल हरि—वह परम पुरुष, वह समर्थ राम। ठोंक बजाकर सब को परखा कोई सच्चा नहीं, सब स्वार्थी।

सं० **हण्ड्** = घूमना। 'मँदल कंधि चढ़ाइ' = डुग्गी पीटकर कहना ताकि सब सुन सकें। **मंदल** < **मर्दल** = ढोल। **ठोंक बजाकर देखना।** (मु०)

38. संम्रथाई कौ अंग

कबीर ने सिरजनहार हरि का गुणगान किया है इस अंग में। भक्ति-साहित्य में ईश्वर की शक्ति, उसके सामर्थ्य की बखान अनिवार्य है।

नां कुछ कीया न करि सक्या, नां करणें जोग सरीर।
जे कछु कीया सु हरि कीया, ताथैं कबीर कबार ॥ 1 ॥ 595

भावार्थ : कबीर अपनी श्रेष्ठता, अपनी शांति का श्रेय भगवान को देते हैं भक्त की भाँति। उनका विश्वास न ज्ञान में है और न कर्म में—वे भगवदकृपा को आधार मानते हैं सारे जोवन का (जैन धर्म न भगवान को मानता है और न भगवदकृपा ऐसी चीज को। जैनधर्म प्रयास में आस्था रखता है।) कबीर ईश्वर और ईश्वर की कृपा के भक्त हैं। कबीर का कथ्य है कि इस नश्वर शरीर की सामर्थ्य ही क्या है? 'जो कुछ कीया सु हरि कीया' वे ही 'तीनि लोक ब्रह्मांड में सब के भरतारा'। कबीर अपने सामर्थ्य को महत्त्व नहीं देते। वे उस परम समर्थ का दास मानते हैं अपने को—'उस संम्रथ का दास हौं कदे न होइ अकाज।' 209 उस सांई की कृपा से कबीर सा सामान्य व्यक्ति कबीर (श्रेष्ठ) प्रसिद्ध हो गया। कबीर दृढ़तापूर्वक कहते हैं—

कबीर का तूं चितवै, का तेरा च्यंत्या होइ।
आ मन च्यंत्या हरिजी करै जो तोहि च्यंत न होइ ॥ 565

तथा कबीर च्यंता न करि अचित रहु साईं है संम्रथ। 568

कबीर कीया कछु न होत है, अनकीया सब होइ।
जे कीया कछु होत है, तां करता औरै कोइ ॥ 2 ॥ 596

भावार्थ : कबीर मानते हैं—प्रत्येक आस्थावादी संत साधक की भाँति—'करता औरै कोइ।' यह सभी का अनुभव है कि बिना प्रयास के ही कभी-कभी ऐसे लोगों से भेंट हो जाती है जो हमारे जीवन के विकास में सहायक हैं अथवा ऐसी घटनाएँ घटती हैं जो हमें अनुकूल अवसर देती हैं आगे बढ़ने के लिए—शर्त यही है कि हम शुद्ध मन से सत्कर्म में लगे रहें। हृदय की पवित्रता ही ऐसे अवसर प्रदान करती है। सामर्थ्य करने पर कभी-कभी कुछ हाथ नहीं लगता और कभी अनायास ही बहुत कुछ प्राप्त हो जाता है। उस 'कर्ता' का गुणगान सारे सूफी काव्य में भी है।

कबीर का दृढ़ मत है 'जो कछु कीया सु हरि कीया' (595)।
कबीर मानते हैं कि दीन का वही सहायक है—

कबीर जिसहि न कोई तिसहि तूँ, जिस तूँ तिस सब कोइ।
दरिगह तेरी सांइया, ना महरूम न होइ ॥ 3 ॥ 597

भावार्थ : भक्त कबीर उस परमात्मा के सामर्थ्य के प्रति अटूट विश्वास प्रकट करते हुए कहते हैं कि वह दीन गरीब की सुनता है जिसका सहाय कोई नहीं है—गीता के शब्दों में भगवान् भक्त के 'योगक्षेम' की परवाह करता है। कबीर, अन्य भक्तों की भाँति मानते हैं कि जब उसका सहारा होता है तब दूसरे भी सहाय बन जाते हैं। कबीर ईश्वर की स्तुति में कहते हैं कि भगवान् ! तेरी दरिगह (फा० दरगाह=दरबार, सभा) में कोई भी ऐसा नहीं जिसे तुझसे कुछ न मिला हो—कोई महरूम नहीं तेरी कृपा से अर्थात् तेरे दरबार में प्रार्थना करने पर सब की सुनी जाती है, कोई वंचित-निराश नहीं लौटता। उस परम स्वामी के सामर्थ्य की यह प्रशंसा है।

कबीर एक खड़े ही नां लहैं, और खड़ा बिललाइ।
सांई मेरा सुलषनां, सूता देइ जगाइ ॥ 4 ॥ 598

भावार्थ : कबीर 'हरिगुण' गा रहे हैं : मेरा स्वामी सुलक्षण है (शुभ लक्षणोंवाला)। कबीर उसकी कृपा पर निर्भर रहने को कहते हैं—प्रयास से कभी कुछ नहीं होता—कोई खड़ा है, प्रयत्नशील है पर प्राप्ति नहीं; कोई प्रयत्न करते-करते बिलला रहा है—रो रहा है। उसे समर्पित कर देने पर वह स्वयं चिंता करता है—हम न मांगे तो भी वह जगा-जगा कर देता है। 'सूता देइ जगाइ' अर्थगांभीर्य से भरा है। तुलनीय,

"बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को।
तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवक है,
सुनत सिहात सोच बिधहू गनक को।
नाम, राम ! रावरो सयानो किधौं, बावरो जो,
करत गिरि ते गरु तृन तें तनक को। 73 कवितावली

मसक बिरंचि, बिरंचि मसक सम करहु प्रभाउ तुम्हारो।
तथा, यह सामर्थ्य अछत मोहि त्यागहु, नाथ तहां कछु चारो ॥ 94 विनय०

स्वामी को **सुलक्षण** कहने की परंपरा रही है 'पदमावत' में—'आवहु **स्वामि सुलक्खने,** जीव बसै तुम्ह नाउं।' 236

कबीर सात समंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ।
धरती सब कागद करौं तऊ हरिगुण लिख्या न जाइ ॥ 5 ॥ 599

भावार्थ : 'हरिगुण' के गायक कबीर उस समर्थ की महिमा की अनन्तता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं उस सिरजनहार अवर्ण-अरूप ईश्वर का गुणागान करना असंभव सा है—सात समुद्रों के जल की स्याही बना ली जाय, जितने भी वृक्ष हैं उनकी टहनियों की कलम बना ली जाय, और सम्पूर्ण धरित्री का उपयोग कागद रूप में किया जाए तो

भी उसकी अपार महिमा चुकनेवाली नहीं—वह अवर्णनीय है। तुल०

सात सरग जौ कागर करई। धरती सात समुंद मसि भरई।
जावत जग साखा बन ढाँखा।...
सब लिखनी कइ लिखि संसारू। 10 पदमावत

तथा, असित गिरिसमं स्यात् कज्जलं सिंधु पात्रे।
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी। पुष्पदंत

विवृति : सात समुद्र— लवण, इक्षु, दधि, क्षीर, मधु, मदिरा, घृत। **मसि** (सं०)= कज्जल, स्याही। **लेखनि** (79)<सं० लेखनी। **बनराइ**<वनराजि=वृक्षावलि (राजि=पंक्ति, श्रेणी)। **कागद**<अ० कागज। **हरिगुण** (616,617)।

यह तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउं।
लेखनि करूं करंक की, लिखि लिखि राम पठाउं॥ 79

हरिगुण का स्मरण ही साखी-पद का उद्देश्य है। 'ज्यूं ज्यूं हरिगुण सांभलूं त्यूं त्यूं लागै तीर'—616। हरिगुण=हरिचरित=लीला (रमैणी बड़ी अष्टपदी)

कबीर अबरन कौं का बरनिये, मोपै लख्या न जाइ।
अपना बानां बाहिया, कहि कहि थाके माइ॥ 6॥ 600

भावार्थ : कबीर का ईश्वर साकार, सरूप, सवर्ण नहीं है वह अवर्ण है—जिसका रूप-रंग-आकार नहीं उसका वर्णन भाषा से कहाँ संभव है और जो अरूप है उसे देख कौन सकता है? कबीर का राम अनुभव से जाना जाता है। लोग अपने-अपने भावों के अनुसार उसपर वर्ण को आरोपित कर वर्णन करते-करते थक गये हे माइ, वह 'अबरन' है, अर्थात् उसका कोई 'बानां' (=वर्ण) नहीं। **बाहिया** (वह्, बाहना=चलाना डालना 401)

विवृति : **बरन अबरन** कथ्यौ नहीं जाई। सकल अतीत घट रह्यौ समाई॥
आदि अंति ताहि नहीं मधे। कथ्यौ न जाई आहि अकथे॥
अपंरपार उपजै नहीं बिनसै। जुगति न जानियै कथिये कैसे॥
जस कथिये तस होत नहीं, जस है तैसा सोइ।
कहत सुनत सुख ऊपजै, अरु परमारथ होइ॥ रमैणी बड़ी अष्टपदी

मोपै लख्या न जाइ : अलख निरंजन लखै न कोई।
निरभै निराकार है सोई॥
सुंनि अस्थूल रूप नहीं रेखा,
दिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहीं पेखा॥ वही

अबरन एक अकल अविनासी, घटि घटि आप रहै। 17 रामकली

अबरन<सं० अवर्ण, श्वेताश्वतर उपनिषद् 4 1 में प्रयुक्त :

'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्, वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः, स नो बुद्ध्याशुभया संयुनक्तु॥'

[वह जिसका कोई वर्ण-रूप-आकार नहीं है अर्थात् जिसकी परिभाषा नहीं की जा सकती अथवा जो परिचय से परे है और जो अपनी अनन्त शक्ति से अनेक वर्ण (रूप) धारण करता है (अपने लिए नहीं) और जो सृष्टि का सिरजनहार है और जो अन्त में समस्त लोक को अपने में लीन कर लेता है वह परमात्मा (देव) हमें उत्तम बुद्धि से संयुक्त करे ।]

कबीर का 'अबरन-बरन' प्रयोग उपनिषद्कालीन है—कबीर उपनिषद् के निराकार अकल-अविनाशी देव के उपासक हैं। साथ ही कबीर यह भी मानते हैं वह सृष्टि के निमित्त अनेक आकार-रूप धारण करता है इसीलिए वे उस देव को सिरजनहार, गोबिंद, जगप्रतिपालक, नरसिंह, जगपति. विष्णु, राम, कृष्ण, गोबर्धनधारी गोपाल, बिसंभर आदि नामों से उल्लेख करते हैं। कबीर मूर्ति में आस्था नहीं करते :—

हरि हिरदै रे अनत कत चाहौ।
भूलै भरम दुनी कत बाहौ। 18 रामकली।

तथा, 'घटि घटि आप रहै।' 17 रामकली

कबीर का युग टकराव का था—हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के विरोधी भावों के बीच सामंजस्य की अपेक्षा थी, भारत की अस्मिता अक्षुण्ण रखनी थी। कबीर ने वही किया। उपनिषदों से कबीर ने प्रेरणा ली और पौराणिक कल्पनाओं-वादों के विरोध में खड़े हुए। यही उनकी देन है। सूर-तुलसी ने पौराणिकता का सहारा लिया और लोक परम्परा पर वे चले। कबीर 'उलटी चाल मिलै ब्रह्म कौं' (18 रामकली)। कबीर ने लोक वेद को नकारा।

कबीर की मान्यता है जब तक दोनों वर्ण (हिन्दू-मुसलमान) अपनी-अपनी टेक नहीं छोड़ते तक तक समता सद्भाव नहीं। समता-ऐक्य वर्ण गँवाने पर ही सम्भव है—ईश्वर की भाँति 'अबरन' होना ही भक्ति है—'निरपष' बनें :

कबीर हरदी पीयरी, चूना उज्जल भाइ।
राम सनेही यूं मिले, दून्यूं **बरन** गमाइ ॥ 534

काबा फिर कासी भया, राम भया रहीम।
मोट चून मैदा भया, बैठि कबीर जीन ॥ 535

लख्या = लखा (लक्ष्)। **कहि कहि थाके** = कह कह कर (वर्णन करके) थक गए। अन्यत्र भी :

कबीर मारग अगम है, सब मुनिजन बैठे **थकि**।
तहाँ कबीर चलि गया, गहि सतगुरु की साषि ॥ 311

थकना—(275, 311 स्था, स्थित; थक्क) **बानां**<वर्ण।

कबीर झल बांवै झल दाहिणैं, झल ही मांहि ब्यौहार।
आगैं पीछैं झलमई, राखे सिरजनहार ॥ 7 ॥ 601

भावार्थ : कबीर सांसारिक ज्वाला (माया-मोह-लोभ-ईर्ष्या की ज्वाला) की बात बारबार करते हैं । चारों ओर—बाएँ-दाएँ—झल ही झल है, जगत् का ब्यौहार-कर्म माया है । आगे भी आग, पीछे भी आग, यथा 'रुई पलेटी आगि ।' ऐसी विषम स्थिति से करतार ही बचावें ।

झल (सूर, झर)<ज्वाला :

कबीर माया की **झल** जगु जल्या, कनक कामिनी लागि ।
कहु धूं किहि बिधि राखिये, रुई पलेटी आगि ॥ 346

तथा, गोंबिंद मिलै न **झल बुझै**, रही बुझाइ बुझाइ ॥ 347

झलम = झलमयी, झलमय (ज्वालायुक्त) **ब्यौहार**<व्यवहार । सूर, 'गृह ब्यौहार तजे आरज पथ चलत न संक करी ।' 10.659 'ओछनि हूँ ब्यौहार' 1/12

माँहि < मध्य (478) **सिरजनहार** ("कबीर **सिरजनहार** बिन मेरा हितू न कोइ ।" 809

"सिर की सोभा **सिरजनहारा** ।" 32 सोरठि

चांदायन : 'पहलै गावउं **सिरजनहारू** ।' 'सिरजसि धरती औरु अगासू ।' 1 पदमावत

सृज् = निर्माण करना । सूर, 'जग सिरजत पालत संहारत' 10 । 4302

कबीर साईं मेरा बाणियां, सहजि करै ब्यौपार ।
बिन डांडी बिन पालड़ै, तोलै सब संसार ॥ 8 ॥ 602

भावार्थ : कबीर कहते हैं सांसारिक व्यवहार और हमारे स्वामी के व्यवहार में अन्तर है—व्यापारी तराज़ू का सहारा लेता है तौल के लिए (फिर भी उससे भूल चूक होती रहती है) लेकिन ईश्वर-करतार को डाँड़ी-तराज़ू की अपेक्षा नहीं, वह बिना किसी बाह्य साधन-उपकरण के सारे जगत् को तौलता है अर्थात् सांसारिक प्राणियों को उनके कर्मानुसार फल देता है । उसका यह कार्य सहज रूप से होतारहता है ।]

कबीर की शैली जनता की शैली है ताकि प्रत्येक उनके भाव को समझ सके—वणिक् कर्म-व्यापार सृष्टि के प्रारंभ से ही है । डाँडी, पलड़ा तौलना, ब्यौपार आदि प्रयोग ऐतिहासिक-सांस्कृतिक महत्ता के हैं ।

बाणियाँ = वणिक् (= बनिया) = व्यापारी । **डाँड़ी** < दण्ड । **पालड़ा** = पटल ।

सहजि करै ब्यौपार—कबीर-काव्य में 'सहज' का प्रयोग बहुल है यथा, 'सकल पाप सहजै गये (148); सहजि मिलैगा सोइ (274); सहजै सहजै सब गए' (407)

तथा, कबीर सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्है कोइ ।
जिन्ह सहजे हरि जी मिलै, सहज कहीजै सोइ ॥ 408

तथा, कहै कबीर सुख सहज समाऊँ । आप न डरौं न और डराऊँ । 15 गौड़ी

'मानस' में—'चेतन अमल सहज सुख रासी ।' 7.117 तथा 'सहजहिं चले सकल जग स्वामी' (1.255)

'सूर सागर' में—'तजि रही सहज सुवेस' 10.633 'अब रावन घर बिलसि सहज सुख, 9.77 'सहज भजैं नंद लाल कौं सो सब सचु पावै 2.9 'हम मांगत हौं सहज सौं तुम अति रिस कीन्हौ 10.3039 बहुरौ ध्यान सहज ही होई। 3.13 सूर स्याम स्यामा दोउ सहजहिं। 10.1908 सुनहु सूर सहजहिं कीधौं रिस 10.2191 स्याम गह्यौ भुज सहजहीं। 10.3040

सहज में स्वाभाविकता, प्रयासहीनता और तनावरहित का भाव है। प्रेम में, कर्त्तव्य-पालन में सहजता हो तभी सच्चा सुख। सहज के विरोधी हैं आडंबर, तनाव, आदि नकारात्मक भाव। सहज के अभाव में उद्विग्नता, अशांति, विक्षुब्धता। भक्ति-साहित्य सहज जीवन पर बल देता है। संस्कृत वाङ्मय में सहज नैसर्गिक स्थिति या वृत्ति है—'सहजारि', 'सहज मित्र' प्रयोग मिलते हैं पर मध्यकालीन हिंदी भक्ति परक काव्य में 'सहज' का व्यापक प्रयोग है साधना पक्ष में।

तुलसी मर्यादा में बँधे हैं उनकी सीमा राम हैं अतः उनके शब्द-प्रयोग एक विशेष परिधि में ही हैं। उनका सहज का प्रयोग केवल राम के साथ जुड़ा है जबकि सूर धरती के, प्रेम के, जीवन के कवि हैं; उनका 'सहज' क्रोध, तनाव, कृत्रिमता का अभाव है जो प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त करना चाहिए जीवन-सुख के निमित्त। 'रिस' और 'सहजता' परस्पर विरोधी हैं 'सुनहु सूर सहजहिं कीधौं रिस' में यही भाव है। आज के तनावपूर्ण, क्षुब्ध जीवन में चिड़चिड़ापना सहज हो गया है इसके उन्मूलन के लिए हमें अपनी सहज वृत्ति—नैसर्गिक शांति के अनुकूल रहना होगा।

कबीर वार्‍या नांव परि, कीया राई लूंण।
जिसहि चलावै पंथ तूं, तिसहि भुलावै कौंण॥ 9 ॥ 603

भावार्थ : कबीर की भाषा-शैली हमारी सांस्कृतिक स्थिति के अध्ययन में बड़ी सहायक है। राई-नून (टोटका झारने के लिए) आग में डालने का चलन है 'राई नून' उबारने से माना जाता है कि टोटका या नजर का प्रभाव समाप्त हो गया। राई तीक्ष्ण गंध वाला द्रव्य है। चरक काल से यह भूत-प्रेत के भगाने में प्रयुक्त होता रहा है।

कबीर का कथ्य है कि हे सिरजनहार! मैं तो तुम्हारे नाम पर निछावर हूँ अर्थात् मुझे उससे अत्यधिक अनुराग है : मुझ पर कोई टोटका नहीं कर सकता, किसी भी आशंका-भय से बचने के लिए मैंने राई-नून को आग में डालकर अपने को सुरक्षित कर लिया है। फिर मैं तो आपका परम भक्त हूँ मुझे कौन भ्रम में डाल सकता है—'भुलावै कौण' अर्थात् माया मुझे नहीं सता सकती।

'कहै कबीर सब भेख भुलांनां मूल छांड़ि गहि डाला।'

वार्‍या नावंपरि—कबीर ईश्वर के नाम पर अपने को निछावर करते अथवा बलि चढ़ाते हैं अन्यत्र भी—

तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं॥ 44

कबीर का 'वारना' अपने को उस परमात्मा में सहज मिलाना है—अभेद स्थिति। यही 'बलि' का भाव है। निछावर होना, वारना, बलि होना समानार्थी हैं। कबीर अपने जीवन को निछावर करता है अपने प्रभु 'राम' के नाम पर—

'कबीर राम नाम करि बोहड़ा, बाहो बीज अघाइ।' 563
'कहै कबीर हरिनाम न छाड़ूं, सहज होइ सु होइ। 31 सोरठि

आग में राई-नमक डालना बलि का प्रतीक है। वारना (वारयति=रोकता है, वृ) राई नोन आग में डालकर अनिष्ट को रोकना 'वारना' है। 'सूर सागर' में 'कबहुं अंग' भूषन बनावति 'राई लोन उतारि' 12.188 तथा, 'जाकौ नाम कोटि भ्रम टारै तापर राई लोन उतारै।' 10.129

[किसी भी भय-आशंका से सुरक्षाभाव के लिये यह अंधविश्वास आज भी है।]

कबीर ने अपने तन-मन सब को वार दिया है भगवान के नाम पर; सूर भी कहते हैं—सूर स्याम पर तन मन वारति। 10.1597 'वा छबि पर वारति तन कौं' 10. 1930

'वारना' बलिहारी होना है—'बलिहारी गुरु आपणैं द्यौंहाड़ी कै बार।' 2

विनयपत्रिका—'जानकी जीवन की **बलि** जैहौं (104) 'कहहु तात जननी **बलिहारी**' 2/52 मानस। **बलि**=आहुति, भेंट, चढ़ावा। **बलिदान**=देवता को नैवेद्य अर्पण करना। 'बलि' में अर्थ विकास हुआ और भक्तिकाल में यह प्रेमपरक समर्पण के भाव में प्रयुक्त होने लगा।

कबीर करणीं क्या करै, जे राम न करै सहाइ।
जिहि जिहि डाली पग धरै, सोई नवि नवि जाइ॥ 10॥ 604

भावार्थ : रामाश्रित कबीर कहते हैं कि बिना उस करतार, रघुनाथ की इच्छा, उसकी सहायता के कुछ भी संभव नहीं। अतः उसी के सामर्थ्य के प्रति विश्वास—अहंकार से निवृत्त होने पर ही वह सहाय होगा। अतः उसका सतत स्मरण करते हुए कर्म कर 'माम् अनुस्मर युद्ध्य च' (गीता—)। उसकी कृपा बिना कोई भी डाल तुम्हें सहाय नहीं बनेगी उल्टे वह झुक जायगी—अतः आधार उसका होना चाहिए।

मूल राम हैं, डाली अन्य आश्रय—'कहै कबीर सब भेख भुलानां मूल छांड़ि गहि डाला।' कबीर का कथ्य है कि मूल का आश्रय लो भेषधारी डाल का नहीं। सभी संप्रदाय अपने-अपने बाने की ही बात करते हैं—'अपना बानां बाहिया, कहि कहि थाके माइ'। 600 भगवान ही कर्ता हैं 'जो कुछ कीया हरिकीया, तार्थे कबीर कबीर।' 595

कबीर जर्दि का माइ जनमिया, कहू न पाया सुख।
डाली डाली मैं फिर्या, पातौं पातौं दुख॥ 11॥ 605

भावार्थ : कबीर अपना अनुभव बता रहे हैं कि जब से जन्म लिया कहीं सुख नहीं—सुख तो केवल मूल राम के आश्रय में है, डाल पकड़ने में नहीं। जब तक दूसरों से आश्रय पाने के प्रयत्न में था तब तक सुख नहीं मिला, भ्रम-भेद में भूला रहा 'कहै कबीर सब भेद भुलाना, मूल छांड़ि गहि डाला।'

कबीर अंधा नर चेतै नहीं, कटै न संसै सूल।
और गुनह हरि बकसई, कामी डाल न मूल ।। 394

कबीर का कथ्य है कि केवल उस 'रामनाम' से अपने भावों को सींचो—

रामनाम सींच्या अमी, फल लागा बेसास। 575

तथा, कबीर च्यंतामणि मन मैं बसै, सोई चित मैं आणि।
बिना च्यंता च्यंता करै, इहै प्रभु की बांणि ।। 564

'डाली डाली में फिर्‌या पातौं पातौं दुख' का आकूत है कि जिसका भी आश्रय लिया उसके अंग-अंग में दुख भरा है।—ऐसा आश्रय मेरा भला क्या करेगा ? वहाँ तो दुख ही दुख है।

कबीर की भाषाशैली जनपदीय होने से प्रभविष्णु है।

कबीर सांइ सूं सब होत है, बंदै थैं कुछ नाहिं।
राई थैं परबत करै, परबत राई मांहि ।। 12 ।। 606

भावार्थ : कबीर अटूट विश्वास पर बल देते है—जहाँ पूर्ण विश्वास नहीं वहाँ भगवान का आश्रय नहीं। भक्त वही है जो माने कि करतार रघुनाथ (574) जी हैं—वही सिरजनहार, रचनाहार (562) सब करता है। जब तक 'मैं' का भाव है तब तक भला नहीं। अहंकार-आपा का विनाश ही, 'जीवतमृतक' है। वही अलख शक्ति राई को पर्वत और पर्वत को राई करती है। अर्थात् सारी उपलब्धि उसी की देन है—

'जिनि गाया विश्वास सूं तिन राम रह्या भरपूरि। 580

तथा, नां कुछ कीया न करि सका, नां करणें जोग सरीर।
जे कछु कीया सु हरि कीया, ताथैं भया कबीर कबीर ।। 595

तथा, कबीर कीया कछु न होत है, अनकीया सब होइ।
जे कीया कछु होत है, तो करता औरे कोइ ।। 596

कबीर का आशय है अपनी चिन्ता से कुछ सुलभ नहीं, कुछ भी सहज नहीं। उस पर अपने छोड़ दे बस यही कर्त्तव्य है—वह तो अपनों की चिंता करता ही है—

बिन च्यंता च्यंता करै, इहै प्रभु की बांणि।' 564

तथा, 'आ मन च्यंता हरिजी करै, तो तोहि च्यंत न होइ।' 565

वह सिरजनहार ऐसा है कि हम कितने भी असावधान रहें वह हमारी फिक्र करता है— 'साईं मेरा सुलषनाँ सूता देह जगाइ।' 598 कबीर दास है उस समर्थ राम के—'उस सम्रथ का दास हौं कदे न होइ अकाज।' 209 कबीर की भक्ति दास भाव की, सख्यभाव की और प्रेमिकाभाव की है। □

39. कुसबद कौ अंग

अणी सुहेली सेल की, पड़तां लेइ उसास।
चोट सहारै सबद की तास गुरु मैं दास ॥ 1 ॥ 607

भावार्थ : कबीर का बल आत्म-संयम पर है—सहनशीलता एवं तितिक्षा उसी का अंग है। कबीर का कथ्य है कि राम भक्ति में लगे व्यक्ति को कुसबद, कुभाषा अथवा दुर्भाषा से दुःखी न होना चाहिए। दुर्वचन कोई मूर्ख अथवा दुष्ट ही बोलेगा—ऐसी दशा में उस पर क्रोध क्यों? उसे क्षमा करे और उसकी दुरुक्ति पर ध्यान न दे, उससे पीड़ित न हो। भर्तृहरि ने कहा है (2.69) कि दुर्मुख की बात की अवहेलना करे।

कबीर की मान्यता है कि ऐसी सहनशीलता, ऐसा क्षमा-भाव विरले संत में होता है। जो भी ऐसा साधक-सिद्ध हो उसे मैं अपना गुरु मानता हूँ, मैं उसका दास हूँ, वह ईश्वर तुल्य है। 'कुसबद' की चोट सहारना (पंजाबी) = सहना जटिल साधना है। कबीर कहते हैं सेल (शल्य = भाला-बर्छी) की अणीं (नोंक) भीतर घुसकर पीड़ा देती है, उससे पीड़ित व्यक्ति जीवित रह सकता है (पड़तां लेइ उसास) पर किसी दुर्वचन को सहना सुहेल-सहज नहीं, यह मानसिक कष्ट भयंकर होता है।

विवृति : **अणी**<अणि = नोंक **सुहेली**—प्रा० सुहल्ली = सुख, पुरानी गु० सुहिलउ< सुख अप० सोहलउ = सुखकर। (विरोधी **दुहेली**—भगति दुहेली 676, 677, 678 <दुःख) **सेल**<शल। पदमावत 'बरिसै सेल मांसु होइ कांदौ।' 518 **सहारना** (पं० सहारना = सहना<*सहकार = सहायता) **सबद** (= शब्द; प्रसंग कुसबद का है।) **पड़ता लेइ उसास** = पड़े-पड़े सांस लेता है। **चोट सहारै** (सोरठा 23) **चोट**<चुट्।

खूंदन तौ धरती सहै, बाढ़ सहै बनराइ।
कुसबद तौ हरिजन सहै, दूजै सह्या न जाइ ॥ 2 ॥ 608

भावार्थ : भक्त की पहचान है धीरता, सहनशीलता—कुशब्द, (गाली, झिड़की, अपमान) का सहना व्यावहारिक जीवन में वैसा ही कठिन है जैसा क्रोध के वेग को रोकना। किसी भी स्वाभिमानी व्यक्ति को किसी अहंकारी द्वारा किया गया अपमान-तिरस्कार सहन नहीं हो सकता – पर यदि कुशब्द का उत्तर कुशब्द से दिया जाय तो बात बढ़ती है और उस द्वन्द्व में दोनों की हानि ही होगी। कबीर का कथ्य है कि राम-भक्त को अपनी वाणी को वश में रखना होता है वह दुर्वचन सह लेगा-प्रत्युत्तर न देगा। 'हरिजन' उद्वेगरहित होता है। जैसे पृथ्वी सबके रौंदने को सहती है, जैसे वनराजी कुल्हाड़ी-आरा का काटना-चीरना सहता है उसी प्रकार संत कुसब्द की चोट सहता है।

खूंदन (451) बाढ़ < वर्ध् = काटना, वर्धन) धरती < धरित्री । सहै (473)

कबीर सीतलता तब जाणियें समिता रहै समाइ ।
पष छांड़ै निरपष रहैः सबदि न दूष्या जाइ ।। 609

भावार्थ : कबीर आध्यात्मिक शांति-आनंद का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं जो भी चित्त में उद्वेग उत्पन्न करे उसे दूर रहे—कुसबद मन को अशांत करता है अतः उसे सहना—क्रोध को पीना—ही उचित है । समत्व ही शांति का मूल है । किसी सांसारिक पक्ष का आग्रह हठ है—सत्य दूर हो जाता है ।

कबीर हरदी पीयरी, चूना उज्जल भाइ ।
राम सनेही यूं मिले दून्यूं बरन गमाइ ।। 534

कोई कुसबद कहता है तो उसकी मानसिक स्थिति को जानना अपेक्षित है तभी न्याय होगा अन्यथा प्रत्युत्तर में क्रोध स्वाभाविक है ।] **'समिता'** समत्व ही शीतलता-सुख-आनंद है—'समत्वं योग उच्यते ।' **'समिता रहै समाइ'** अर्थात् किसी भी आवेग में विचलित न हो, शांति-प्रसन्नता को किसी भी दशा में न छोड़े--सदा भीतर की शान्ति में निवास करे । तुल०

कबीर पष ले बूड़ी पृथमी, झूठे कुल की लार ।
अलष बिसार्‌या लेष मैं, बूड़े काली धार ।। 457

'सीतलता' (साखी 495) । तुल० वैराग्य संदीपनी :

जो कोइ कोप भरै मुख बैना । सन्मुख हते गिराशर पैना ।
तुलसी तऊ लेस रिस नाहीं । सो सीतल कहिए जगमाहीं ।। 49

समिता = समता (भ्रम-द्विविधा से रहित शांति-सीतलता की स्थिति) :

'इक कथि कथि भरम लगावै, **समिता** बस्त न पावै ।' 15 सोरठि

दादू— '**समिता** कै धरि सहज मैं, दादू दुबिध्या नांहि ।'

तुलसी— 'तुलसी यह मत संत को बौलै **समता** माहि । 13 वैराग्य सं०

कबीर सीतलता भई, पाया ब्रह्म गियान ।
जिहि बैसंदर जग जल्या, सो मेरे उदिक समान ।। 4 ।। 610

भावार्थ : कबीर ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मा के चीन्हने की बात कर रहे हैं—कहते हैं मनुष्य सांसारिक ज्वाला में शीतलता तभी प्राप्त कर सकता है जब वह समता ग्रहण करे, समता में निवास करे, पूरी आस्था से भगवान में प्रीति करे । सांसारिक आसक्ति (माया) ही वैश्वानर है । कबीर अपने को त्रिताप में जल समान मानते हैं ।

कबीर अग्नि और जल के माध्यम से सांसारिक ताप और ब्रह्मज्ञान की शीतलता को सुबोध कर रहे हैं । मनुष्य को उदिक (सं० उदक) समान रहना है, उद्वेगपूर्ण जीवन व्यर्थ है । कुसबद सुनने पर भी समत्व न त्याग करे । **समता** जल है जिसके कारण मनुष्य उद्वेग-रहित जीवन जी सकता है । क्रोध पीना सबसे कठिन है पर ब्रह्मज्ञानी अथवा समता में समाया व्यक्ति किसी की कटुवाणी से व्यथित नहीं होता । जल में रहना अर्थात् ब्रह्म के साहचर्य में रहना यथा :

कहै कबीर जे उदिक समान । ते नहीं मुए हमारे जान । 64 गौड़ी

अग्नि नकारात्मक भावों का और जल रचनात्मक भावों का प्रतीक है । ☐

40. सबद कौ अंग

कबीर सबद सरीर मैं, बिन गुण बाजै तंति।
बाहरि भीतर भरि रह्या, ताथैं छूटि भरति ॥ 1 ॥ 611

भावार्थ : कबीर सबद (= ब्रह्म अथवा ब्रह्म ज्ञान की ध्वनि) का परिचय देते हुए कह रहे हैं—यह ब्रह्म ज्ञान का शब्द अथवा गुरु का सबद हमारे पूरे घट अथवा हृदय में सतत ध्वनित होता रहता है यद्यपि यह ध्वनि (अनाहत) बिना गुण (तंत्र वाद्य का साधन तार) बजती है अर्थात् यह सबद बिना किसी बाह्य साधन के होता है। इस ब्रह्मज्ञान से ही सारी भरंति (भ्रांति) छूट गयी है—सारी दुविधा, सारा द्वैत मिट गया है। सरीर = तन, घट। सबद = ब्रह्म, हरि, रामनाम की धुनि।

विवृति : बाहरि भीतर भरि रह्या :

कबीर घटि बंधि कहीं न देखिए, **ब्रह्म रह्या भरपूरि।**
जिनि जान्यां तिनि निकट है, दूरि कहैं ते दूरि ॥ 705
कबीर जे जांण्या हरि दूरि है, **हरि रह्या सकल भरपूरि।**
आप पिछाणैं बाहिरा, नेड़ा ही थैं दूरि ॥ 766
कबीर राम नाम तिहुँ लोक में, **सकल रह्या भरपूरि।**
यह चतुराई जाउ जलि, खोजत डोलैं दूरि ॥ 768
कबीर **साईं तन में बसैं, भ्रम्यौ** न जाणैं तास।
कस्तूरी के मृग ज्यूं, फिरि फिर सूंघै घास ॥ 763

भ्रांति—अर्थात् ईश्वर को घट के भीतर न खोजकर बाहर ढूँढ़ना जैसे मृग के शरीर में ही कस्तूरी है पर भ्रमवश वह घास-घास में उस सुगंध को सूँघता-ढूँढ़ता फिरता है। अर्थात् जिसे सत्य का बोध नहीं अथवा जिसने ब्रह्म को नहीं जाना-पहचाना वही भ्रमित होता है—उसे जानते ही सब भ्रम-संदेह मिट जाता है।

शरीर में ईश्वर की अनुभूति तभी संभव है जब वह दर्पण की भाँति निर्मल हो (613) अथवा काम क्रोध-तृष्णा से मुक्त हो (97)।

सती संतोषी सावधान, सबद भेद सुबिचार।
सतगुरु के प्रसाद थैं, सहज सील मतसार ॥ 2 ॥ 612

भावार्थ : कबीर सबद के भेद (रहस्य, तत्त्व) या सुविचार को जाननेवालों में तीन का नाम गिनाते हैं—सती, संतोषी और सावधान (जो ब्रह्म ज्ञान को पूँजी को गांठ से न खिसकने दे, सा० 559)। कबीर की दृष्टि में सबद ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग है सहज सील (शील = आचरण) जिससे हृदय दर्पण सदृश निर्मल होता है। हृदय की

यह पवित्रता गुरु कृपा और उसके सबद से ही संभव है। अर्थात् गुरु प्रसाद का फल है घट-शुद्धि और उसका फल है ब्रह्मानुभूति। यही सुविचार सबद-भेद है।

विवृति : **सील**<शील = आचरण '**शीलं परम् भूषणम्** भर्तृ०। शील नैतिकता पूर्ण, ईमानदारीपूर्ण जीवन है। कबीर के अनुसार शीलवान् होना ही जीवन की सफलता है। कबीर ने **सती** का उदाहरण उसके सत्प्रधान जीवन के कारण दिया है। **संतोषी** भी आदर्श है—संतोषी वही है जो प्रसन्न हो, जो अभाव में भी सुख की अनुभूति करे जो लोभरहित हो। सुभाषित है '**सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम्।**' **सावधान** को भी कबीर सुविचार और सीलवाला मानते हैं सावधान अर्थात् सतर्क, सचेत, दत्तचित्त। कबीर का आशय है कि जो अवधानपूर्वक अपनी साधना में सतत लगा हो, जिसका मन चंचल न हो,

'कहै कबीर अब सोवौ नाहिं। राम रतन पाया घट माँहि।' (27 भैरू')

तथा, सुख (विषय सुख) नींदड़ी न सोइ। (255)

जो चेतनता युक्त हो अर्थात् जिसमें 'अवेयरने।' हो नकारात्मक भावों के आक्रमण के प्रति। अथवा सकारात्मक भाव 'पाजि़टिव थिंकिग' और सर्जनात्मक विचारों कार्यों से युक्त हो। यही सावधान रहना है।

कबीर सतगुर ऐसा चाहिये जैसा सिकलीगर होइ।
सबद मसकला फेरि करि, देह द्रपन करै सोइ॥ 3 ॥ 613

भावार्थ : कबीर गुरु के महत्त्व को बताते हुए कहते हैं कि उसी के प्रसाद, उसी की कृपा से मनुष्य का मन निर्मल होता है और वही ईश्वर की कृपा का अधिकारी बनाता है। दर्पण की स्वच्छता आदर्श मानी जाती है इसीलिए कबीर कहते हैं कि गुरु सिकलीगर (कलई करनेवाला) सदृश है जो साधक के देह (शरीर-घट अथवा मन) को सबद (ब्रह्मज्ञान) से कल्मषरहित करता है—मन की कालिमा अथवा उसके विकारों को मिटाता है। मसकला—शीशे को दर्पण (आईना) बनाने के लिए लगाया गया मसाला। **मसकला फेरना**—मुहावरा।

विवृति : **देह** केवल शरीर नहीं है वरन् यह शरीर का बाहरी और भीतरी भाग दोनों है। देह को दर्पण करना अर्थात् मन को इतना स्वच्छ बनाना कि उसमें अपना गुण-दोष दिखाई पड़ सके। '**परगट्ट कंथा माँहै जोगी, दिल मैं दरपन जोवै।** अर्थात् मन दर्पण सदृश अवदात हो ताकि उसमें ब्रह्म को—ब्रह्म प्रकाश को—जोहा (देखा) जा सके।

कबीर सतगुर सांचा सूरिवां, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही भ्वैं मिलि गया, पड़्या कलेजे छेक॥ 4 ॥ 614

भावार्थ : कबीर सतगुर के सबद की महिमा बता रहे हैं—सतगुरु का शब्दबाण निष्फल नहीं होता—एक ही बाण साधक के हृदय को वेध देता है और और वह आहत होकर (बाण की चोट से) भूमि पर गिर पड़ता अथवा भूमि से मिल जाता है। अर्थात्

उसके मन में ईश्वर के विरह की ज्वाला (दावाग्नि) जल उठती है। कबीर का सबद ब्रह्मज्ञान का वाचक है। गुरु पथप्रदर्शक है, वह परम्परा से, पुरातन ज्ञान से जोड़ता है वह कड़ी है शिष्य को अध्यात्म से जोड़ने की। सतगुरु सच्चा शूर है–शूर् = शौर्य के कार्य करना। शूरवीर पराक्रमी सूरमा है। शूर सतगुर के सबद (शब्द) घायल कर देते हैं साधक को और घायल होना श्रेयस् है–भक्तिमार्ग म। (यही साखी 7 भी है)। तु०

सतगुर मार्‌या बाण भरि धरि करि सूधी मूठि।
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूटि॥ 8

कलेजै छेक = भीतर भिद्या (9) **छेक**<छिद्। **बाह्या**, वह् = बहना, **वाहयति** = हाँकता है, चलाता है। (6.7) **लागत**<लग्, लगति, लग्न = लगना, चिपकना, जुट जाना (617)

हरि राम जे जन बेधिया, सर गुण सींगणि नांहि।
लागी चोट सरीर में करक कलेजे मांहि॥ 5॥ 615

भावार्थ : कबीर सबद (ब्रह्म रस) की महत्ता वर्णन करते हुए कहते हे यह सबद-बाण ऐसा है कि यह बिना सिंजनी (धनुष की डोरी) के लगता है—अर्थात् यह बाण प्रत्यक्ष नहीं पता लगता पर इसकी चोट अचूक है। व्यक्ति हरि रस के लिए व्याकुल हो उठता है—उसके सरीर (मन) पर चोट लगती है और उसकी पीड़ा कलेजे में करकती रहती है। (तुल० 6, 7, 8)

सींगणि<शिञ्जिनी = धनुष की डोरी। **सर**<शर। **गुण** = डोरी। **बेध**< विध् = वेधना, घायल करना।

मारया है जे मरैगा, बिन सर थोथी भालि।
पड्‌यो पुकारै ब्रिछ तरि, आजि मरै कै काल्हि॥ 141
राम रसाइन प्रेम रस पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है माँगै सीस कलाल॥ 172

हरि रस की चाह मुमुक्षु का लक्ष्य है। किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कबीर का अनुभव सटीक है—लक्ष्य के लिए मृत्यु की बाजी लगानी पड़ती है।

ज्यूँ ज्यूँ हरि गुण सांभलू, त्यूँ त्यूँ लागै तीर।
सांठी गांठी झड़ि पड़ी, भलका रह्या सरीर॥ 6॥ 616

भावार्थ : कबीर लक्ष्य के सतत सुमिरन पर बल देते हैं—हरि रस अथवा हरि गुण का प्रेमी उस परम तत्त्व के लिए व्याकुल रहता है जितना ही वह उसका ध्यान करता है उतनी ही उसकी कसक बढ़ती है। 'लागै तीर' अर्थात् गुर सबद का तीर उसके कलेजे में कसकता रहता है। कबीर कहते हैं वह तीर दिखाई नहीं पड़ता—उसकी साँठी तो विनष्ट हो गयी पर उसकी चोट (सुमिरण सेल = सुमिरन तीर 653) शरीर (मन) पर अमिट है तु० 6। **भलका** < भल्ल = एक प्रकार का शल्य (साँग, बर्छी, बाण) तुल०

जब लग साँस सरीर मैं तब लग राम संभार। 412

संभारना (संभालू)<सम्भालयति प्रा० संभलइ अथवा संस्मृ=स्मरण करना, संवरना। ज्यूं (471) त्यूं (तत्)। ध्येय का सतत सुमिरन जैसे रंक अपने धन को सहेजता रहता है—'सुनु सठ सदा रंक के धन ज्यौं छन-छन प्रभुहि संभारहि।' 85 विनय०

ज्यूं ज्यूं हरि गुण सांभलौं, त्यूं त्यूं लागै तीर।
लागैं थैं भागा नहीं, साहणहार कबीर ॥ 7 ॥ 617

भावार्थ : कबीर का कथ्य है कि हरि भक्त शूर होता है—वह भगवान के विरह के सारे कष्टों को झेलता है, उसके सुमिरन से विरहाग्नि और प्रज्वलित होती है—उस विरह बाण को वह प्रसन्नतापूर्वक सहता है। ध्येय प्राप्ति के लिए वह मैदान से भागता नहीं। भक्त का आनन्द हरि रस में है इसलिए वह 'सुमिरन सेल' (653) सहता है।

कबीर पहले भक्त हैं बाद में कुछ और उनका काव्य हरिरस, हरिगुण, हरि चरित, हरि सुमिरन का है। कबीर की पूंजी राम हैं उसी को वे सहेजते रहते हैं। हरि प्रतीक हैं सकारात्मक-निर्माणात्मक भावों के।

लागै थैं=लगने से; लग् (614)। **भागा**<भज्, भाजयति (76, 437, 461) **साहणहार**=सहनेवाला।

ज्यूं ज्यूं, त्यूं त्यूं=जैसे जैसे, तैसे तैसे।

सारा बहुत पुकारिया, पीड़ पुकारै और।
लागी चोट सबद की, रह्या कबीरा ठौर ॥ 8 ॥ 618

भावार्थ : कबीर की दृष्टि में महत्त्व है घायल शूरवीर का जो रण छोड़कर भागता नहीं। अस्त्र चलाना बहादुरी नहीं है। कबीर अपने को घायल (गुरु के सबद-बाण अथवा हरि प्रीति से) मानते हैं। कबीर कहते हैं जो हरि सुमिरन में लगा है—'सुमिरन सेल' (653) से जो घायल है वह चुपचाप अपने स्थान पर पड़ा रहता है उसे 'खेत में पड़ने' (660) का ही सुख है। कबीर कहते हैं कि सारा (लौहास्त्र चलाने वाला) अपने ढंग से ललकारता है और पीड़ (घायल) अपने ढंग से अपने राम को याद करता है। उसे तो सबद-बाण की चोट लगी है और वह उस चोट से सतत जागरूक है (667) राम सुमिरन के लिए। 'रह्या कबीरा ठौर'=घायल कबीर अपने स्थान पर पड़ा है 'जीवत मृतक'। 'लागी चोट सबद की'=परम की चोट (668) :

या बड़बिथा सोई भल जानै राम विरह सर मारी।
कै सो जानै जिनि यहु लाई, कै जिनि चोट सहारी ॥ 23 सोरठि

मन भया मगन प्रेम सर लागा।' 23 सोरठि

41. जीवत-मृतक कौ अंग

कबीर कहना चाहते हैं कि इस संसार से मोक्ष का एक ही उपाय है जगत् की आसा छोड़ना, जगत् से विरक्त रहना, विषय-वासनाओं के प्रति उदासीन अर्थात् जगत् से विमुख-उल्टा। जैसे मृतक व्यक्ति को किसी से लगाव नहीं उसी प्रकार संसार से व्यवहार करना। गीता के शब्दों में इसे **अनासक्ति** कह सकते हैं। संसार से अनासक्त और ईश्वर से आसक्त, यह है पारमार्थिक जीवन। जहाँ काम है, इच्छा है, आशा है वहाँ ही दुःख। आशातीत बने—'तजै जगत् की आस'। जगत् माया है, असत्य है, इसलिए इससे क्या आशा ? तन नश्वर है इससे क्या आशा ? आशा केवल राम की—

'कबीर राम स्वारथी छांणी **तन की आस**'।

"अब मेरे दूजा कोइ नहीं **एक तुम्हारी आस**'। 576

मन की मनसा (275, 353) इच्छा ही मूल कारण है बन्धन का इसलिए '**आसजीत**' होना होगा उस अविगत से एकमेक होने के हेतु—यही 'जीवत मुकति' है।

कबीर मैमंता अविगतरता, अकलप **असाजीत**।

राम अमलि माता रहै, **जीवत मुकति अतीत**॥ 176

जो 'जीवत मृतक' रहेगा वही 'आसा जीत' होगा। दुनिया के धोखे में न रहे—

कबीर **दुनियां के धोखै** मुवा, चलै जु कुल की काणि। 256

अतः, **आसा का ईंधन** करौं, मनसा करौं विभूति। 275

तब 'आवागमन', 'जामन मरण' से छुटकारा।

कबीर जीवत मृतक ह्वै रहै, तजै जगत की आस।
तब हरि सेवा आपण करै, मति दुख पावै दास॥ 1 ॥ 619

भावार्थ : कबीर 'राम अधार' होने की प्रेरणा दे रहे हैं—उनके आश्रित रहने पर वह चिंता करेगा भक्त की। दुनियाँ का भरोसा करने पर वह सहाय नहीं होगा। साईं तो सेवक है अपने जन का। जैसे पतिव्रता की चिंता भर्तार को होती है उसी प्रकार उस 'बिसंभर' को भक्त के योगक्षेम की—कहीं उसका भक्त दुःखी न रहे। गीता में भगवान ने यही ज्ञान दिया अर्जुन को 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' अथवा 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' वह 'अशरणशरण' है—'असरन सरन दीन जन गाहक' मानस० 7.51 वह 'दीनानां कल्पवृक्षः।' 'दास' वही होगा जो दीन होगा। स्वामी का धर्म है 'दास' का ध्यान रखना। कबीर-और राम का सम्बन्ध सेवक और स्वामी का है, पुत्र-पिता का है, और पतिव्रता-पति का है। कबीर भगवान का गुणगान कर रहे हैं—'जाति जुलाहा मति का धीर, सहजि सहजि गुन रमै कबीर।' कबीर-सूर-तुलसी

सभी ईश्वर के गुणगान में रमते हैं—उनके नाम की रट लगाते हैं। सारे भक्त मानते हैं वह 'गुणनिधि' है साथ ही निर्गुण भी। कबीर राम के गुणों के भक्त हैं भले ही निर्गुनी संत हों। 'कबीर च्यंता न करि साईं है संम्रथ।' (568) तथा 'हरि बिन अपना को नहीं।' (594)।

कबीर मन मृतक भया, दुरबल भया सरीर।
तब पैंड़े लागा हरि फिरै, कहत कबीर कबीर ॥ 2 ॥ 620

पाठान्तर : कबीर मन निरमल भया जैसा गंगानीर।

भावार्थ : कबीर के 'मन मृतक' होने का भाव है का मन का विषय विमुख होना—जब तक मन की चंचलता है तब तक विष-विषय की ओर भागता रहेगा वह। इसलिए मन को मारे। मन की निर्मलता अनिवार्य है भक्तिमार्ग में। गंगा जल पवित्रता का प्रतीक है। कबीर मानते हैं मनुष्य मूलतः 'निरमल बूंद अकास की पड़ि गई भोमि बिकार' (463)—जीव और ईश्वर में अद्वैत भाव है भेद नहीं। कबीर इसी निर्मल भाव को प्राप्त करने पर बल देते हैं। यह निर्मलता कैसे प्राप्त हो ? 'भूमिविकार' (विषय-वासना) छोड़ने पर ही निर्मलता। विषय नकारात्मक-विनाशात्मक भाव है सकरात्मक भाव है हरिनाम—बार बार मन को उस 'चरण कमल' में लगाना होगा : 'कबीर निरमल हरि का नांव सों कै निरमल सुध भाइ (शुद्ध भाव) 635। शुद्धभाव ही निर्मलता है। यदि मनुष्य शुद्ध भाव नहीं ग्रहण करता—सकारात्मक, निर्माणात्मक चिंतन नहीं करता तो नकारात्मक भाव उसका स्थान ले लेंगे फिर उनसे मुक्ति नहीं 'ह्वै लै दूणी कालिमा भावै सौ मण साबण लाइ' (635)। विषय विष है कालिमा है, दुर्गंध है। इस कालिमा से उबरने के लिए हरिनाम को न भूलें।

'पैंड़े लागा हरि मिलैं—।' का आशय है निर्मल मन होने पर ईश्वर की प्राप्ति—उनसे एकमेक। जब अद्वैत हो गए तो फिर उनके हो गये अथवा वही हो गये—सर्वत्र उसी का दर्शन, सब में एक वही। 'पैंड़े लगना'=पैंड़े में साथ लगना। जब हम उसको अपने साथ मानते हैं तो फिर वह 'कबीर कबीर' पुकारेगा ही—जो उसको सुमिरेगा उसे वह सुमिरेगा। हम जो सोचते हैं वही हो जाते हैं—'कहै कबीर जो राम कहैगा। बिगरि बिगरि सो रामहि ह्वै ला' (13 सोरठि) तथा, 'गंगा मैं जो नीर मिलैगा। बिगरि बिगरि गंगोदिक ह्वै ला) 13 सो०। 'कबीर' यहाँ प्रतिनिधि हैं पूरे हरिजनों का। भक्त—भगवान का यही संबंध है। 'भक्त भगवंत निरंतर अंतर नहीं वदति इति अमलमति दास तुलसी।' कबीर और तुलसी की भक्ति-पद्धति में कहाँ है अन्तर ? कबीर और राम के बीच यहाँ सखा भाव है—कबीर राम-राम कहते हैं राम कबीर-कबीर।

पैंड़ा (<पद-दण्ड, 328)। जीवन के दो मार्ग हैं एक हरि का दूसरा माया का एक 'निर्मलता' का दूसरा 'कालिमा' का, एक 'पाजिटिव' दूसरा 'निगेटिव'—चुनाव आप को करना है। अगर आप ने हरि का मार्ग नहीं पकड़ा तो माया के शिकार होंगे :

कबीर त्रिया त्रिस्नां पापणी, तासौं प्रीति न जोड़ि।
पैंडे चढ़ि पाछा पड़ै, लागी मोटी खोड़ि ॥ 328

भगवान, दास का रक्षक-हितूआ है—'मति दुख पावै दास' (619) यह उनका बाना है, इसीलिए वे सेवक के पीछे-पीछे लगे रहते हैं।

कबीर मरि मड़हटि रह्या, तब कोई न बूझ्या सार।
हरि आदरि आगैं लिया, ज्यूं गउ बछ की लार ॥ 3 ॥ 621

भावार्थ : कबीर सार तत्त्व (हरिभक्ति) जानने-बूझने पर बल दे रहे हैं। मनुष्य अंतिम क्षण तक—मरघट में पहुँचने तक—सार को नहीं बूझता। बूझने का अर्थ है विवेक का उत्पन्न होना—संसार को असार और ईश्वर के सार को समझना, 'कबीर बैस्नों भया तो का भया बूझ्या नहीं बमेक।' 452

'तब कोई न बूझया सार' का आशय यह भी हो सकता है कि जब मनुष्य श्मशान पहुँच जाता है तब उसकी सार-सँभाल करने के लिए कोई नहीं पहुँचता केवल हरि ही उस समय प्रेम-आदर से मनुष्य को अंगीकृत करते हैं—तन की सार (174)

भगवान का शील : आदर-प्यार के साथ भक्त को अपनाना जैसे गऊ अपने बच्चे को प्यार करती है। लार<लल् = प्यार करना (317,424) मनुष्य को चाहिए कि वह 'झूठे जग की लाल' (424) अथवा माया के लाड-प्यार (317) में न फँसे। गऊ और बच्छ<वत्स का संबंध है करता (ईश्वर) और भक्त में। यहाँ माँ-संतान का संबंध है ईश्वर और भक्त में। कबीर और राम के बीच हरएक नाता है। कबीर कहाँ है मात्र निर्गुणवादी ?

कबीर घर जालौं घर ऊबरै, घर राखौं घर जाइ।
एक अचंभा देखिया, मड़ा काल कूं खाइ ॥ 4 ॥ 622

भावार्थ : कबीर का बल 'जीवत मृतक' पर है अर्थात् मैं-मेरा, आपा मिटावे तब भक्ति सम्भव है। यह सारा शरीर (पंचतत्त्व) के कारण है अतः जीते हुए मृतक। भवसागर में माया का राज्य है। उसके प्रलोभन से बचना ही कालातीत होना है, जीवत-मृतक होना है। जो जीवित रहते मृतकवत् रहे वही संत है—उसे काल का भय नहीं।

'घर जालौं घर ऊबरै' में यही भाव है—पहला घर पंचभौतिक शरीर और उससे सम्बन्धित अहंकार, माया, मोह।

दूसरा 'घर' आत्मा या परमात्मा है। माया और ईश्वर में विरोध है—'जहाँ काम तहँ राम नहि, जहाँ राम नहि काम।'

संसारी व्यक्ति इस शरीर की रक्षा में चिन्तित रहता है और संत 'पर' की रक्षा में। एक प्रेय का मार्ग, दूसरा श्रेय का। तुल०

कबीर आपा मेट्या हरि मिलै, हरि मेट्या सब जाइ।
अकथ कहाणी प्रेम की, कह्या न को पत्याइ॥ 628

कबीर जीवन थैं मरिबो भलो, जौ मरि जाणैं कोइ।
मरनैं पहले जे को मरै, तो कलि अजरावर होइ॥ 626

कबीर ऐसा कोई नां मिलै, अपना घर देइ जराइ।
पंच लरिका पटकि करि, रहै राम ल्यौ लाइ॥ 639

पंचतत ले कीन्ह बंधानं पाप पुनि मान अभिमानं।
अहंकार कीन्हे माया मोहू संपति विपति दीन्हीं सब काहू। रमैणी

मरता मरतां जग मुवा, औसर मुवा न कोइ।
कबार ऐसै मरि मुवा, ज्यूं बहुरि न मरनां होइ॥ 5 ॥ 623

भावार्थ : कबीर अपने को 'जीवत-मृतक' मानते हैं—वे माया से मुक्त हैं यही 'मरना' है। कबीर मानते हैं क्रोध-लोभ-मोह-मद-काम शरीर से आसक्ति के फल हैं। मनुष्य यदि जीवित रहते यथासमय मृतकवत् रहना सीख जाय तो वह आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जायगा। **औसर मुवा न कोइ**=समय रहते जिसने वैराग्य न लिया अथवा जो ईश्वर से लौ न लगा सका। स्वाभाविक ढंग से तो अवसर (समय) आने पर काल के ग्रास सब होते हैं पर काल-पाश, यम की पाश (आवागमन) से मुक्त होने के लिए शरीर-सुख के पीछे न भागे, आत्म-सुख का यत्न करे। मनुष्य वही है जो सद्‌गुणों, उदात्त भावों का धनी हो। माया बटोरने से शान्ति नहीं—इसी लिए जीवतमृतक रहे।

कबीर राम की लौ में हैं—उनकी प्रीति संसार से नहीं। इसीलिए अपने को 'मरिमुवा' अर्थात् 'ऊबरे' मानते हैं।

वैद मूवा रोगी मूवा, मूवा सकल संसार।
एक कबीरा ना मुवा, जिनके राम अधार॥ 6 ॥ 624

भावार्थ : कबीर का कथ्य है कि जीवन उसी का सार्थक है अथवा जीवन वही है जो पारमार्थिक हो—जो सत्याग्रही हो, जो राम के भरोसे हो अर्थात् जो सद्‌गुणों में आनन्द लेता हो। राम का विरोधी है स्वार्थ, विषयभोग, मैं-मेरा का भाव। रामअधार अर्थात सत्य जिसका आधार हो जो मूल को न छोड़े। रामअधार के अतिरिक्त चाहे वह कितना भी गुणी-समर्थ हो वैद्य की तरह और कितना भी दीन-दुःखी हो रोगी की भाँति सुखी नहीं रह सकता। वैद्य और रोगी दोनों मुवे कहकर कबीर कहते हैं कि मृत्यु से कोई नहीं बचता—मृत्यु पर विजय उसी की है जो जीवत ही मृतक रहे। 'राम-अधार' का भाव है चातक की भाँति केवल उसी की टेक 'त्वमेव चातकाधारः'—भर्तृहरि। अर्थात राम ही को जाने दूजा नहीं।

कबीर मन मार्‌या ममिता मुई, अह गई सब छूटि ।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूति ॥ 7 ॥625

भावार्थ : कबीर 'मृतक' के भाव को स्पष्ट करते हैं। आत्म-साक्षात्कार में बाधक है—'मैं मेरा,' 'ममता', 'माया', अभिमान—ये सभी नकारात्मक भाव विरोधी हैं सर्जनात्मक विचार-धारा के। इसलिए ये रामविरोधी हैं, सत्य-सुन्दर-शिव के विरोधी हैं। इन कुभावों के मिटने पर ही ईश्वर की अनुभूति—सर्वत्र उसी का रूप। ऐसी भावना रखनेवाला ही योगी है—वह सतत राम में रमता अथवा लौ लीन रहता है। बाह्य रूप से केवल उसकी विभूति दिखाई पड़ती है। ब्रह्माग्नि अथवा विरहाग्नि में मैं मेरा का भाव राख हो गया।

रमि गया—रम्=लीन होना; राम में रमना, ब्रह्म में समाना—मन निर्मल होते ही ब्रह्मलीन :—

झल उठी झोली जली खपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूति ॥ 116

ब्रह्म अगिनि मैं जली जु ममिता पाषंड अरु अभिमाना।
काम चोलना भया पुरानां मोपै होइ न आना ॥ 20 सोरठि

जब लगि मनहिं बिकारा, तब लगि नहिं छूटै संसारा।
जब मन निर्मल करि जाना, तब निर्मल माहिं समाना ॥

ब्रह्म अगनि ब्रह्म सोई, अब हरि बिन और न कोई ॥ 2 सो०
राम रमत भौ तिरिबौ पार। 17 बसंत।

कबीर जीवन थैं मरिबौ भलौ, जो मरि जाणैं कोइ।
मरनैं पहले जे को मरै, तो कलि अजरावर होइ ॥ 8 ॥ 626

भावार्थ : मरने के पहले मृतक बने अर्थात् ममता, मैं-मेरा से मुक्त हो, पाषंड—अहंकार से छुटकारा हो तब मनुष्य को काल का भय नहीं—वह अजर-अमर है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए 'जैसी कहै, करै जो तैसी ता तिरत न लागै बारा।' कथनी एक हो, मन निर्मल हो तो ब्रह्माग्नि उत्पन्न होगी और मनुष्य ममतामुक्त होगा। कबीर जीवन-मृत्यु में आध्यात्मिक भेद करते हैं—जगत की, तन की आसा छोड़ना और एक उसी रघुनाथ के सहारे रहना सम्यक् जीवन है अन्यथा इससे भला है मरना—'जीवन मिरतक ह्वै रहे तजै जगत की आस' (619), 'अब मेरे दूजा कोइ नहीं, एक तुम्हारी आस।' (576) 'जो मरि जाणैं कोइ' अर्थात् मरने की प्रक्रिया बड़ी जटिल है—स्वार्थ-आपा-मैं मेरा दूर करना होगा, 'आसा-पास' से मुक्त होना होगा, एक उसी को जानना होगा दूजे को नहीं—'पंचपियादे पाकर कै दूरि करै सब दूज' (635) पंचपियादा =पंचतत्त्व, (तन) से आसक्तिरहित होना मृतक होना है। **अजरावर होइ**=जीवन-मृत्यु (आवागमन) से छुटकारा 'जीव अछत जामैं मरै, सूषिम लखै न कोइ।' (3.4)

सूक्ष्म का, आत्मा का साक्षात्कार होने पर मन की वासना मृत हो जाती है—वासना ही कारण है, आवागमन का। 'दादू मन की वासना नरक पड़े फिरि आइ।'

कबीर खरी कसौटी राम की, खोटा टिकै न कोइ।
राम कसौटी सो टिकै, जो जीवतमृतक होइ ॥ 9 ॥ 627

भावार्थ : कबीर कहते हैं अध्यात्म मार्ग पर, राम भक्ति पर टिकना बड़ा कठिन है—यहाँ खोटाई (चतुराई, सयानापन, आसक्ति) नहीं टिकती। खरा-खोटा अर्थात् सत्य और मिथ्या। जो सांसारिक माया में उलझे वह खोटा है और जो संसार में रहकर भी उससे अनासक्त है—विषयों के प्रति मृतक है—वह खरा है। इस पंचतत्त्व का मोह ही खोटाई है—तन की चिंता छोड़कर परमतत्त्व सत्य के साथ जुड़े यही खरापन है। खोटे—दूषित—विचारोंवाला व्यक्ति राम की कसौटी पर नहीं टिक सकता।

खरी (409), खोट < *खोटि। कसौटी < कषपट्टिका। टिकना = खरा उतरना।

'जो रिझऊं तौ महाकठिन है, बिन रिझयें थैं सब खोटी। 54 गौड़ी
'सदा धर्म जाकै हिय बसई, राम कसौटी कसतै रहई।'

कबीर आपा मेट्या हरि मिलै, हरि मेट्या सब जाइ।
अकथ कहाणीं प्रेम की, कह्या न को पत्याइ ॥ 10 ॥ 628

भावार्थ : 'आपा' और 'हरि' एक दूसरे के विरोधी हैं। आपा = अहंभाव, मैं मेरापन। आपा मेंटना = खुदी को मिटाना। जब तक 'मैं मेरा' भाव है तब तक 'पर' की पहचान नहीं। प्रेम = एकमेक का भाव। सांसारिक व्यवहार मे मैं का महत्त्व है पर अध्यात्म में यह मैं—अहंकार रोड़ा है। दोनों भिन्न-भिन्न भाव हैं। प्रेम विषय से नहीं, तन से नहीं, सत्य और अविनाशी से। यह प्रेमतत्त्व सब की समझ में नहीं आता—आपा से प्रेम करनेवाला हरि प्रेम की प्रतीति नहीं कर सकता। कबीर हरि को मूल मानते हैं मूल गंवाने पर सर्वस्व का नाश। हरिप्रेम की कथा वर्णनातीत है।

'आपामेटि जीवत मरै तो पावै करतार।' 26
'यह मन पटकि पछाड़ि लै, सब आपा मिटि जाइ।
पंगुल ह्वै पीव पींव करै पीछें काल न खाइ ॥' 729
'कबीर सौचबिचारिया दूजा कोई नाहिं।
आपा पर जब चीन्हिया, उलटि समाना माहिं ॥' 543
मेर मिटी मुकता भयां, पाया ब्रह्म बिसास। 576
' है कबीर मैं मेरी खोई। तबहिं राम अवर नही कोई।' 66 गौड़ी
मोर तोर जब लगि मैं कीन्हा, तब लगि त्रास बहुत दुख दीन्हां ॥ 145 गौड़ी
मेर निसाणीं मीच की। 467

मेटना<प्रा० मिटिज्जइ=मिटता है; पा० मट्ट=मिटाया हुआ।

मेट्या=खो दिया, विनष्ट कर दिया। अकथ कहानी=अकथ कथा, 'आदि अंत ताहि नहीं मधे, कथ्यौ न जाई आहि अकथ्यै।' अष्टपदी रमैणी। **अकथ कहानी प्रेम की**=हरि-प्रेम की कथा। कह्या=कहा, कहन<कथन; कथयति।

तुलसी—1 मैं तैं मेट्यो मोह तम। वैराग्य० 3ऽ

2 मैं अरु मोर तोर मैं माया। मा० 3 15 1

3 हम हम करि धन धाम संवारे, अंत चले उठि रीते। 198 वि०

कबीर निगुसावां बहि जायगा, जाकै थाघी नाहीं कोइ।
दीन गरीबी बंदगी, करता होइ सु होइ॥ 11 ॥ 629

भावार्थ : कबीर का बल राम के आश्रित होने का है। जाकै थाघी नाहि'=जिसका कोई आश्रय नहीं, है **थाघ**<स्थाघ। **निगुसावां**=गोसाईंरहित। **बहि जायगा**=माया प्रवाह में समाप्त हो जायगा। जो दीन-गरीब है वह तो राम का बंदा है—उसे कोई चिन्ता नहीं—'करता होइ सु होइ।'

तुलसी— महामोह सरिता अपार महं संतत फिरत बह्यो। 92 विनय०
तजे चरन अजहूँ न मिटत नित बहिबो ताहू केरो। 87 वि०

बहना<वह्। 'कबीर बहि बहि मरहु पचहु निज स्वारथ जम कौ दंड सह्यो।'

कबीर दीन गरीबी दीन कौं दुंदर कौं अभिमान।
दुंदर दिल बिष सूं भरो दीन गरीबी राम॥ 12 ॥ 630

भावार्थ : कबीर कह रहे हैं जिसके हृदय में द्वन्द्व (मेरा-तेरा का भाव) है वह ईश्वर को नहीं पा सकता—उसे तो 'आपा' का अभिमान है। आपा से मुक्ति की पहली शर्त है भक्ति की। दीन का आश्रय 'त्रिभुवनपति' है।

धन के गरबि राम नहीं जानां। 99 गौड़ी
है हजूरि क्या दूरि बतावै।
दुंदर बांधै सुंदर पावै॥ 6 भैरू
अंधे हरि बिन को तेरा।
कवन सूं कहत मेरी मेरा॥ 2 सो०
दादू भीतर दुंदरि भरि रहे, तिनकूं मारै नाहि।

कबीर चेरा संत का, दासनि का परदास।
कबीर ऐसे ह्वै रह्या, ज्यूं पाऊं तलि घास॥ 13 ॥ 631

भावार्थ : कबीर संतों के, रामदासों के दासानुदास है—यह है विनम्रता कबीर में—अहंकार रहित हैं कबीर। 'ज्यूं पाऊं तलि घास'—घास को कोई कितना ही रौंदे वह बोलती नहीं सब सह जाती है। घास को, अहंकार नहीं—सब की सेवा करती है घास। वह सहनशील है।

कहै कबीर दासनिको दास । अब नहीं छाड़ौं चरन निवास । 1 कल्याण

कहै कबीर मैं दास तुम्हारा । 6 धनाश्री

कबीर रोड़ा ह्वै रहु बाट का, तजि पाषंड अभिमान ।
ऐसा जे जन ह्वै रहै, ताहि मिलै भगवान ।। 14 ।। 632

भावार्थ : कबीर विनम्र बनने को, दासानुदास बनने को सिखा रहे हैं साधक को। रास्ते के रोड़े को सभी राही ठोकर मारते हैं पर वह सब सहता है जेसे पाँव तले घास सब सहती है। कबीर अहंकार—मदशून्य होने की सीख दे रहे है क्योंकि जहाँ अभिमान—कपट-पाखण्ड है वहाँ रामनिवास संभव नहीं।

'कुल अभिमाना खोइ कै जियत मुवा नहि होय ।' —कबीर

जब तक कुल-वर्ण-धन का अभिमान है तब तक कपट-पाखण्ड है—इन्हे छोड़कर ही व्यक्ति जीवतमृतक हो सकता है।

रोड़ा<लोष्ठ = लोड़ा, रोड़ा। बाट<प्रा० वट्ट जन = भक्त 'राम सरीखे जन मिले तिन सारे सब काम' 485। □

जीवत माटीं मिलि रहै, साईं सनमुष होइ ।
दादू पहिली मरि रहै, पाछैं ता सब कोइ ।।
दादू आपा ग्रब गुमान तजि मद मछर अहंकार ।
गहे गरीबी बंदगी, सेवै सिरजनहार ।।
भूठा ग्रब गुमान तजि, तजि आपा अभिमान ।
दादू दीन गरीब होइ, पाया पद निरबान ।।
राव रंक सब मरहिंगे, जीवै नाहीं कोइ ।
दादू सोई जीवता, जे मरजीवा होइ ।
दादू मेरा वैरी मैं मुवा, मुझे न मारे कोइ ।
मैं ही मुझकौं मारता, मैं मरजीवा होइ ।।
दादू तो तूं पावै पीव कौं जे जीवत मृतक होइ ।
आप गंवाए पीव मिलै, यों जानत है सब कोइ ।।
दादू मैं नाहीं तब एक है, मैं आई तब दोइ ।
मैं तैं पड़दा मिटि गया, तब ज्यूं था त्यौं ही होइ ।।
पीसे ऊपरि पाणिए, छांणौं ऊपरि छांणि ।
ता आतम कण ऊबरै, दादू ऐसी जांणि ।।
दादू आपा मेटै येक रस मन असाथर लै लीन ।
अरस परस आणंद करै, सदा सुषी सो दीन ।।
जहां राम तहां मैं नहीं, मैं तहाँ नाहीं राम ।
दादू महल बारीक है, द्वै कूं नाहीं काम ।।

42. चित कपटी कौ अंग

कबीर तहाँ न जाइए, जहाँ कपट का हेत।
जालूँ कली कबीर की, तन रातौ मन सेत ।। 1 ।। 633

भावार्थ : कबीर कहते हैं भक्त निष्कपट होता है और स्वार्थी छद्म—छल से भरा। जहाँ ऊपर से प्रेम पर भीतर से कपट वहाँ भक्त को न जाना चाहिये। भेष के चक्कर में न पड़ना चाहिए। इस तत्त्व को कबीर एक सादृश्य से समझाते हैं—कनेर = कर्णिकार; हयमार, करवीर। फूल का बाह्य लाल, स्नेहभरा, अनुरागयुक्त होता है पर भीतर श्वेत। यह दिखावटी प्रेम खतरनाक है।

हेत < हित (355) कबीर का बल 'हरि सूं हेत' पर है। 'संसारी सूं हेत' (465), 'कपट सूं हेत' ले डूबेगा।

जालूँ = जलादूँ (524,38,39) 'कबीर जालूं इहै बड़पना (789), 'यह चतुराई जाउ जल' (768) रात < रंज् प्रा० रत्त। 'राम नाइं रातो रहै (770) 'रत्त भया हरि नाइं।'

कबीर संसारी साषत भला, कँवारी कै भाइ।
दुराचारी बैश्नौं बुरा, हरिजन तहाँ न जाइ ।। 2 ।। 634

भावार्थ : कबीर कपट को कालिमा-कलंक मानते हैं। जहाँ दुराचार है वहाँ धोखा है। कबीर का कथ्य है कि हरिजन और कपट दो विरोधी बातें हैं। हरिजन वह है जो शुद्ध भाव, निर्मल हृदय का हो। कबीर संसारी साषत (शाक्त) की निन्दा करते हैं क्योंकि वह छद्मी, दुराचारी है—वह कुमारी का भाई बनता है और करता है योनि-पूजा। पर हरिजन अथवा वैष्णव होकर दुराचार! ऐसे हरिजन से तो शाक्त अच्छा। साषत (357)।

कबीर निर्मल हरि का नांव सों, कै निरमल सुध भाइ।
ह्वै लै दूणीं कालिमा, भावै सौं मण साबण लाइ ।। 3 ।। 635

भावार्थ : कबीर कपट छोड़कर, स्वार्थभाव छोड़कर, बक वृत्ति छोड़कर 'हरिजन' होने की, सलाह देते हैं। मनुष्य यदि अवसर रहते चेता नहीं तो वह माया-मोह कुलाभिमान की कालिमा से युक्त हो जायगा और फिर वह 'कालाधार' में डूब जायगा। वह कालिख सौ मन साबुन से भी छूटनेवाली नहीं अतः निर्मल भाव, शुद्ध हृदयवाला बने। एतदर्थ 'हरिनांव' 'हरिचरण' का सहारा लें। कालिमा का अर्थ 'दुराचार' से है, कपट, चतुरता से है; आचरण की पवित्रता 'उज्जल निर्मल नीर' है। 'हरिनाम' से प्रीति न कर विषय-विष में रात होना कालिमा है। एक-बार बुरा

स्वभाव बन गया तो वह प्रयास करने पर भी छूटता नहीं अतः कबीर का बल है 'अवसर' रहते 'हरि गुण' 'हरिचरित', से प्रीति करें इसी से हेत करें। काया घट को 'उज्जल नीर' से भरें—

कबीर काया कमंडल भरि लिया उज्जल निरमल नीर।

कबीर काया मंजन क्या करै कपड़ धोइम धोइ।
उज्जल हूवा न छूटिए सुख नींदड़ी न सोइ ।। 263

एकै हरि का नांव बिन बांधे यमपुरिजांहि ।। 264

'कालिमा' के आशय में अन्यत्र 'कलंक'—

कबीर औंसर बीता अलपतन, पीव रह्या परदेस।
कलक उतारौ केसवा, मानौ भरम अंदेश ।। 695

सुध भाइ (447) निरमल करै सुभाइ (772) उज्जल निर्मल नीर (179)।

□

अंतर गति राचैं नही, बाहर कथैं उदास।
ते नर जमपुर जाहिगे, सत भाषैं रैदास ।।
रैदास कहै जाके हृदै, रहै रैन दिन राम।
सो भागता भगवन्त सम, क्रोध न ब्यापै काम ।।
भाई रे भरम भगात सुजान
जौ लौं सांच सों नहि नहिचान ।।
भरम नाचन भरम गायन, भरम जपतप दान।
भरम सेवा भरम पूजा, भरम सो पाहचान ।।
कृस्न करीम राम हरि राघव, जब लग एक न पेखा।
बेद कतेब कुरान पुरानन सहज एक नहि देखा ।।
अब मैं हार्यो रे भाई।
थाकत भयो गायन अरु नाचन, थाकी सेवा पूजा।
काम क्रोध ते देह थकति भइ, कहौं कहाँ लौ दूजा ।।
ऐसो कछु अनुभौ कहत न आवे।
साहिब मिलै तो को बिलगावै ।।
सब म हरि है हार में सब है, हरि अपनो जिन जाना।
साखी नहीं और कोइ दूसर, जाननहार सयाना ।।
बाजीगर सों रच रहा, बाजी का मरम न जाना।
बाजी झूठे सांच बाजीगर जाना मन पतियाना ।।
मन थिर होइ तो कोइ न सूझै, जानै जाननहारा।
कह रैदास बिमल बिवेक सुख, सहज सरूप संभारा ।।

43. गुरुसिख हेरा कौ अंग

संत-साहित्य एवं संत-जीवन में गुरु के आश्रय का अत्यधिक महत्त्व है। गुरु कैसा हो, अथवा हमें कैसा गुरु चाहिए इसी की चर्चा इस अंग में है। 'हेरा' हेरना= ढूंढ़ना। प्रा० हेरिअ।

कबीर ऐसा कोई नां मिलै, हमकौं दे उपदेस।
भौ सागर मैं डूबता, कर गहि काढ़ै केस॥ 1 ॥ 636

भावार्थ : कबीर उस गुरु की खोज की बात कर रहे हैं जो शिष्य को ज्ञान देकर संसार के मायाजाल से मुक्त करे अथवा हरिपथ पर लगाकर उस मोक्ष दिला सके।

विवृति : **भौसागर**=आवागमन का चक्र। **भौसागर में डूबना**=माया में लिप्त होकर आत्मा को न पहचानना। **'भौ जल'** में वही डूबता-बूड़ता है जो इन्द्रियों के या पांच चोरों (काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह) के पाश में मूल को छोड़ बैठता है। कबीर **'भौ तिरिबौ'** के उपाय को अन्यत्र बताते हैं—'मन ग्यान जोखि कै करि बिचार राम मत भौ तिरिबो पार।' **'डूबना'**, **तिरना** परस्पर विरोधी भाव के वाचक हैं। **काढ़ना**=निकालना प्रा० कड्ढ=काढ़ना, भौजल में डूबते हुए व्यक्ति का केश पकड़कर उसे बाहर खींच लाना अर्थात् उद्धार करना। **डूबना** (प्रा० बुड्डइ 110) अज्ञान से ज्ञान की ओर ले जानेवाला गुरु है। 'सतगुर सवां न को सगा, सोधी सईं न दाति।'

कबीर ऐसा कोई नां मिलै, हम कौं लेइ पिछाणि।
अपना करि कृपा करै, लै उतारै मैदानि॥ 2 ॥ 637

भावार्थ : कबीर उसे सतगुरु की खोज की बात कर रहे हैं जो मनुष्य की दुर्बलताओं को जानकर उसे अपनाकर सत्पथ पर लगावे।

विवृति : 'विधनां बचन **पिछांड़त** नाहीं, कहु क्या काढ़ि दिखाऊँ।' तथा, 'बिन स्वारथ आदर करै, सो हरिकी **प्रीति पिछांणि**। 508 **पिछाणन**<प्रत्यभिज्ञान, **पिछाणनां**< प्रत्यभिजानाति (460, 508) प्रा० **पच्चहियाण**, पं० पछाणना। **अपना करि**=अपना बनाकर, स्वीकार कर 'निज जन जानि तहि **अपनावा**' मानस 5/50/1 'सब बिधि नाथ मोहि अपनाइयु।' मा० 6/116 4 **लै उतारै मैदानि**=मैदान में उतारे। साधक को जूझना पड़ता है मानसिक विकारों से—कबीर ने अन्यत्र कहा है 'कबीर मरि मैदान मैं करि इन्द्रयाँ सूं झूझ॥' 654 शूर वही है जो मैदान में मरे। गुरु शिष्य को शूरत्व देता है मैदान में जूझने का और तनमन हरि को सौंपने का। **मैदान में उतरना मुहा०** है।

कबीर ऐसा कोई नां मिलै, रामभगति मीत।
तनमन सौंपे मृग ज्यूं, सुनै बधिक का गीत ।। 3 ।। 638

भावार्थ : कबीर कहते हैं ऐसे रामभक्त अथवा भक्तिपथ पर चलनेवाले समर्पित लोग कम ही मिलते हैं जो मृग सदृश तन-मन अर्पित कर दें। मृग बहेलिए के मधुर गीत पर अपना सुध-बुध खोकर प्राण निछावर करता है।

'तत्रास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभंहृतः।' शकुन्तला
'गीतमुत्सादकारि मृगाणाम।' —कादम्बरी

कबीर दूरिभया तौ का भया, सिर दे नेड़ा होइ।
जब लग सिर सौंपे नहीं कारिज सिधि न होइ ।। 670

'ज्यूं मृग नादैं बेध्यौ जाइ, पिंड परे वाकौ ध्यान न जाइ। किसी भी इष्ट लगन की प्राप्ति में मृगवत् प्रीति की अपेक्षा अनिवार्य हैं।

कबीर ऐसा कोई नां मिलै, अपना घर देइ जराइ।
पचूं लरिका पटकि करि, रहै राम ल्यौ लाइ ।। 4 ।। 639

भावार्थ : कबीर बार-बार बलि होने, मृतक होने पर बल देते हैं। जब तक मनुष्य सब कुछ लक्ष्य के लिए निछावर न करेगा तब तक लक्ष्य की प्राप्ति संभव नहीं है। जिस घर समझा, सुख समझा उससे उलटे चलने में रामभक्ति मिलती है। यही उलटी चाल है भक्तों की। घर जलाओ तब हृदय में राम बसाओ जिस काया (घर) में लोभ-मोह की वासना है वहाँ राम नहीं अतः घर जलाने की बात। यह शरीर पंचतत्त्वों (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) से निर्मित है, यह नाशवान है फिर भी इससे आसक्त होकर मनुष्य अनेक कुकर्म करता है। अतः इस शरीर से वैराग्य उत्पन्न करे—मृतक होकर जिए—और राम में लौ लगावे। देहासक्ति सबसे बड़ी आसक्ति है। अन्यत्र भी :

पंचतत अविगत कैं उतपना, एकै किया निवासा।
बिछुरे तत फिरि सहजि समाना रेख रही नहिं आसा ।।
जल मैं कुंभ कुंभ मैं जल है बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तत कथौ गियानी ।।

तथा,
पंच तत ले कीन्ह बंधानं पाप पुंनि मानं अभिमानं।
अहंकार कीन्हे मायामोहू संपति बिपति दीन्ही सब काहू ।।
बड़ी अष्टपदी रमैणी

कबीर मानते हैं कि शरीर मरने से मृत्यु नहीं—शरीर की आसक्ति मरे तब कल्याण।

हम न मरैं मरि है संसारा।
हम कूं मिल्या जियावनहारा ।।
न मरूं मरनैं मनमानां। तेई मुये जिनि राम न जांनां ।। 4 गोड़ी

कबीर ऐसा कोई नां मिलै जासूं रहिये लागि।
सब जग जलता देखिये अपणी अपणी आगि ॥ 5 ॥ 640

भावार्थ : कबीर मानते हैं इस संसार में लोग स्वार्थी हैं अतः किसके साथ रहे। जो स्वयं काम क्रोध लोभ मोह में जल रहा हो उससे रक्षा की आशा? 'सब जग जलता देखिये' में यही भाव है। 'आग' बाहर की नहीं भीतरी विकारों की है। कामज्वर मोहाग्नि में आदमी रात-दिन जलता रहता है फिर भी उससे वैराग्य नहीं लेता—राम से लौ नहीं लगाता।

विवृत्ति : जासूं रहिये लागि : लागि (लग्न)। मनुष्य को वही सान्निध्य चाहिए जहाँ वह सांसारिक—दावाग्नि (माया) से बच सके। हरिभक्त अथवा सतगुरु ही ऐसा मीत है जिससे संलग्न होकर मनुष्य भवबंधन से, आसक्ति-पाश से छुटकारा पा सकता है।

अपनी अपनी आगि = मैं-मेरा (आसक्ति-माया) की अग्नि।

कहुं धूं किहि बिधि राखिये, रूई पलेटी आगि ॥ 346

कबीर माया की झल जग जल्या कनक कामिनी लागि।

कबीर ऐसा कोई नां मिलै, जासूं कहूं निसंक।
जासूं हिरदै की कहूं सो फिरि मांडै कंक ॥ 6 ॥ 641

भावार्थ : कबीर जगत् छल-धोखा-कपट से व्याकुल होकर कहते हैं कि यहाँ अपने स्वार्थ में सने छली लोग है बकुले की भाँति—इनसे यदि मन की बात कहो तो अहित ही होगा क्योंकि ये बाहर से सीधे पर भीतर कुटिल (बंक) बक सदृश। कंक = बक जिस प्रकार बक जल तट पर शिकार के हेतु ध्यान लगाकर (भक्त सदृश) बैठता है उसी प्रकार संसार का सामान्य मनुष्य। सूर सागर में है—'कपट हेत परसै बकी।' मांडै = ध्यान का आडंबर करना। अन्यत्र—

उज्जल देखि न धीजिये, बग ज्यौं मांडै ध्यान।'
धोरे बैठि चपेटसी, यूं लै, बूड़े ग्यान ॥ 479
मांडना (31, 479)।

कबीर ऐसा कोई नां मिलै सब बिधि देइ बताइ।
सुंनि मंडल मैं पुरिष एक ताहि रहै ल्यौ लाइ ॥ 7 ॥ 642

भावार्थ : कबीर उस परम पुरुष (ब्रह्म) से लौ लगाने पर बल दे रहे हैं। कबीर उस गुरु की खोज में है जो उन्हें संसार से हटाकर हरि-ध्यान में लगावै :

अबधू ग्यान लहरि करि मांडी रे।
सबद अतीत अनाहद राता, इहि बिधि त्रिषनां खांडी रे ॥ 10 गौड़ी

तथा, गगन गरजि मन सुंनि समाना, बाजे अनहद तूरा ॥ 7 गौड़ी

तथा, सुंनि सुरति लै लागी। 8 गौड़ी

कबीर हम देखत जग जात है, जग देखत हम जाहं ।
अैसा कोई ना मिलै, पकरि छुड़ावै बाहं ।। 8 ।। 643

भावार्थ : कबीर अनुभव बता रहे हैं; इस आवागमन चक्र में सभी फँसे हैं—हमारे देखते-देखते कितने आए और चले गये और संसार का प्रत्येक व्यक्ति इस तत्त्व को जानता है कि उसके देखते-देखते हम में हर एक चल बसा फिर भी मायावश भौसागर से पार जाने का प्रयास हम नहीं करते । हमें ऐसा मीत गुरु चाहिए जो उस माया (कनक—कामिनी) के आग से उबारे, हमारी बांह पकड़कर हमें उससे मुक्त करा दे । तुल० 636

विवृति : **पकरि**=पकड़कर *पक्कड (पकड़ै 366) **छुड़ावै** (छूटै 339) प्रा० छुट्ट *क्षुद् (छूटिए 263) । **बाह**<बाहु । तुल० 'बैठारे रघुपति गहि बाहां ।' मा० 2 77

कबीर तीन सनेही बहु मिलैं, चौथे मिलैं न कोइ ।
सबै पियारे राम क बैठे परबस होइ ।। 9 ।। 644

भावार्थ : कबीर कहते हैं इस संसार में त्रिगुण अथवा त्रिगुणात्मक जगत् (सत, रज, तम) से प्रेम करनेवाले तो बहुत हैं, किन्तु चौथे पद (परमपद, अभयपद) अथवा त्रिगुणातीत राम से स्नेह करनेवाले विरले ही हैं । एसी स्थिति में रामभक्तों पर संकट है—उन्हें आनन्द कहाँ जिनका हृदय राम के प्रेम में घायल है वे मायाधीन लोगों के साथ कैसे निबाहें, वे परबस हैं बिना राम भक्त के वे किसके साथ निबाहें ।

राम के पियारे=राम सनेही (696)

कबीर माया मिलै मुहबती, कूड़े आखैं बैण ।
कोई घाइल बेध्या नां मिलै, साईं हदा सैण ।। 10 ।। 645

भावार्थ : कबीर कहते हैं माया के सनेही तो संसार में बहुल हैं—उनके मुख से रामनाम नहीं—व्यर्थ को निस्सार बातें निकलती है । माया प्रेमी कुवचन (मिथ्या) बोलता है—संतों का तिरस्कार करता है । राम प्रेम से घायल व्यक्ति इस मायामय संसार में नहीं मिलते हैं अर्थात् जिन्हें राम प्रिय हैं संसार नहीं ऐसे कहाँ हैं ?

कूड़े बैण=कूड़ा वचन=दुर्वचन ; कूड़ा (कूरा)<कूट 'कूर बड़ाई बूड़सो' (262) कूड़ै चित्त न लाइ (720) **हंदा** (राज०)=से **'साईं हंदा सैण**=साईं (राम) की ओर से घायल । **बेध्या**=विद्ध=बेधा हुआ, घायल । **हुंति** (मानस 2/98)= ओर से । **हुंत**=से (पद० 575)

कबीर सारा सूरा बहु मिलैं घाइल मिलैं न कोइ ।
घाइल ही घाइल मिलैं तब राम भगति दिढ़ होइ ।। 11 ।। 646

भावार्थ : कबीर राम प्रेम से घायल की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि रामभक्ति तभी सुदृढ़ होती है जब राम पियारे की संगत मिले, संसारी का साथ तो बिरोधी है । शूर बीर वही है जो रणभूमि में घायल हो । भक्त होना राम प्रेम से विद्ध होना है सार

(सं०) लौह, लौह से बने शस्त्र सारा सूरा = शस्त्र चलानेवाले शूर। शस्त्र चलाना बहादुरी का लक्षण नहीं रणभूमि में घायल होना महत्त्वपूर्ण है।

कबीर प्रेमी ढूंढ़त हौं फिरूँ, प्रेमी मिलै न कोइ।
प्रेमी कूँ प्रेमी मिलै, तब सब विष अमृत होइ ॥ 12 ॥ 647

भावार्थ : कबीर अध्यात्म मार्ग के पथिक हैं—आत्म प्राप्ति तभी सम्भव है जब हरिजनों का साहचर्य मिले संसार स्वारथी से प्रीति कर राम की प्राप्ति नहीं अतः प्रेमी (= राम पियारे मुक्त) की खोज करनी चाहिए। ऐसा सनेही मिलने पर ही विष (सांसारिक माया और विषय का बन्धन) अमृत में बदल सकता है। विष और अमृत प्रतीक हैं अज्ञान और ज्ञान, अशांति और शांति, संसार और परमात्मा के।

तुल० कबीर कामी अमी न भावई, विषई कौं ले सोधि।
कुबुधि न जाई जीव की, भावै स्वयं रहौ परमोधि ॥ 396

कबीर हम घर जाल्या आपणा, लिया मुराड़ा हाथि।
अब घर जालौं तास का, जे चलै हमारे साथि ॥ 13 ॥ 648

भावार्थ : कबीर कहते हैं अध्यात्म मार्ग पर चलनेवाले को इस घर (सांसारिक बन्धन) को भस्म करना पड़ता है—'नातो एक राम से मानियत बहुतक कहौं कहाँ लौं।'—तुलसी कबीर का कथ्य है कि राम भक्ति मार्ग पर जो चलना चाहेगा उसे काम-मोह-तृष्णा विषों को त्याग करना होगा क्योंकि ये ही इस पंचतत्त्व निर्मित शरीर को विषमय बनाते हैं। अतः जो भी इस ब्रह्म ज्ञान की ओर चलने के लिए मेरा साथी बनेगा उसे भी अपना घर जलाना होगा।

मुराड़ा = लूकी (= ज्ञानाग्नि) बाह्य संसार (घर) को भस्म करने के लिए लूकी-मशाल चाहिए पर आन्तरिक विकारों—नश्वर आत्मक भावों को निर्मूल करने के लिए विवेक-भक्ति चाहिए।

□

राम बिन संशय गांठि न छूटै।
काम किरोध लोभ मद माया इन पंचन मिलि लूटै ॥
हम बड़ कबि कुलीन हम पंडित, हम जोगी संन्यासी।
ज्ञानी गुनी सूर हम दाता, यहु काहे मति नासी ॥
पढ़े गुने कछु समुझि न परई, जौं लौं भाव न दरसै।
लोहा हिरन होइ धौं कैसे जो पारस नहिं परसै ॥
कह रैदास और असमुझ सी चालि परे भ्रम भोरे।
एक अधार नाम नरहरि को, जिवन प्रान धन मोरे ॥

44. हेत-प्रीति-सनेह कौ अंग

कबीर ने प्रेम-प्रीति-सनेह को प्रमुख अंग माना है जीवन-साधना में सफल होने के लिए। जहाँ हेत (<हित = प्रेम) नहीं वहाँ आत्मीयता नहीं। जहाँ अपनत्व नहीं वहाँ अभेद भाव कहाँ। चाहे परम पुरुष से एकता हो अथवा मानव में सर्वत्र प्रेम-प्रीति ही जोड़ता है।

कबीर कमोदनी जलहरि बसै, चंदा बसै अकासि।
जो जाही का भांवता, सो ताही के पास ॥ 1 ॥ 649

भावार्थ : कबीर प्रीति को आधार मानते हैं पारस्परिक सम्बन्ध में—जहाँ सच्ची लगन है, पूरी आत्मीयता है वहाँ दूरी व्यवधान नहीं डाल सकती—कोई भी कठिनाई सच्ची निष्ठा में रोड़ा नहीं अटका सकती। उदाहरण में कबीर चंद्र और कुमुदिनी के आत्मिक सम्बन्ध बताते हैं—एक आकाश में दूसरा किसी जलस्थान में पृथ्वी पर—यह दूरी होते हुए भी वे परम स्नेही हैं एक दूसरे के।

कबीर का बल है जो चाहो पूरे मन से चाहो। प्राप्ति अथवा सफलता अपनी उत्कट इच्छा का फल है।

विवृत : भांवता = चाहने वाला, प्रीति करने वाला, प्रेमी। (भू—भावयति 396, 483 भावता = प्रेमी, भावती = प्रेमिका।

'कबीर हरि का भावता दूरै थैं दीसंत।' 496 'कबीर हरि का भांवता झीणां पंजर तास।' (497)

जलहरि < प्रा० जलहर < सं० जलधर। कमोदिनी < कुमुदिनी (चंद्र को कुमुदिनी पति, कुमुदसुहृद कहा जाता है)। कबीर कुमुदिनी और चंद्र की प्रीति को आदर्श मान कर भक्त को राम से ऐसा ही हित करने पर बल देते हैं।

बसै < वस् = रहना, बसना (462,286)।

ताही 436 'हिरदा भीतरि हरि बसै तू ताही सौं ल्यौ लाइ।'

कबीर का बल अद्वैत प्रेम पर है—मन एक में लगावे तो वह अपना होकर रहेगा। पास < पार्श्व (487)

कबीर गुर बसै बनारसी, सिष समंदा तीर।
बिसार्‌या नहीं बीसरै, जे गुण होइ सरीरि ॥ 2 ॥ 650

भावार्थ : कबीर एकनिष्ठ लौ की महत्ता बताते हुए कहते हैं—दूरी अथवा स्थान भेद सच्ची प्रीति में बाधक नहीं हो सकता। जैसे कुमुदिनी और चंद्र की दूरी उनके प्रेम-हेत में बाधक नहीं उसी प्रकार मनुष्य और ईश्वर की प्रीति में दूरी का महत्व नहीं—मारग दूरि है पर मनुष्य सतत प्रयत्न से पहुँच सकता है। शर्त यही है एक क्षण के

लिए भी प्रिय इष्ट को न भूलें। 'बिसार्‌या नहीं बीसरै' अर्थात् इस दुनिया की माया में भी भक्त उस अलष को न भूले (457)

गुरु-शिष्य एक दूसरे से दूरी पर हों इससे कुछ प्रभाव नहीं पड़ता—महत्व उनके परस्पर आकर्षण का। वाराणसी से दूर समुद्र तीर है पर गुरु यदि वाराणसी का निवासी हो और शिष्य कहीं अन्यत्र का तो भी उनमें प्रेम का नित्य सम्बन्ध है।

इस साखी से यह आशय निकाला जा सकता है कि कबीर के गुरु वाराणसी में रहने वाले रामानन्द थे।

'जे गुण होइ सरीर' = यदि तुम्हारे मन में ऐसी एकांत निष्ठा का गुण है। मनुष्य अवगुणों की खान है पर वह चाहे तो ईश्वर सुमिरन का गुण उसमें आ सकता है।

बीसरै < विस्मरति (13,65) **बिसार्‌या** < विस्मारयति (457,415)

कबीर जोहै जाका भांवता जदि तदि मिलसी आइ।
जाकौं तनमन सौंपिया, सो कबहूँ छांड़ि न जाइ॥ 3 ॥ 651

भावार्थ : कबीर प्रेम के सामर्थ्य का बखान करते हुए कहते हैं—प्रेम सच्चा हो, और उसमें अटूट दृढ़ता हो तो इष्ट प्राप्त होगा ही। यह सार तत्त्व व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों जीवन में सत्य है। जिस ओर भी मनुष्य पूरे तन-मन से लग जायगा अथवा जिसे भी प्राप्त करने के लिए अपना सब कुछ—सर भी—सौंप देगा वह मिलेगा ही यह ध्रुव सत्य है—जदि तदि कभी न कभी वह सुलभ होगा। प्रेम का आकर्षण इतना प्रबल है कि वह इष्ट को आप तक खींच लावेगा—वह आपको छोड़कर दूर नहीं रह सकता। सफलता समर्पण पर निर्भर है।

जाका = जाही का (649) **जदि तदि** < यदा-तदा (248) मिलसी = मिलती है।
छांड़ि न जाइ = छोड़कर नहीं जाता है। **छांड़िसी** (471)
सौंपिया = सौंप दिया = समर्पित कर दिया सं० समर्पयति प्रा० समप्पय।

कबीर स्वामी सेवग एक मत मत (मन) हीं मैं मिलि जाइ।
चतुराई रीझै नहीं, रीझूँ मनकै भाइ॥ 4 ॥ 652

भावार्थ : कबीर अनन्यभाव और एकत्व पर बल दे रहे हैं—प्रेम-स्नेह में भेद नहीं, अंतर नहीं—एकमत। ऐसी स्थिति में ही स्वामी-सेवक (ईश्वर-भक्त) का मिलन संभव है, चतुरता बाधक है, खाई है, आवरण है उसके निर्मूल होने पर ही तन-मन सौंपना संभव है। चतुरता में छल है जहाँ छल-छद्म-आवरण है वहाँ न समर्पण और न प्रिय की प्राप्ति। उसका रीझना तो हृदय की सरलता पर, निर्मलता पर निर्भर है—मन का भाव ही मुख्य है—

कबीर चतुराई हरि नां मिलै, ए बातां की बात।
एक निस्प्रहो निराधार का, गाहक गोपीनाथ ।। 458

चतुराई सूवै पढ़ी, सोई पंजर मांहि।
फिरि परमोधै आनकूं, आपण समझै नांहि ।। 360

रीझना = प्रसन्न होना, प्रा० रिज्झ ।

सतगुर हम सूं रीझि करि, एक कह्या प्रसंग।
बरस्या बादल प्रेमका, भीजि गया सब अंग ।। 33

रीझने पर ही प्रेम की वर्षा। रिझाने के लिए मन को निर्मल भाव चाहिए—सतगुर हमसूं रीझि कर अर्थात् सतगुरु को मैंने तनमन सौंप दिया और उनसे ऐक्य प्राप्त कर लिया तब उनका रीझना सहज था और फिर तो प्रेम का सागर—।

एकमत = एक भाव, एक आशय। सं० मत = भाव।

ऐसी भगति न होइ रे भाई।
राम नाम बिन जो कछु करिये, सो सब भरम कहाई ।।

भगति न रस दान भगति न कथै ज्ञान।
भगति न बन में गुफा खुदाई ।।

भगति न ऐसी हाँसी भगति न आसापासी।
भनति न यह सब कुल कान गँवाई ।।

भगति न इंद्री बाँधा भगति न जोग साधा।
भगति न अहार घटाई ये सब करम कहाई ।।

भगति न इंद्री साधे भगति न बैराग बाँधे।
भगति न ये सब बेद बड़ाई ।।

भगति न मूड़ मुड़ाये भगति न माला दिखाये।
भगति न चरन धुवाये ये सब गुनी जन कहाई ।।

भगति न तौ लौं जाना आप को आप बखाना।
जोइ जोइ करै सो सो करम बड़ाई ।।

आपो गयो तब भगति पाई ऐसी भगति भाई।
राम मिल्यो आपो गुन खोयो रिधि सिधि सबै गँवाई ।।

कह रैदास छूटी आस सब तब हरि ताही के पास।
आत्मा थिर भई तब सबही निधि पाई ।।

45. सूरातन कौ अंग

कबीर ने इस अंग में प्रेम को सिर का सौदा बताया है। तनमन सब उस प्रिय को सौंप दे तभी वह अपना होगा। शूर वही है जो उस धनी के लिए तन की आस छोड़कर एकमात्र उसी से लौ लगावे। शूरवीर घायल होना चाहता है, मैदान से भागता नहीं। कबीर कहते हैं साधक का युद्ध इन इन्द्रियों से, इसके विषयों से, सांसारिक आशा से है—उसे सतत सचेत रहना पड़ता है। उसका लक्ष्य केवल स्वामी की भक्ति है इसी के लिए वह माया से जूझता है। जो सच्चा शूर है उसे संसार से, कालसे, हानि-लाभ से भय नहीं। वह स्वामी के प्रति समर्पित होने से अहंकार शून्य अथवा मृतक है।

भर्तृहरि ने कहा है—'शूरो विजितेन्द्रियः।' सूरातन<प्रा० सूरत्तण<शूरत्व, शूरता (शूरताई)

कबीर कायर हुवा न छूटिये, कछू सूरातन साहि।
भरम भलका दूरि करि, सुमिरण सेल सबाहि॥ 1 ॥ 653

भावार्थ : कबीर जीव को—माया में लिप्त प्राणी को उद्‌बोधित करते हैं—अज्ञानता (सशय-भ्रम का भलका = भाला) दूर करो, और 'सुमिरण सेल सबाहि' = सुमिरण रूपी सेल<प्रा० सल्ल< (शल्य = भाला, बर्छी) से अपने को सज्जित करो।

हरि का सतत स्मरण (हरि प्रीति) ही माया से मुक्त करेगा। तुल०

दादू— दादू जब लगि जीव लागे नही, **प्रेम प्रीति के सेल।**
तब लग जीव क्यूं पाइए, नहीं बाजीगर का षेल॥

कायर<कातर बनने से भवजाल न छूटेगा। शूर बनो—इन्द्रियों से जूझो। सूरातन साहि = शूरत्व को साधो—भावभगति करो अर्थात् सिर की बाजी लगाकर भगवान को स्मरण करो। (676)

विवृत्ति : छूटिये<*क्षुट् (339) साहि<साध् (साध्नोति = पूरा करता है) 'भावभगति नहि साधी;' 'जोगसार सर साधै'। **भलका** 616 (मलुका, सूर) **सेल**<शल्य = सांग, भाला, बर्छी। **सबाहि**<संवाहयति प्रा० संवाहइ, (वह) सेल से सज्जित करो युद्ध के लिए। मन से जूझने के हेतु सतत सुमिरन ही सहायक है। तुल०

कबीर संकल ही थैं सबल है माया इहि संसारि।
ते क्यूं छूटै बापुड़े, बाधे सिरजनहारि॥ 339
भगति भजन हरिनांव है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसी बाचा क्रमनां कबीर सुमिरण सार॥ 39

सुमिरन<स्मरण, स्मरति, प्रा० सुमरति, सुमरइ।

भरम<भ्रम, 'भर्म भुली दुनियाई ।' 'बाहर भीतर रमिरहा तातै छूटिभरांति' ।। 611

कबीर कायरता को शूरता से, नकारात्मक भाव को सकारात्मक भाव से जीतने के लिए प्रेरित करते हैं। मन में संशय-भ्रम-द्वैतभाव कायरता के चिह्न हैं। इनसे जूझने के लिए हरि-सुमिरन—सत्य का स्मरण अथवा आध्यात्मिक आचरण करना ही एकमात्र उपाय है। माया-वासना-विषय से छूटने के लिए उसके विरोधी भावों की साधना करे।

> षूणैं पड़्या न छूटिये सुणि रे जीव अबूझ।
> कबीरा मरि मैदान मैं, करि यंद्र्या सूँ झूझ ।। 2 ।। 654

भावार्थ : कबीर पलायन के विरोधी हैं। कहते हैं एकांत सेवन से वासना से छुटकारा नहीं—यह मूर्ख जीव सचाई को समझने से भागता है। कबीर कहते हैं दुर्बलताओं का खुले मैदान में सामना—'मरि मैदान में।' मैदान से भागकर कालपाश, संशयपाश से मुक्ति नहीं। संशय-भ्रम ये मन के खेल हैं और मन इन्द्रियों के वश में है इसलिए ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय को रोको गलत रास्ते से, उनको मोड़ो अध्यात्मपथ की ओर—परम सत्य की ओर। इस युद्ध में जूझना श्रेयस्कर है भले ही सिर सौंपना पड़े। तु० 660

कबीर कर्मयोगी हैं, शूरवीर हैं—सारे कष्टों को झेलकर सत्पथ पर चलने के पक्षधर हैं। सत्पथ पर चलना कष्टों का सामना करना है। आत्मिक सुख के हेतु शारीरिक सुख को छोड़ना होगा।

षूणैं—एकांत, खुंट 'षूणैं बैसि रे खाइए प्रगट होइ निदानि ।' 383

कबीर का सूरातन भाव संसार से मुक्ति के लिए है—काम-क्रोध-लोभ-मोह से छुटकारा पाने के निमित्त है। यह छुटकारा सतत युद्ध, सतत चेतनता से ही सम्भव है। यह भ्रम है कि संसार से भागकर मुक्ति मिल जायगी—जूझने की तैयारी करो।

> कबीर सोई सूरिवां, मन सूं मांडै झूझ।
> पंच पयादा पाड़ि ले, दूरि करै सब दूज ।। 3 ।। 655

भावार्थ : कबीर जागरूकता-चेतनता (अवेयरनेस) पर बल देते हुए कहते हैं सच्चा साधक या शूर वही है जो सतत मन से जूझे—अर्थात् मन को विषयों से, विविध धंधों से हटाकर सत्य की अनुभूति में लगावे। जब तक मन चंचल है और वह संशय-भ्रम और द्वैतभाव का शिकार है तब तक उसे ईश्वरानुभूति नहीं क्योंकि 'कबीर जिहि घर मैं संसा बसे. तिहि घट राम न जोइ।' 507 **पंच पयादा**=पंचतत्त्व (639) (फा० पयादः=पैदल चलनेवाला)। **पाड़ि ले**=गिराकर या समाप्त कर; **पाड़ना**<पातयति, पत्। **मांडै झूझ**=रारि मांडना (विनय०) **दूरि करै सब दूज**='एक पिछांण्या तौ क्या दूजा।' 93 भैरू

'बिसमिल मेटि बिसम्भर एकै, और न दूजा कोई। 58 गौड़ी
'देव निरञ्जन और न दूजा।' 6 धनाश्री

सूरा जूझै गिरद सूँ, इक दिसि सूर न होइ।
कबीर यूँ बिन सूरिवां, भला न कहिसी कोइ ॥ 4 ॥ 656

भावर्थ : कबीर कहते हैं शूर साधक वही भला है जो गिरद (गिर्द = आस-पास, चारों ओर) जूझै अर्थात् जो दसों इन्द्रियों से जूझे। क्योंकि एक का दूसरे से सम्बन्ध है—जहाँ मन जायगा वहाँ आँख-कान सभी पहुँच जायँगे इसलिये मन से युद्ध मांडने का आशय है सभी इन्द्रियों से युद्ध करना। मैदान में शूर चारों ओर से घेरे हुए दुश्मनों को मारता-काटता है तभी वह सच्चा शूर कहलाता है—उसे अपने प्राण की चिन्ता नहीं रहती। वह केवल आत्मा की जीत चाहता है—स्वामी की सेवा में वह तन-मन निछावर करता है।

भला (368, 555) **सूरिवां** = शूरता। कहिसी (तु० रहसी, लेसी)।

कबीर आ राग पैसि करि, पीछै रहै सु सूर।
साईं सूं साचा भया, रहसी सदा हजूर ॥ 5 ॥ 657

भावार्थ : कबीर कहते हैं स्वामी का सच्चा सेवक वही है जो इस आध्यात्मिक रक्षा में शत्रु के पीछे पड़ा रहे—अर्थात् इन्द्रियों को भागने न दे उन्हें वश में करता रहे। भक्त शूर का कार्य है साईं के प्रति, आत्मा के प्रति ईमानदार होना। जो सांचा है वही स्वामी के सामने है। **'रहसी सदा हजूर'** तथा 'निर्मल कीन्हीं आतमा तार्थें सदा हजूरि।' 35 'सकल पाप सहजै गये जब साईं मिल्या हजूरि। 148 हुजूर हुजूरी करना = हाजिरी, उपस्थिति।

'साईं सूं सनमुख रहै, जहाँ माँगै तहां देइ ॥ 569

जो साँचा होगा वही स्वामी के आमने-सामने (अभिमुख) रह सकेगा। सम्मुख स्थिति निर्मलता सचाई से ही संभव है।

पैसि (387, 477) **पीछे** *पश्च; **पीछै रहै** = पीछे लगा रहे।

रहसी<प्रा० रहइ = रहती है (रमेन्स) < *रहति, रह्। लेसी (767)

कबीर गगन दमांमा बाजिये, पड़्या निसानै घाव।
खेत बुहार्‌या सूरिवैं, मुझ मरणैं का चाव ॥ 6 ॥ 658

पाठान्तर—खेत जु मांडिओं = युद्ध करना। मण्ड् = अलंकृत करना।

भावार्थ : कबीर उस भक्त शूरवीर की महिमा गा रहे हैं जो तन की चिन्ता न कर युद्ध क्षेत्र में लड़मरने को खड़ा है। मृत्युभय शूर को नहीं। भक्ति भी सिर का सौदा है। शूर मरण के लिए आतुर रहता है क्योंकि रण क्षेत्र में लड़ते-लड़ते मर जाना ही मोक्ष है। भक्त वासनाओं से निरंतर लड़ता रहता है—युद्ध क्षेत्र में दमामा अथवा निसान पर चोट पड़ते ही शूर सन्नद्ध होकर जूझने के लिए पहुँच जाता है। **खेत बुहार्‌या** = शूरवीर ने खेत को शत्रुओं से साफकर दिया। **खेत जु मांडिओ** = रारि या युद्ध मांडना। खेत < क्षेत्र = रणक्षेत्र। **बुहार्‌या** = बुहारा, बुहारना गु० बुहारवुं प्रा० बोहारी = झाड़ू < बहुकरा, बहुकरी।

तुलसी—'जाइ सो सुभट समर्थ पाइ रन रारि न मंडै ।' 116 उत्तर, कवि० दमामा (फा०) नगाड़ा । निसान<निस्वान (मभा०)=ध्वनि । गगन दमामा बाजिया तुलसी—'मंगलगान निसान नभ' तथा, 'बाजहिं निसानु सुगान नभ ।'

हर्ष में निसान (दमामा) बजने का अभिप्राय चल पड़ा था ।

मृगावती—'घाव निसान अंबर घहराना । दर परिगह सब साज पलाना । 352

घाव (घाउ)<घात=चोट । चाव<*चाह प्रा० चाहइ । पद० चाउ (21)

कबीर मेरे संसा को नहीं, हरि सूं लागा हेत ।
काम क्रोध सूं झूझणां, चौड़े माड़्या खेत ।। 7 ।। 659

भावार्थ : कबीर अपनी साधना की बात बता रहे हैं । राम से हेत=प्रेम । अर्थात् सतत पंच विकारों से जूझना और सतत सावधान रहना । कबीर अपने लिए कहते हैं मैंने **चौड़े माड़्या खेत**=खुल्लम-खुल्ला निर्भीक होकर खुले मैदान में युद्ध आरम्भ कर दिया है । मेरे मन में अब संशय नहीं, दुविधा नहीं—अब पीछे हटनेवाला नहीं । मुझे हरि का भरोसा है । तुल०

कबीर जिहिं घट मैं संसा बसै तिहिं घट राम न जोइ ।
राम सनेही दास बिच, तिणां न संचर होइ ।। 507

'संशयात्मा विनश्यति ।' भक्ति और समर्पण संशयालु के लिए नहीं । संशय प्रेम का विरोधी है । हरि 'संशयहरण' हैं । **चौड़ा**<चत्वर=खुली जगह; **खेत मांड़ना**=युद्ध मांडना । **हेत लागा**=प्रेम हुआ; लगना<लग्न ।

हेत लगना=प्रेम होना । 'कबीर चार्‌यूं बेद पढ़ाइ करि, हरि सूं न लाया हेत ।' 355 'तहाँ हेत हरि चित लाऊँगा । तो मैं बहुरि न भोजलि आऊँगा ।' 31 गौ०

कबीर सूरे सार सबाहिया, पहर्‌या सहज संजोग ।
अब कै ग्यान गयंद चाढ़, खेत पड़न का जोग ।। 8 ।। 660

भावार्थ : कबीर भक्त-सूर की प्रशंसा में कह रहे हैं—उसने काम-क्रोध से जूझने के लिए पूरी तैयारी कर ली है ।

सार=लौह=शस्त्र, (2) राम नाम ततसार । **सहज**=शील-श्रद्धा आदि सहज भाव । **संजोग**<संयोग=कवच, बख्तर । बंगला, **संजोव**=सैनिक कवच आदि ।

योद्धा हाथी पर रणक्षेत्र में जाता है भक्त ज्ञान (तत्त्व ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान) के हाथी पर चढ़कर विकारों को जीतता है ।

खेत पड़ने का (क्षेत्र मे मर मिटने का 654) अच्छा अवसर है । **सार सबाहिया**= शस्त्र धारण कर युद्ध के लिए तैयार होना—वह्, संवाहयति । भक्त का '**सार**' है राम नाम, राम से प्रीति अथवा सत्य का सेल, राम प्रीति का सेल एवं सतत हरि सुमिरन (653) सहज (612) ।

'अबहुँ वेगि कै करहु संजोऊ।' 222 पद०
'तेतखन भएउ संजोउ संजोऊ।' 512 पद०
'दहुँ कान्हहुँ अब जुरा संजोऊ।' 101 पद०
'रिपु संजोग वह दर विचलावइ।' 302 चाँ०
'राजा चढ़ै गोबर कहुँ सांभर लेइ संजोइ।' 86 चाँ०
'पहिरि संजोइ बांठु हथवासा।' 102 चां०
'बेगहु भाइहु सजहु संजोऊ। मानस 2/19

कबीर सूरा तबहीं परषिये, लड़ै धणी के हेत।
पुरजा पुरजा ह्वै पड़ै, तऊ न छांड़ै खेत॥ 9॥ 661

भावार्थ : कबीर आत्मा अथवा ब्रह्म प्राप्ति के पथ पर चलने वाले शूर की बात कर रहे हैं—सच्चा शूर सब कुछ धणी (स्वामी) के हेत (=प्रेम) में करता है—वह इन्द्रियों से इसीलिए जूझता है कि वह भीतर बैठे प्रकाश को पा सके। मैदान (रणक्षेत्र) में जिस प्रकार शूर अन्तिम क्षण तक जूझता और प्राण देता है स्वामी के हेतु उसी प्रकार भक्त भी। भक्त की पहचान यही है कि उसका जीवन सतत संग्राम बना रहे वासनाओं-विकारों से जूझने में। पुरजा (फा०) पुरजा-पुरजा होना=टुकड़े-टुकड़े होना। खेत छांड़ना=मैदान से भाग खड़ा होना। तऊ न (472, 492)। खेत में पड़ना 660

तुल० कबीर करिए तौ करि जाणियै सारीषा सूं संग।
लीर लीर लोई थई, तऊ न छांड़्या रंग॥ 472

कबीर खेत न छांड़ै सूरिवां, झूझै द्वै दल मांहि।
आसा जीवन मरण की, मन मैं आंणें नांहि॥ 10॥ 662

भावार्थ : कबीर ने रण शूर के सादृश्य से भक्त शूर का चित्रण किया है इस अंग में। रण में शूर दो दलों से जूझता है इसी प्रकार भक्त द्वैत भाव से—एक ओर आत्म बल दूसरी ओर इन्द्रियपरक विषय भाव। जिस प्रकार रणवीर खेत नहीं छोड़ता उसी प्रकार साधक इस युद्ध से डर कर भागता नहीं, लड़ता है। आसा=इच्छा (176) भक्त 'आसा जीत' होता है (176) आसा जीत=द्वन्द्वातीत—जीने-मरने से मोह नहीं।

कबीर अब तौ झूझत ही बणैं, मुड़ि चाल्या घर दूरि।
सिर साहिब कूं सौंपये, सोच न कीजै सूर॥ 11॥ 663

भावार्थ : कबीर कहते हैं जब ओखली में सर दिया तो डरना क्या? जब इन्द्रियों से युद्ध ठान दिया तो पीछे लौटने की बात ही नहीं उठती है—'मुड़ि चाल्या घर दूरि।'

अब तो इस युद्ध में विजय का उपाय यही है कि स्वामी से प्राप्त इस तन-सिर को उसे सौंप दो निश्चित हो जाओ। मृत्यु से तरने का एक ही उपाय है सिर सौंपना, जीवत-मृतक होना, राम के भरोसे रहना। 'साधू अंग न मोड़हीं ज्यूं भावै त्यूं खात।' (86)

सिर साहिब कूं सौंपिये—

दादू तनमन काम करीम कैं, आवै तो नीका।
जिसका तिसको सौंपिए, सोच क्या जीय का॥
जो सिर सौंप्या राम कौं, सो सिर भया सनाथ।
दादू जे ऊरणि भया, जिसका तिसकै हाथ॥

सोच<शोचनम् = शोक-खेद। **सिर सौंपना** अर्थात् जीवन-शरीर से निस्संग होना। समर्पण-भाव से ही निस्संगता-अनासक्ति सम्भव है। **बणं** = बनता है (668)

कबीर अबतौ अैसी ह्वै पड़ी, मन का रुचित कीन्ह।
मरनैं कहा डराइए, हाथि स्यंधौरा लीन्ह॥ 12 ॥ 664

भावार्थ : कबीर सती-सूर को एक समान मानते हैं भक्त को ऐसा ही होना चाहिए—इनको प्राण से भय नहीं। सती जब स्यंधौरा = सिंहोरा = (सिंदूरदानी) लेकर पति के साथ जलमरने को चलती है तो उसकी इच्छा की पूर्ति होती है इसलिए उसे शोक नहीं, आह्लाद होता है। भक्त को भी इसी प्रकार होना चाहिए—जब भगवान से नाता जोड़ लिया तो मृत्यु का क्या भय? उसी को सिर सौंपे—यह तो भक्त के लिए अत्यन्त रुचि की बात है। **हाथ सिंधौरा लेना** = चिता में पति के साथ जल मरने को उद्यत होना। **सिंदूर** > सेंदुर, सेन्दुर। सिन्हौरा = सेन्दुर रखने का लकड़ी का बना पात्र। सिंदूर को 'शृंगार भूषण' भी कहते हैं **ऐसी ह्वै पड़ी** = ऐसी आ पड़ी अर्थात् ऐसी स्थिति हो गयी है। **पड़ी**<पत् (361, 471) **रुचित** = मन को अच्छा लगनेवाला। रुच्; रुचिर = सुंदर मनोहर।

कबीर जिस मरने थें जग डरै, सो मेरे आनंद।
कब मरिहूं कब देखिहूं, पूरन परमानंद॥ 13 ॥ 665

भावार्थ : मृत्युभय, कालभय सब से बड़ा भय है। भव-भय पर विजय पाने के लिए जीवन-मृत्यु के द्वन्द्व से ऊपर उठना होगा। यही गीता के शब्दों में 'तरन्त्येव मृत्युं' (13.25); 'मृत्यु संसार सागरात्।' (12.7)।

कबीर का बल दृष्टिकोण पर है—भक्त अपने दृष्टिकोण के कारण दुःख में आनंद का अनुभव करता है। दुःख या मृत्यु जीवन के अनिवार्य अंग पर हैं पर यदि हमारे सोचने का ढंग सकारात्मक हो तो उसमें भी आनंद का भाव संभव है। जगत् मृत्यु से भागता है संत उसका आलिंगन करता है सिर सौंपकर। इस समर्पण से दुःख सुख में बदल जाता है। उस पूर्ण परमात्मा को जो अव्यय-अनादि है इन्द्रियों से

परे होने पर ही देखा जा सकता है क्योंकि वह गुणातीत है। भक्त का परमात्मा 'परमानंद' है—वह परम पुरुष ही भक्त का भरतार है (757)। उससे एकत्व भाव प्राप्त करना ही आनंद है। यही सामरस्य है 'प्रसाद' के शब्दों में।

मध्यकालीन संत साधक मानते थे शरीर बाधक है पंचभौतिक होने से अतः मनुष्य पंच तत्त्व को मारे या जीवत होते हुए मृतकवत् रहे। जब तक शरीर है तब तब तक आसा = इच्छा, मोह। इच्छा बंधन का मूल है। सूफियों ने भी मरण को धर्म माना है—सूफी काव्यों में नायक-नायिका दोनों ही विरह-मृत्यु से एक बार मरते हैं उसके बाद विरह समाप्ति पर भोग भोगते हैं। सूफियों का यह ऐहिक प्रेम-भोग कबीर में नहीं है। कबीर का प्रेम केवल उस अविगत से है। तुल० **पदमावत** में रतन सेन का पदमावती के प्रति प्रेम :

जाकर जीव मरै पर बसा। सूरी देखि सो कस नहि हँसा॥
आजु नेह सौं होइ निबेरा। आजु पुहुमि तजि गंगन बसेरा॥

आजु अवधि सिर पहुँची कै सोचलेउं द्वै मुख रात।
बेगि होहु मोहि मारहु का पूंछहुँ अब बात॥ 261

रण में मरना सम्मानप्रद था—संत अध्यात्म युद्ध में मृत्यु चाहता है। तुल०

गए जे बाजन बाजते जिन्हहि मारन रन माहँ।
फिरि बाजन तेइ बाजे मंगलचार ओनाहँ॥ 274 पद०

खेत में मृत्यु प्राप्त करना 'मंगलचार' < मंगलाचार था। युद्ध प्राचीनकाल में जीवन का एक अनिवार्य अंग था इसीलिए युद्ध में मरण की महिमा—तत्कालीन संस्कृति की दी हुई भाषा है यह।

कबीर कायर बहुत पमांवहीं, बहकि न बोलै सूर।
काम पड़्या ही जांणिये, किसके मुख परि नूर॥ 14॥ 666

भावार्थ : कायर बढ़-बढ़ कर बातें करता है शूर नहीं, वह काम पूरा कर दिखाता है मैंदान में मरकर। किसका मुंह उज्ज्वल अथवा प्रकाशित है (नूर = प्रकाश) यह तो काम करने पर ही पता चलता है।

पमावहीं < प्रा० पमांय < प्रमाद = असावधानी, लापरवाही।

कबीर जाइ पूछौ उस घाइलैं, दिवस पीड़ निस जाग।
बांहणहारा जांणिहै, कै जांणें जिस लाग॥ 15॥ 667

भावार्थ : कबीर उस भक्त शूर की बात कर रहे हैं जो राम के विरह में घायल है जो रात-दिन पीर से व्यथित है और नींद से वंचित है। विरही को नींद कहाँ? बिरह का मारा ही विरह-घाव को जानता है या वह जानता है जिसने विरह-बान मारा है।

बाहणहारा = बिरहबान चलानेवाला अर्थात् गुरु—

'सतगुरु शब्द कमान ले बाहनलागे तीर।' 6

तथा, 'एक जो बाह्या प्रीति सों भीतर बिधा शरीर।' 6

'बाहणहारा क्या करें बाण न लागें स्याह।' 784

बाहना = चलाना (6) **बाहणहारा** गुरु है और **साहणहारा** शिष्य (617)।

कबीर घाइल घूँमै गहिभर्‌या, राख्या रहै न ओट।
जतन कीयां जीवै नहीं बणीं मरम की चोट॥ 16 ॥ 668

भावार्थ : गुरु के सबद की चोट मार्मिक होती है वह हृदय में धँस जाती है—फिर तो उस विरही शिष्य को न दिन को चैन न रात को नींद; उसकी मर्म-चोट छिपाए नहीं छिपता—वह तो गहबर रोता-चिल्लाता घूमता है—विरह की पीर से वह विह्वल रहता है, किसी भी यत्न से नहीं बचता। **बणीं** = बनी, **बनति** = बनब, बनता हो। गु० बनवुं, म० बण्णें। शूर तो मरना जानता है उसे उसी में आनन्द है। **गहभरा** < गह्वर = रुदन।

ज्यूं ज्यूं हरिगुण सांभलौं, त्यूं त्यूं लागै तीर।
लागैं थैं भागा नहीं साहणहार कबीर॥ 617

सारा बहुत पुकारिया पीड़ पुकारै और।
लागी चोट सबद की रह्या कबीरा ठौर॥ 618

सतगुरु साचा सूरिवां सबद जु बाह्या एक।
लागत ही म्वैं मिलि गया पड़्या कलेजे छेक॥ 619

कबीर ऊँचा ब्रिछ अकासि फल पंथी मूये झूरि।
बहुत सयानै पाच रहै, फल निर्मल परि दूरि॥ 17 ॥ 669

भावार्थ : कबीर अध्यात्मतत्त्व की ऊँचाई-दूरी की बात कर रहे हैं—यह अमृत फल उन्हीं को प्राप्त होता है जो कपट चतुराई छोड़कर इसके निकट आते हैं—यहाँ सयानप काम नहीं देती। यह निर्मल फल दूर है पर है सुलभ। सिर सौंपने पर मुक्ति मिलेगी ही। **परि** < परम् प्रा० परं, म० पर **झूरि** < झुर् = संतप्त होना (111)

बहुत सयाने पचि रहे = चतुरों छलयों को यह निर्मल आनंद नहीं मिलता। स्वामी तो सहज भाव पर ही मुग्ध होता है—चतुराई रीझै नहीं रीझै मन कै भाइ।' 652 भक्ति में कपट नहीं (633) **पचि रहै** = नष्ट हुए। **पचि** पच्, पच्यते। तुल० 'बहि बहि मरहु पचहु निज स्वारथ, जमको दंड सह्यो।'[1] तथा, साईं सूं साचा भया, रहसी सदा हुजूर॥ (657) तुल० पदमावत :

कंचन बिरिख एक तेहि पासा, जस कलपतरु इंद्र कबिलासा।
मूल पतार सरग ओहि साखा। अमर बेलि को पाव को चाखा॥
वह फर पावै तप कै कोई। बिरिध खाइ नव जोबन होई॥ 43

कबीर दूरि भया तौ का भया, सिर दे नेड़ा होइ।
जब लग सिर सौंपे नहीं, कारिज सिधि न होइ ॥ 18 ॥ 670

भावार्थ : प्रभु को पाने के लिए, लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विषय-विष से मुक्त होना होगा—शरीर से अनासक्त होकर सिर सौंपना होगा। लक्ष्य कितना भी दूर है तो क्या ? दृढ़ता-लगन-तत्परता-बलिदान से सब कुछ सुलभ है, सिद्धि के लिए सतत साधन। दूर उसके लिए जो सच्चा नहीं साधना-उद्यम के प्रति और निकट उसके लिए जो सतत उसका सुमिरन करता है। लक्ष्य की दूरी महत्त्वपूर्ण नहीं महत्ता है अपने योग की, युक्ति की। नेड़ा<निकट 268, 766)

कबीर घटि बधि कहीं न देखिए ब्रह्म रह्या भरपूरि।
जिनि जान्या तिनि निकटि है दूरि कहै ते दूरि ॥ 765

कबीर यह घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि।
सीस उतारै हाथ करि, सो पैसे घर माँहि ॥ 19 ॥ 671

भावार्थ : कबीर हरि भक्ति को सिर का सौदा बताते हैं—यहाँ शरीर की आसक्ति नहीं, अहंकार नहीं। हरि-मन्दिर में पैसने (प्रवेश) करने के लिए जीवन का मोह छोड़ना होगा। सिर को ऊँचा करके चलना अहंकार है इसलिए सिर को सौंपना। कबीर का कथ्य है ऐसा बलिदान बिरले ही करते हैं। यह घर खाला (अरबी खाल:)=मौसी का नहीं जहाँ मौज-मस्ती है।

विवृति : कबीर ने सीस उतारना, सिर सौंपना को 'सूरातन अंग' में बार-बार दोहराया है। शूर वही है जो सर की बाजी लगावे स्वामी के हेतु। **उतारना** (1) बाहर निकालना, (2) पार करना, (3) ऊपर से नीचे लाना यथा मैदान उतारना (637), (4) अलग करना यथा कपड़ा उतारना; सीस उतारना (6 2, 675) सं० में अंतिम अर्थ नहीं है। पैसे=पैठे=प्रवेश करे (विश्, प्रविशति 477)। पैठा<प्रविष्ट।

कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध।
सीस उतारि पग तलि धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद ॥ 20 ॥672

भावार्थ : कबीर ईश्वर के घर को विशिष्ट (निज) मानते हैं (खाला के घर के विरोध में)। यह घर सहज नहीं है खाला के घर सा। यह अगम है, अगाध है, इसे पहुँचने का मार्ग दूभर है अर्थात् सब नहीं पहुँच सकते। ईश्वर-प्रेम का स्वाद वही पाता है जो अपने शरीर की चिन्ता न करे, जो अहंकाररहित हो, जिसने सर को विनम्रता से पैरों के नीचे रख लिया हो। 'दुर्गम पथस्तत् कवयो वदन्ति।' उपनिषद्

विवृति : [सूफी संत शरफुद्दीन कलन्दर का कहना है : आशिक अपनी अनानीयत= अहंकार खत्म कर दे, अपने अस्तित्व को समाप्त कर दे—यही प्रेम है। जिसने आकिंचनता का राज्य पा लिया है उसके लिए बादशाहों के ताज जूतियों के तले बराबर है।]

निज<सं० निज=अपना, सहज, विशिष्ट, जो सदा रहे। 'राम नाम निज सार' 1/231 सू० 'तुम मधुकर निरगुन निजु नीके।' 10.3763

राम भक्तवत्सल निज बानौ 1/11 सू० तथा
तुम्हरे दरस भक्ति निजु पाई । 10.4094 सू०

कबीर प्रेम न खेतौं नीपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ ।। 21 ।। 673

भावार्थ : प्रेम जीवन का सार तत्त्व है---प्रेम उस ईश्वर से । सूफी लोग इसे 'आशिके खुदा' कहते हैं । कबीर का कथ्य है इस प्रेम पर राजा-प्रजा सब का समान अधिकार है शर्त यही है कि एतदर्थ सिर देना पड़ेगा अर्थात् अहंकार को निर्मूल करना होगा ।

यह प्रेम खरीदा नहीं जा सकता है किसी हाट से और न इसे किसी द्रव्य की भाँति खेत में पैदा किया जा सकता है । यह भीतर से उपजता है, यह आत्मज्योति है, आत्मरस है, आत्मिक आनन्द है । यह हृदय की भीतरी गुहा में है उसके पाने के लिए विषयों के मुँह मोड़ना होगा **नीपजै**<निष्पद्यते, णिपज्जइ = (पद्) उत्पादन 'शस्य-निष्पत्तिः' । (सा० 30, 130, 465) । **हाटि** (316)<हट्ट । **सिर देना** = सिर काटकर सौंपना । **ले जाइ** = पावे (676) लभते = पाता है ।

कबीर सीस काटि पासंग दिया, जीव सरभरि लीन्ह ।
जाहि भावै सो आइ ल्यौ, प्रेम आघ हम कीन्ह ।। 22 ।। 674

भावार्थ : कबीर कहते हैं प्रेम के सौदे में तराजू को समतौल करने के लिए, पासंग रूप में सिर को देना पड़ता है । पसंगा ठीक हो तब तुला **सरबरि** = बराबर होगी अर्थात् जीव ब्रह्मवत् तब होगा जब अहंकार को, खुदी को मिटा दे । प्रेम एक मूल्यवान् सौदा है यह सब के बस का नहीं – हमने ऐसा सौदा कर लिया है । और जो चाहे ऐसा करके ईश्वर के प्रेम को पावे ।

विवृति : पासंग<फा० पारसंग, **सरभरि** = सरबरि = समसरि प्रा० सरि<सदृक् = बराबर, *समसर ।

सूरसागर : जाकैं सरबरि नहि अमरावति । 10,4195
ताकी सरबरि करै सो झूठौ । 1.234
कृष्ण पद मकरंद पावन और नहि सरबरन । 1.308

रामचरित मानस : हमहि तुम्हहि सरबरि कसि नाथा । 1.282

कबीर सूरै सीस उतारिया, छाड़ै तन की आस ।
आगे थैं हरि मुलकिया, आवत देख्या दास ।। 23 ।। 675

भावार्थ : कबीर मृतक होने पर, आशा छोड़ने पर, आसक्ति छोड़ने पर बल देते हुए कहते हैं कि जब भक्त ने (शूरवीर सेवक ने) सीस (अहंभाव) उतार कर फेंक दिया तब हरि स्वयं आकर मिलते हैं— वे ऐसे दास का स्वागत करते हैं । फिर दास को उनके पास पहुँचने की अपेक्षा नहीं ।

मुलकिया = मुलाकात (अरबी) किया ।

कबीर भगति दुहेली राम की, नहीं कायर का काम।
सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरिनाम ॥ 24 ॥ 676

भावार्थ : कबीर भक्ति को सुहेल नहीं दुहेल (दुःखकारक) बताते हैं—राम का घर खाला का घर नहीं। यहाँ सर उतारने-सौंपने पर ही प्रवेश सम्भव है। मोह का सर्वथा त्याग—न तन की चिन्ता न मन की। सर्व भाव से हरि स्मरण। भक्ति मार्ग कायर का नहीं शूर का है—शूर वह है जो मरने से न डरे, जो सब प्रकार से निर्भय हो। जहाँ भय है वहाँ राम कहाँ। भक्त को न काल का भय, न माया का। (653)

रैदास—'श्याम प्रेम का पंथ दुहेला।'

मृगावती—'देवस चारि एक रहहु दुहेली।' 196

चाँदायन—जाइ देहु मोहि खोलनि लोरिक कीन्हि दुहेलि। 232

दुहेल < दुःख बहुल = दुःख युक्त लेसी = लेती है, प्रा० लेइ < लभ् = लेना लभते > प्रा० लहेइ।

[सुहेल < सुख बहुल = सुखयुक्त।]

कबीर भगति दुहेली राम की, जैसी खंड की धार।
जे डोलै तो कटि पड़ै, नहीं तो उतरै पार ॥ 25 ॥ 677

भावार्थ : राम भक्ति दुहेल (कष्टमय) है, यह खड्ग की धारसदृश है—इस धार पर चलना सहज नहीं जरा भी विचलित हुआ (विषयों की ओर मन बढ़ा) तो बरबादी विनाश आदि। संयमपूर्ण रहा तो पार हो गया अर्थात् कसौटी पर खरा उतर गया।

उपनिषद् में है 'सुरस्यधारा निषिता दूरत्यया।'

पार उतरना = भव सागर से मुक्ति। उत्तरति प्रा० उत्तरइ।

भगति दुहेली राम की, जैसी आग्नि की झाल।
डाकि पड़े ते ऊबरे, दाधे कौतिकहार ॥ 26 ॥ 678

भावार्थ : कबीर राम भक्ति को खड्ग की धार, अग्नि की लपट बताकर कहते हैं यह दुहेल (कष्टप्रद) है। चलते बने तो सफल भक्त नहीं तो विनाश। 'डाकि पड़े तो ऊबरे' अर्थात् जो संयम से अहंकार छोड़ सके वे तो उबरे, भव-सागर से पार हो गए।

विवृति : खड्ग की धार पर चलना, आग डाकना असाधारण शौर्य-साहस-संयम का काम है इसीलिए यह सादृश्य। झाल < *झल्ल = लपट, लौ। 389 डाकि पड़े, डाकना = कूदकर पार करना* डग = कदम म० डगणे। ऊबरे < प्रा० उव्वरिअ < उद्वृत उदवर्त = शेष बचा हुआ, अधिक। कौतुक = खेल, तमाशा। कौतुकहार = कौतुक करनेवाला = खेलाड़ी।

खड्ग पर चलना और आग का कौड़ा डाकना बड़ी साधना और संयमित जीवन से सम्भव है। भक्त को सब ओर से मन बटोरकर राम में लगाना पड़ता है।

ऊबरे : राम सनेही ऊबरे विषयी खाये झारि ॥ 378

तिणका बपुड़ा ऊबर्‌या गलि पूरे के लागि ॥ 119

दाधे < दग्ध = जल गए। 118, 119

कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार।
ग्यान खड्ग गहि काल सिरि, भली मचाई मार ॥ 27 ॥ 679

भावार्थ : कबीर कहते हैं जिसके पास ब्रह्म-ज्ञान का खड्ग है, जो ईश्वर प्रेम के घोड़े पर सवार है वही विषयों से जूझ सकता है— रार मचाना = रार मांडना = लड़ाई करना। चेतन = चैतन्य = ब्रह्म। काल से जूझकर भयमुक्त होना। सचेत व्यक्ति ब्रह्म है।

चेतन : चेतनि चौकी बैसिकरि सतगुर दीन्हां धीर।
निरभै होइ निसंक भजि केवल कहै कबीर ॥ 23
कबीर कोई एक राखै सावधान चेतनि पहरै जागि। 559
चित चेतनि मैं गरक ह्वै चेत न देखे मंत। 589

कबीर हीरा बणजिया, मँहगे मोलि अपार।
हाड़ गले माटी गली, सिर साटै ब्यौहार ॥ 28 ॥ 680

भावार्थ : कबीर भक्ति को हीरा कहते हैं—यह मँहगा सौदा है यह अमूल्य है। हीरा का व्यापार करना दुहेल है—इसमें तन-मन को सौंना पड़ता है प्रभु को। य, सिर का सौदा है। इसमें शरीर गल जाता है, हाड़-हाड़ विनष्ट होता है।

हीरा कबीर हरि के नाउं सूं प्रीति रहै इकतार।
तौ मुख हैं मोती झड़ैं हीरा अंत न पार ॥ 557
अमृत बरसै हीरा निपजै। 169
सायर माहि ढँढोलता हीरे पड़ि गया हथ्थ। 156
कबीर हरि हीरा जन जौहरी, ले ले मांडी हाटि।
जब र मिलेगा पारिखू, तब हीर्या की साटि ॥ 740

बणजिया = वणज (मराठी) < वाणिज्य = बणजी। वणजारा, बनजारा

साटैं < प्रा० सट्ट = विनिमय = सट्टा मराठी सांटे (सांटणे) गु० सांट्ठ, पं० सांटी मराठी सांटोबाटी = अदला बदल।

ब्योहार < व्यवहार = लेनदेन, वाणिज्य, सौदागरी।

कबीर सिर सांटै हरि सेविये, छांणि जीव की बांणि। 683

कबीर जेते तारे रैणि के, तेते बैरि मुझ।
धड़ सूली सिर कंगुरै, तऊ न बिसारौं तुझ ॥ 29 ॥ 681

भावार्थ : कबीर हरिभक्ति पर अपनी दृढ़ता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मुझे कितना भी मेरे शत्रु पीड़ित-दण्डित करें मैं अपने रास्ते पर ही चलूँगा। मैं जानता हूँ, इस संसार-समाज में मेरे विरोधियों की संख्या उतनी है जितनी आकाश में तारे हैं—सम्भव है कि कोई (बादशाह) हमारे सर को कटवा कर कंगुर (फा० कंगुरः = किले या

बड़े मकान की दीवारों पर बने बुर्ज) पर लटका दे और धड़ (शिरविहीन शरीर) को शूली पर लटका दे पर इसकी चिन्ता मुझे नहीं। मैं अडिग हूँ अपने विचारों पर। महान् से महान् कष्ट की परवाह नहीं।

विवृति : धड़<प्रा० धड, *धड। सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में 'धड' प्रयुक्त। पं० धड़्।

सूल<शूल प्रा० सूल, गु० सूल पं० सूल ओ० सुल।

बिसारना<विस्मारयति (457.560) 'अलष बिसारया लेष में, बूड़े काली धार। 457

कबीर जे हार्‌या तो हरि सवां, जे जीत्या तौ डाव।
पारब्रह्म कूं सेवता, जे सिर जाइ त जाव॥ 30 ॥ 682

भावार्थ : कबीर सांट (विनिमय) की बात कर रहे हैं—सिर की बाजी लगाकर प्रिय परमात्मा को प्राप्त करना है। यह सौदा ऐसा है कि हारने पर भी सुख और जीतने पर भी—हारेंगे तो हरि सवां<सम, समान अथवा हरि के साथ यदि जीतेंगे तो अपना दाँव है। इस प्रकार उस पारब्रह्म<परमब्रह्म (330) की सेवा करते उसका सुमिरन करते जो भी कष्ट हो स्वीकार है। 'इक नाम बिना सब जम का दांव।' कबीर

पारब्रह्म पति छांड़ि करि, करै मानि की आस। 330

विवृति : सवां<समान। सवां, सिउ<समम्=साथ। (01); डाव=दांव=चाल=जीत का पांसा, बारी, सं० दातु (ऋवे०)=भाग; का० दाव्, गु० दाव्, डाव, ने० दाउ, हिं० दाँउ।

कबीर सिर साटै हरि सेविये, छांडि जीव की बांणि।
जे सिर दिया हरि मिलै, तब लग हांणि न जांणि॥ 31 ॥ 683

भावार्थ : कबीर प्रेय और श्रेय के द्वन्द्व की चर्चा करते हुए कहते हैं जीव (सांसारिक प्राणी) विषयोन्मुख रहता है और भक्त हरि मुख। हरि की प्राप्ति में सिर भी देना पड़े तो श्रेयस्कर है—अन्ततः यह सौदा लाभ का ही है क्योंकि इसमें मूल की रक्षा होती है।

जीय की बांनि (1) 'कहै कबीर यामैं झूठ नाहीं, छोड़ि जीय की बांनि।
राम नाम निसंक भजि रे न करि कुल की कांनि॥ 15 केदारो
(2) कबीर मन के मते न चालिये छांड़ि जीव की बांणि।
ताकू केरे सूत ज्यूं, उलटि अपूठा आंणि॥ 273

मन की बान (<वर्ण=स्वभाव) सुख की ओर होती है, वह कष्ट से भागता है। हरि-भक्ति का सौदा सुहेल नहीं दुहेल है इसलिए मन को विषय से मोड़ना होगा।

कबीर टूटी बरत अकास थैं, कोइ न सकै झड़ झेल।
साध सती अरु सूर का, अणों ऊपिला खेल॥ 32 ॥ 684

भावार्थ : कबीर साधु-सती-सूर की कष्टपूर्ण साधना की बात कर रहे हैं—इनका जीवन अणीं (<अणि-अणी) नोंक पर रहता है जरा सा चूके तो विनाश। कलाबाज नट रस्सी पर चलने का खेल दिखाता है—यदि जरा भी चूका या रस्सी टूटी तो गिरा। उस गिरने के कष्ट को झेलना दुहेल है। [अथवा इन साधकों का जीवन तलवार की धार पर चलने के सदृश है जरा भी चूके तो गए।] खड की धार (677)

'अनी सुहेली सेल की पडतां लेइ उसास।' 607 'भाई रे अनी लड़ै सोइ सूरा।'

अणी ऊपिला खेल = नोंक पर खेल करना। अनी लड़ना। झाड़ <प्रा० झड, झडइ = गिरना। झेल, झेलना <*झेलति। बरत<वर त्रा (अवधी बरत = मोटी रस्सी, बिहारी, बरती = सन का मोटा रस्सा) टूटी = टूट गई (524, 498)

कबीर सती पुकारै सलि चढ़ी, सुनि रे मीत मसान।
लोग बटाऊ चलि गये, हम तुम रहे निदांन ॥ 33 ॥ 685

भावार्थ : सती की वीरता और दृढ़ता पर कबीर कहते हैं कि सती-शूर किसी साथी की अपेक्षा नहीं रखते वे अकेले ही जूझते हैं। सती अकेले श्मशान में चिता पर पति के साथ जलती है, सूर प्राण रहते अकेले मैदान में जूझता है—बटाऊ (राहगीर) या दर्शक आते जाते हैं। मृत्यु आलिंगन के लिए केवल साहस चाहिये, कोई साथी नहीं। सत्याग्रही 'इकला चलो रे' में आस्था रखता है। कबीर की साखियाँ सदा प्रेरक रहेंगी। सालि<शर = चिता।

बटाऊ<प्रा० वट्ट<वर्त्मन्। बटाऊ = राहगीर।
निदान (सं०) = अंत 383।

कबीर सती विचारी सत किया, काठौं सेज बिछाइ।
ले सूती पीव आपणां, चहुँ दिसि अग्नि लगाइ ॥ 34 ॥ 686

भावार्थ : कबीर का बल सत्य निर्वाह पर है—सती सत करती है अर्थात् पति के साथ जलकर सत्य या पातिव्रत धर्म की रक्षा करती है। सत्याग्रही सती की भाँति है वह किसी की प्रतीक्षा नहीं करता सत्यपालन में—उसे मृत्यु से भय नहीं। सती के लिए चिता वही सुख देती है जो पिय के साथ सेज।

कबीर का बल दृष्टिकोण पर है—कठिन से कठिन कार्य भी सहज है यदि उससे आत्मीयता हो।

कबीर सती सूरातन साहिकरि, तन मन कीया घांण।
दीया महला पीव कूँ, तब मड़हट करै बषाण ॥ 35 ॥ 687

भावार्थ : कबीर का आदर्श सती है शूरत्व की साधना की दृष्टि से। सती सत करने के लिए मृत्यु से डरती नहीं उसका आलिंगन करती है—'तन-मन घांण' = तनमन को घानी की भाँति पेर डालने को तैयार हो गयी। वह अपना महल (अरबी) = घर =

शरीर अपने पीव को समर्पित करती है। उसकी शूरता-निर्भीकता को मड़हट (मर-घट्ट=श्मशान) भी बखानता है। **सूरातन साहि** (653) घांण=प्रा० घाण, पं० घान।

कबीर सती जलन कूं नीकली, पीव का सुमिरि सनेह।
सबद सुनत जीव नीकल्या, भूलि गई सब देह॥ 36 ॥ 688

भावार्थ : सती के लिए उसका प्रिय ही सब कुछ है। उसके साथ वह चिता पर जलने को, उस प्रिय का स्नेह स्मरण कर निकल पड़ती है—उसे अपनी देह अपने महल को सुधि नहीं रह जाती क्योंकि उसका तन-मन सब समर्पित है पति को।

'सबद सुनत जीव नीकल्या' में **सबद**=शब्द ईश्वरीय ध्वनि है।

(i) **सतगुर सबद न मानई जनम गँवाया बादि।** 290

(ii) कबीर **सबद** सरीर में बिन गुन बाजै तंति। बाहरि भीतर भरि रह्या, तार्थं छूटि भरंति॥ 611

पदमावत : 'हाड़ हाड़' महँ **सबद** सो होई। नस नस मांह उठै धुनि सोई। 262 **सबद ओनांउ**। 603 'उठा सो **सबद** जाइ सिव लोका।' 209

बोलाह **सबद** सहेली कान लागि गहि मांथ।
गोरख आइ ठाढ़ भा उठु रे चेला नाथ॥ 303 पद०

तुम्ह पर **सबद** घटइ घट केरा। मोहि घट जीउ घटत नहिं बेरा। 259

कबीर सती जलन कूं नीकली, चित धरि एक बमेक।
तन मन सौंप्या पीव कूं, तब अंतरि रही न रेख॥ 37 ॥ 689

भावार्थ : भक्ति में प्रिय से अभेद होना चाहिए—जब तक भेद-अन्तर है तब तक सहज मिलन नहीं। अभेद भाव के लिए तन मन सब प्रिय को सौंपना पड़ता है। सती के मन में और प्रिय में रेखा भर का आंतर नहीं। वह इसी एकत्व भाव से, सती होने निकल पड़ती है।

बमेक<विवेक=विचार 'चित धरि एक बमेक'=चित्त में एक बात दृढ़ निश्चय कर लेना। **सौंप्या**=सौंपा 'जाकौं तनमन सौंप्या, सो कबहूँ छोड़ि न जाइ। 651 **नीकली** (451)

अंतरि=अंतर=आंतर, अलगाव, भेद 'सतगुर परचै बाहिरा **अंतरि** रह्या अलेष।' 455 **अंतर रहना**=भेद रहना 'हरि बिच घालै अंतरा। 319 तु० 507

कबीर हौं तोहि पूछौं हे सखी, जीवत क्यूं न मराइ।
मूवां पीछें सत करै, जीवत क्यूं न कराइ॥ 38 ॥ 690

भावार्थ : कबीर का बल जीवत मृतक पर है। पति की मृत्यु पर सत करना=उसके साथ जल मरना—यह तो सामान्य बात है। अच्छा तो यह हो कि हम जीवित रहते हुए मृतक रहें—अर्थात् तनमन सौंप कर उस परमब्रह्म से एकत्व प्राप्त कर लें।

सती का पति परमेश्वर का प्रतीक है ।

कबीर ऐसा कोई न मिलै, राम भगति का मीत ।
तनमन सौंपे मृग ज्यूं, सुनै बधिक का गीत ।। 638

कबीर प्रगट राम कहि, छानैं राम न गाइ ।
फूस कजौड़ा दूरि करि, ज्यूं बहुरि न लागै लाइ ।। 39 ।। 691

भावार्थ : कबीर का बल हृदय-शुद्धि पर है—फूस कजौड़ा=कुविचार कुकर्म, नकारात्मक भाव । जब तक मन में संशय-भ्रम है तब तक भक्ति नहीं । भय रहित होना पहली शर्त है—कबीर का कथ्य है बीर बनो, राम चरित को खुल कर गाओ, राम मय बनो । छानैं=प्रछन्न, लुके छिपे । संसार क्या कहेगा उसे न सुनो । यदि निर्भय होकर राम से लौ लगाओगे तो फिर काल-ताप से दग्ध न होंगे । विकार रहेंगे तो कूड़े में आग लगेगी ही ।

छानैं (503, 509, 510) कजौड़ा=कूड़ा<कूट ।

कबीर हरि सब कूं भजै, हरि कौं भजै न कोइ ।
जब लग आस सरीर की, तब लग दास न होइ ।। 42 ।। 692

भावार्थ : कबीर का बल है सरीर की आसक्ति छोड़ने पर क्योंकि यही विषयों की ओर आकृष्ट होता है । श्रेयस पथ पर चलने के लिए तनमन को संसार—माया से हटाकर ईश्वर की ओर करना होगा ।

वह ईश्वर हम सब की चिन्ता करता है पर हम उसका सुमिरन नहीं करते—उसकी चिन्ता तभी होगी जब मन विषयों से हटेगा ।

भजना—भज् (1) स्वीकार करना (2) समर्पण करना, सेवा करना ।

दास=सेवक, गुलाम, समर्पित व्यक्ति ।

आप स्वारथ मेदनी, भगति सवारथ दास ।
कबीर राम सवारथी, जिन छांड़ी तन की आस ।। 41 ।। 693

भावार्थ : कबीर का बल है 'जब लग आस शरीर की तब लग दास न होइ ।' 'राम स्वारथी' वही है जो अपना तन-मन सौंप चुका हो राम को । भक्त वही है जो राम स्वारथी हो । आप स्वारथी=मतलबी तो दुनिया है क्योंकि सब का मन विषयों में फंसा है ।

मेदनी<मेदिनी=पृथिवी ।

□

46. काल कौ अंग

कबीर झूठे सुख कौं सुख कहै, मानत है मनमोद ।
खलक चबीणां काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद ॥ 1 ॥ 694

भावार्थ : काल के भय से सब त्रस्त हैं। जहाँ भय है वहाँ शांति नहीं। कबीर कहते हैं मृत्यु की तलवार हम सब पर लटकती रहती है फिर भी हम सचेत नहीं। हम विषय-सुख, जो क्षणिक है, को सारा सुख मानते हैं और आनंदित होते हैं। आत्म सुख स्थायी सुख है वही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। काल के लिए संसार चबैना सदृश है—कुछ भाग वह खा चुका है कुछ शेष है जिसे वह खानेवाला है। **झूठा**<प्रा० झुट्ठ। **चबीणां**<चर्वणा = चबाना; आलंकारिक—स्वाद लेना, आनन्द लेना।

कबीर आज कि काल्हि कि निसह में, मारगि माल्हंता ।
काल सिचाणा नर चिड़ा, औझड़ औच्यंता ॥ 2 ॥ 695

भावार्थ : कबीर कहते हैं कि काल सचाणा (बाज) नर (मनुष्य) रूपी चिड़ा (पक्षी) को औचिते हमलाकर डालता है। काल कब उठा ले जायगा इसे कोई नहीं जानता—आज-कल या रात में या मार्ग में। **सिचाण** = सचान < श्येन = बाज। **चिड़ा**<चटका, चटिका = चिड़िया। **औझड़**, पं० झोर = हमला करना। **औच्यंता**< *अपचिन्त, गु० उचितु हिं० अचिते (699) = अप्रत्याशित।

कबीर काल सिह्राणै यूं खड़ा, जागि पियारे म्यंत ।
राम सनेही बाहिरा, तूं क्यूं सोवै नच्यंत ॥ 3 ॥ 696

भावार्थ : कबीर का उद्‌बोधन है—जागो मीत, काल सिरहाने खड़ा है जब चाहे निगल जाय। निश्चित क्यों हो ? राम से अलग रहने में कल्याण नहीं अर्थात् तनमन सौंपकर राम में लौ लगाओ वही काल-भय से मुक्ति दिला सकता है। **सिरहाने**< *शिराधान (शिरस्+आधान) = शिर का जो आश्रय हो। **बाहिरा** (516) = बिना। **नच्यंत**, गु० नचिंत<निश्चिन्त = अचिंत (चिंता-)।

कबीर सब जग सूता नींद भरि संत न आवै नींद ।
काल खड़ा सिर ऊपरै ज्यूं तोरणि आया बींद ॥ 4 ॥ 697

भावार्थ : कबीर कहते है संत जानता है कि काल सिर ऊपर खड़ा है—वह उसी प्रकार दूर नहीं जा सकता जिस प्रकार तोरण पर आया दूल्हा नहीं हटाया जा सकता। जो

हरिभक्त हैं उन्हें रात दिन सचेत रहना पड़ता है कर्त्तव्य-धर्म के पालन में, नींद कहाँ ? जो सांसारिक हैं उन्हें ज्ञान कहाँ—जहाँ अज्ञानता है वहीं मौज-मस्ती है। तोरणि < तोरण = मुख्य द्वार, मेहराबदार फाटक मभा०। बींद < खावंद (फा०) = पति, स्वामी (खाविंद)।

कबीर आज कहै हरि काल्हि भजौंगा, काल्हि कहै फिर काल्हि।
आज ही काल्हि करंतिया, औसर जासी चालि ॥ 5 ॥ 698

भावार्थ : कबीर का उद्‌बोधन है—मनुष्य ! आज का कल पर न टालो, क्योंकि कभी कल नहीं आता आलसी, निरुद्यमी के लिए—। अवसर हाथ से निकल जाता है आज-कल करते। अतः, हरि का सुमिरण करो, उन्हें समर्पित करो, उन्हीं को भजो।

कबीर पल की सुधि नहीं, करै काल्हि का साज।
काल अच्यंता झड़पसी, ज्यूं तीतर कौं बाज ॥ 6 ॥ 699

भावार्थ : कबीर विषय-पाश में फँसे लोगों को चेतावनी दे रहे हैं—एक क्षण का तो पता नहीं। कब काल आकर धर दबोचेगा कौन जानता है ? ऐसी स्थिति में कल के साज-सामान की चिंता ? काल उसी प्रकार झपटकर काम तमाम कर देगा जैसे बाज तीतर को। झड़पना = झपटना*झप्प् ! अच्यंता < अचिन्त्य = एकाएक; तीतर < तित्तिर साज (459)

कबीर टुग टुग चोंघतां, पलपल गई बिहाइ।
जीव जंजाल न छाड़ई, जमि दिया दमामा आइ ॥ 7 ॥ 700

भावार्थ : कबीर काल के डंका बजने के पहले ही राम-प्रीति में जुटने के लिए सांसारिक प्राणी को सचेत कर रहे हैं। उनका कहना है जीव जंजाल (माया) में लिप्त है, पल-पल ऐसे ही बीतना जा रहा है थोड़े-थोड़े चुनने (खाने-पीने) में। यह सब धंधा छोड़कर मनुष्य को हरि की ओर लगना चाहिए।

जंजाल—(1) तुलसिदास सठ तेहि भजु छांड़ि कपट जंजाल। मा० 1, 211
(2) गृह कारज नाना जंजाला। मा० 1-38
(3) कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल। 40

टुग-टुग = टुक-टुक < *टुक्क = टुकड़ा-थोड़ा। चोंघता = चिन्वति; चि = चिनना, चुनना प्रा० चिणेइ = ईंटा आदि एकत्र करना; प्रा० चुणइ = दाना चुनना 'जो चिणियां सो ढहि पड़ै जो आया सो जाइ (704)।' पलपल, सं० पल 'कबीर पल की सुधि नहीं, करै काल्हि का साज। 699 छाड़ई = छाड़ता है प्रा० छड्डइ = छोड़ता है. प्रा० छंडइ = छांड़ता है (छांड़ि 651) छाड़िसी (471) दमामा (658) बिहाइ (498)। जंजाल < *उज्जाल गु० जंजाल म० जंजाल।

कबीर मैं अकेल ए दोइ जण, छेती नाहीं काइ।
जे जम आगैं ऊबरौं, तो जुरा पहूँती आइ ॥ 8 ॥ 701

भावार्थ : कबीर काल और जरा वृद्धावस्था दोनों से सावधान रहने की बात करते हैं—काल से कोई बचे भी (अर्थात् कुछ समय और जीवित रहे) पर जरावस्था तो आवेगी ही। और उस समय कुछ भी कर पाने की सामर्थ्य नहीं होगी। अतः उससे पहले सात्त्विक मार्ग पर चले—ईश्वर की भक्ति करे। **छेती नाहीं काइ** = किसी की समाप्ति नहीं। छेतु < छेद प्रा० छेअ = समाप्ति। **काइ** < का, किम्। **पहूंती** < प्रा० पहुत्त (पहुँचा) < सं० प्रभूत। प्रा० पहुँच्चइ 'आपुन मंदिर पहुँती जाई।' 1076 छिताई चरित।

कबीर बारीं बारी आपणीं चले पियारे म्यंत।
तेरी बारी रे जीया, नेडी आवै न्यंत ॥ 9 ॥ 702

भावार्थ : कबीर सचेत करते हुए कहते हैं—काल ने बारी-बारी सब को खा लिया—सभी मित्र चल बसे। हे जीव! तेरी बारी में तो वह नित (निश्य) निकट आ रहा है। अतः गाफिल न हो, राम भज। **बारी** < वार (2) **म्यंत** = मीत < मित्र। **न्यंत** = नित < नित्य। नेड़ी (670)

कबीर दौं की दाधी लाकड़ी, ठाढ़ी करै पुकार।
मति बसि पड़ौं लुहार कै, जालै दूजी बार ॥ 10 ॥ 703

भावार्थ : कबीर काल को दावाग्नि से सादृश्य देकर कहते हैं कि काल रूपी दाव से जली लकड़ी पुकार-पुकार कर हमें चेतावनी दे रही है कि एक दिन काल सबको खाता है। इसलिए ऐसा करे इस मृत्युलोक में आना ही न पड़े और न फिर जलना पड़े। **दौं** (336) दाधी, दाधे (678), ठाढ़ < स्तब्ध, स्तंभ्--काल (लुहार) के हाथ, **बसि पड़ना** (343) **दूजी** (दूजा 473, 582, 655) **बार** (702)।

कबीर जो ऊग्या सो आंथवै, फूल्या सो कुमलाइ।
जो चिणियां सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ ॥ 11 ॥ 704

भावार्थ : कबीर ज्ञान तत्त्व का उपदेश करते हैं—संसार में जो भी है नाशवान् है—जो आया है वह जायगा, जो उगा है वह अस्त भी होगा, जो आज प्रफुल्लित है वह कल मुरझा जायगा, जिसको आज एक-एक ईंट से चुनकर बनाया गया है वह कल ढहेगा। यह प्रकृति का नियम अटल है। इसलिए इस द्वन्द्व से ऊपर उठें—काल की निश्चतता समझ कर सत्कर्म-भक्ति में लगें। यह तत्त्वज्ञान है।

ऊग्या = उगा < उद्गमः (उद्+गम्) **आंथवै** = अस्त होता है < अस्त = गिरना, पतन। **कुमिलाइ** (329)।

कबीर जो पहर्‌या सो फाटिसो नांव धर्‌या सो जाइ।
कबीर सोइ तत्त गहि, जो गुरि दीया बताइ ॥ 12 ॥ 705

भावार्थ : कबीर नश्वरता से सीख लेने को कह रहे हैं—जिस प्रकार वस्त्र फट जाता है और प्रत्येक द्रव्य-वस्तु जिसका कोई नाम रखा गया है वह विनष्ट हो जाता है।

ऐसी स्थिति में ज्ञान यही है कि गुरु का बताया सार तत्त्व—रामनाम—गहे = पकड़े। यह ब्रह्म तत्त्व ही अनश्वर है।

पहर्‌या = पहना < परिदधाति (धा) वस्त्र पहनना, पहिरना। **फटना** < फट् स्फटित (510, 585) स्फाटयति = फाड़ता है **नांव धरना** = नाम रखना धृ प्रा० धरइ < धरति (353) नाउं धरावै (432) धारयति। सूर—काको **नाउ धरौं** तो आगैं 10.1976 **रूप धरयौ** 10.2154 **जाइ** (353, 362) **बताइ दिया** = बताया (482, 583)।

कबीर निधड़क बैठा राम बिन, चेतनि करै पुकार।
यह तन जल का बुदबुदा, बिनसत नाहीं बार॥ 13 ॥ 706

भावार्थ : कबीर सचेत करते हैं—यह शरीर पानी का बुदबुदा है—किसी समय भी विनष्ट हो सकता है। तुम्हारा चैतन्य (ब्रह्म) बार-बार तुम्हें बता रहा है कि विषयों में लगकर असावधान न रहो—निश्चित न बैठो सत्कर्म में लग जाओ; राम भक्ति ग्रहण करो, उस राम के बिना उद्धार नहीं। अतः राम भजो।

निधड़क तुल० धड़ाधड़;*धड् = धड़कना **रामबिना** = राग बाहिरा, बुदबुदा < बुदबुदः, बिनसत < विनश्यति। बिनसत नाहीं बार = जात न लागे बार (237) सततं जात विनष्टाः पयसामिव बुदबुदाः पयसि।' पंचतंत्र 5/7

कबीर पाणी केरा बुदबुदा, इसी हमारी जाति।
एक दिन छिपि जाहिगे, तारे ज्यूं परभाति॥ 14 ॥ 707

तुल० 'कहत सुनत जग जात है विषय न सूझै काल। 259

जाति < ज्ञाति। केरा = का, केरी (477) 'उदैभया जब सूर का स्यूं तारा छिपि जाइ।' (362) पाणी = पानी < पानीय।

कबीर यहु जग कुछ नहीं, षिन खारा षिन मीठ।
काल्हि जु बैठा माड़ियां, आज मसाणा दीठ॥ 15 ॥ 708

भावार्थ : कबीर इस जगत् को परिवर्तनशीलता—नश्वरता का बोध कराकर सांसारिक व्यक्ति को भक्ति की ओर मोड़ना चाहते हैं—यह संसार क्षण में सुखद क्षण में दुःखद—खारा = मीठा प्रतीक हैं दुःख-सुख का। अपनी बात को सुबोध बनाते हुए वे कहते हैं कल जो व्यक्ति सुखो था—सजा रहा था और भाँति-भाँति के निर्माण में व्यस्त था वही आज चल बसा—श्मशान पर जल रहा है। **खारा** = खार < क्षार। **मीठा** < मिष्ट। **बैठा मांड़िया** = मण्डन करते हुए आराम से बैठा था; मण्ड् (31) **मसाणा** = मसान < श्मशान 88, 256, **दीठ** < दृष्ट। **काल्हि** = बीता हुआ कल < काल्य = आने वाला दिन। प्रा० कल्ल, कल्लम, कल्लिम, कल्हिम = आने वाला कल, बीता हुआ कल; पं० कल्ह = बीता हुआ दिन आने वाला दिन (84, 262)। हि० काल्हि = बीता हुआ—आने वाला।

कबीर मंदिर आपणै, नित उठि करती आलि ।
मड़हट देष्यां डरपती, सो चौड़े दीन्हीं जालि ॥ 16 ॥ 709

भावार्थ : कबीर जीवन की नश्वरता पर बार-बार कहते हैं—जो स्त्री कल अपने महल में नित्य अलता (महावर) लगाती थी और जो मरघट से भय खाती थी वही आज खुले मसान में जला दी गयी । **आलि** अलक्तक=अलता, महावर । **चौड़े** (659)

कबीर मंदिर मांहि झबूकती, दीवा केसी जोत ।
हंस बटाऊ चलि गया, काढ़ौ घर की छोति ॥ 17 ॥ 710

भावार्थ : जीवन की नश्वरता को ध्यान में रखकर मनुष्य को भक्ति-पथ पर चलना चाहिए—कबीर कहते है जो कल अपने महल में दीपक-शिखा की जोति की भांति चमचमा रही थी उसी को हंस (प्राण) निकल जाने पर छूत मानकर घर से बाहर कर दिया जाता है ।

झबूकती=झमकती *झम्म्=झमकना=चमकना, झमकाना, म० झमकणें पं० झमकणा । **दीवा**<दीप । **सी**<सम अप० सिउँ । **हंस** (सं०)=आत्मा, विष्णु **बटाऊ**=(685) **काढ़ो** (462) **छोति**=छूति प्रा० छुत्ति*छुति; छुप् । **चलि गया**=चला गया, चल्, चलति, प्रा० चलइ ।

कबीर ऊँचा धौलहर, माटी चित्री पौलि ।
एक राम के नाउ बिन, जम पाड़ैगा रौलि ॥ 18 ॥ 711

भावार्थ : कबीर राम बिना सभी ऐश्वर्य सामग्री को व्यर्थ बताते हैं—ऊँचा धौलाहर है, प्रतोली पीली मिट्टी से चित्रित है पर यम तो छोड़ता नहीं—वह विनाश करेगा ही । अतः राम को सुमिरो । तुल० 706, 696

धौलहर (237) **चित्री**=चित्रित । **माटी**<मृत्तिका, पा० मत्तिका प्रा० मट्टी, मट्टिआ, पीली या मुलतानी माटी ।

पौलि (170) **पाड़ना** (655) **पाड़ैगा रौलि**=रौल डालेगा, मिटादेगा रालन, म० रालणो=रल् ।

कबीर कहा गरबिया, काल गहै कर केस ।
न जानूं कहाँ मारिसी, कै घर कै परदेस ॥ 19 ॥ 712

साखी 222 भी यही है । केस पकड़कर खींचने, युद्ध करने आदि की परम्परा रही है—'केशेषु गृहीत्वा—या—केशग्राहं युध्यन्ते । 'केशग्रहः खल तदा द्रुपदात्मजायाः ।'

कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गई सब तार ।
जंत्र बिचारा क्या करे, चले बजावनहार ॥ 20 ॥ 713

भावार्थ : कबीर प्राण-प्रयाण (मृत्यु) की बात बताकर हमें चेतावनी दे रहे हैं कि हम गाफिल न हों । यह शरीर-यन्त्र नश्वर है कभी भी इस यन्त्र को बजानेवाला या वादक

चल बसेगा। उस प्राण के जाने पर हम कुछ भी उद्यम न कर सकेंगे मुक्ति के लिए। अतः, जीते जी हमें हरि की ओट लेनी चाहिए।

कबीर धवणि धवंती रहि गई, बुझि गये अंगार।
अहरणि रह्या ठमकड़ा, जब उठि चले लुहार ॥ 21 ॥ 714

भावार्थ : कबीर प्राण छूटने की स्थिति पर मनुष्य की विवशता पर प्रकाश डालते हुए उसे सचेत करते हैं कि जीवित रहते वह परम सुख हरि भक्ति के लिए प्रयत्न करे।

कबीर का रूपक है जिस प्रकार लुहार के चले जाने पर धौंकनी बन्द, और ठहरण बेकार उसी प्रकार जीव-आत्मा के निकल जाने पर यह शरीर यन्त्र जड़।

विवृति : **धवणि**=धमणि=धौंकनी **धवंती**=धौंकती हुई; सं० धम्=फूंकना धमक= लुहार' धमन=धौंकने वाला, धम=धौंकने वाला यथा अग्निन्धम। **बुझि गये अंगार**=ईंधन (कोयला) बुझि गये (329) अंगार<सं० अङ्गारः जलता या बुझा हुआ कोयला। **अहरणि**<प्रा० अहिगरणी सं० अधिकरणी (261) **ठमकड़ा**=ठमकना, रुक जाना (चलते-चलते रुकना) ठमक, ठमठम<*ठम्म **उठिचले**=मृत्यु को प्राप्त हुए (आलं०) सं० 'तहि तर बेगि उठाइ।' 490 **लुहार**<लौहकार (703)।

कबीर निरभै राम जपि, जब लगि दीवै बाति।
तेल घट्या बाती बुझी, तब सोवैगा दिन राति ॥ 45

कबीर पंथी ऊभा पंथ सिरि, बुगचा बांध्या पूठि।
मरनां मुंह आगै खड़ा, जीवण का सब झूठ ॥ 22 ॥ 715

भावार्थ : कबीर प्रत्येक जीव को पथिक (बटाऊ 711) मान कर कहते हैं 'हंस बटाऊ' पीठ पर पोटली बाँधकर पंथ के किनारे खड़ा है पर सारी गठरी यहीं पड़ी रह जायगी। काल बाज की भाँति झपटकर समाप्त कर देगा। 'संत न बाँधै गाठड़ी।' 561

पंथी<पथिन्—पंथाः, पंथानौ, पंथानः। **पंथ सिरि** (72) **ऊभ** (215, 324) **बुगचा**<फा० बुग्चः=छोटी पोटली जो बगल में दबाई जा सके। **मरना मुंह आगे खड़ा**=मरण सामने उपस्थित। **पूठि** <पृष्ठ (343) **झूठ** (413,457)।

'कहै कबीर तन झूठा भाई, केवल राम रह्यौ लौ लाई।' 33 सोरठि

कबीर यहु जिव आया दूर थैं, अजौं भी जासी दूरि।
बिच के बासै रमि रह्या, काल रह्या भरपूरि ॥ 23 ॥ 716

भावार्थ : कबीर का कथ्य है मनुष्य किसी रहस्यमय स्थान से आया है, उसे दूर देश जाना भी है पर संसार (मध्य) में वह आनन्द मना रहा है जब कि **जासी दूरि**—'मजलसि दूरि महल को पावै।' 14 भैरू **दूरि**<दूर (कीया पयाना दूरि 411) **जासी** 698 **भरपूरि** 462।

कबीर जामण मरण बिचारि करि, कूड़े काम निवारि।
जिनि पंथौ [illegible] चालणां, सोई पंथ संवारि ॥ 224

बिचि (319) बासै<वास (462) रमि रह्या रम् = रमते = प्रसन्न होता है, आनन्द मनाता है (भोग में) अजौं<अद्य + एव । 'कबीर हरि की भगति करि, तजि विषया रसचोज ।' 245

कबीर राम रह्या तिनि कहि लीया, जुरहा पहुँती आइ ।
मंदिर लागै द्वार थैं, तब कुछ काढ्णां न जाइ ।। 24 ।। 717

भावार्थ : कबीर जरा और मृत्यु से भयभीत होकर परमार्थ पर बल दे रहे हैं—वृद्धावस्था से पहले जो भी हो सके कर ले---राम नाम ले ले । जरा आने पर इस मन्दिर (शरीर) के द्वार (मुंह) से तब कुछ भी निकालना (कहना) सम्भव होगा ।

काढणां (प्रा० कड्ढइ, हि० काढ़ना = निकालना, बाहर करना (462, 636, 711) पहूँतो (701---जुरा पहूँती आइ) ।

कबीर बरियां बीती बल गया, बरन पलट्या और ।
बिगड़ी बात न बाहुड़ै, कर छिटक्यां कत ठौर ।। 25 ।। 718

भावार्थ : कबीर जरावस्था के पूर्व कुछ करने की प्रेरणा दे रहे हैं—अवस्था बीतते ही बल चला जाता है, वर्ण रंग बदल जाता है, अतः जरा आने से पूर्व ही हरि भज लो । बिगड़ी बात फिर नहीं लौटाई जा सकती चाहे कितना भी, कहीं भी हाथ पटके ।

बरियाँ<वेला । बरन<वर्ण । पलट्या<* पलट्ट; 'पलटे केस नैन जल छाया, मूरिख चेत बुढ़ापा आया ।'

बिगड़ी बात—बिगड़ना<विघटते । बिगाड़ना<* विघाटयति । बात 'कबीर राम नाम जाण्या नहीं, बात बिनंठी मूलि ।' 242 बात<प्रा० वत्त<वार्त्ता, वृत्त । बात बिगड़ना = बात विनष्ट होना । छिटक्या *छिट् । कत (491) ठौर <स्थावर (159) । बाहुड़ै = लौटती है, बहुरती है<*व्याघुटति, बं० बाहुड़ा = लौटना । (207, 241)

कबीर बरियाँ बीती बल गया, अरु बुरा कमाया ।
हरि जिनि छाड़ैं हाथ थैं, दिन नेड़ा आया ।। 26 ।। 719

बुरा कमाया...कुकर्म किए । प्रा० कम्मइ, क्र कर्मयति...काम करता है* कर्मापयति...कमाता है । प्राप्त करता है ।

बुरा<*बुर पं० बुरा हिं बुरा ने० बुरो । बुरहा (88) । मृगावती, 'बुरहा-बुरही बाट ।' 177

छाड़ैं (700) हाथ से छाड़ना...हाथ से निकल जाने देना या छूड़ना । हाथ<हस्त । दिन नेड़ा आवा...मृत्यु के दिन निकट आ गए नेड़ा (370) ।

कबीर हरि सूँ हेतकरि, कूड़ै चित्त न लाव ।
बांध्या बार खटीक कै, ता पसु किती एक आव ।। 27 ।। 720

भावार्थ : मृत्यु निकट आई है ऐसा बताकर कबीर उद्‌बोधन कर रहे हैं—हे मनुष्य ! जैसे खटिक के द्वार बँधे पशु की कोई आयु नहीं वैसे तुम्हारे ऊपर काल की तलवार

लटक रही है। ऐसा समझ कर कूड़े कार्यों में (बुरे धंधे) में न लगाओ, हरि से हेत (प्रेम) कर।

हेत--(हरि सूं न लाया हेत 355); 'हरि सूं लागा हेत।' 659 कूड़ै चित्त न लाव...'कूड़े काम निवारि।' 224 'तजि विषया रस चोज' 245 बाँधा<बद्ध बार< द्वार खटीक< खट्टिक=कसाई।

कबीर बिष के बन मैं घर किया, सप रहे लपटाइ।
ताथैं जियरै डर रह्यो, जागत रैनि बिहाइ ॥ 28 ॥ 72।

भावार्थ : कबीर संसार को विष का वन कहते हैं--इस वन में विषय रूपी सर्प हैं जो मनुष्य से लिपट जाते हैं--इनसे मुक्ति कठिन है। कबीर अपने को इनसे मुक्त कर राम में लौ लगाना चाहते हैं। सर्प से भयभीत हैं कबीर इसी चिन्ता में रात जागते बीतती है। अर्थात् विषयी निश्चित, संत चिंतित। तुल० 110

बिहाइ<हा (498 : 700)।

कबीर सब सुख राम है, और दुखा की रासि।
सुर नर मुनियर असुर सब, पड़े काल की पासि ॥ 29 ॥ 722

भावार्थ : कबीर काल-पाश से सचेत कर रहे हैं लोगों को--सुख केवल राम में साथ लौ लगाने में है शेष सब संसार दुःख का मूल है। सुर-नर-मुनि सब काल में पिसते हैं।

कबीर काची काया मन अथिर, थिर थिर काम करंत।
ज्यूं ज्यूं नर निधड़क फिरै, त्यूं त्यूं काल हसंत ॥ 30 ॥ 723

भावार्थ : कबीर इस तन-देह की नश्वरता को बताकर ईश्वर में लौ लगाने पर बल देते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य काल पाश में फँसकर भी निश्चिंत है--मृत्यु को हँसी आती है मनुष्य की मूर्खता पर नश्वर होकर अनश्वर भाव से काम करना--समय को विषयों में विनष्ट करना, मन की चंचलता में फंसे रहना। (245)

कबीर रोवणहारे भी मूये, मूये जलावणहार।
हा हा करते ते मूये, कासनि करौं पुकार ॥ 31 ॥ 724

भावार्थ : जीवन की नश्वरता और काल की नित्यता पर बल देते हुए कबीर कहते हैं कि मनुष्य रोज देखता है सब को मरते हुए--जो शव को जलाता है वह सम्बन्धी भी मृत्यु को प्राप्त करता है जो किसी प्रिय के बिछुड़ने पर रोते हैं वे भी काल कवलित होते हैं--जो भी प्रिय की मृत्यु पर हाय-हाय करते हैं व भी मरते हैं अर्थात् सभी मरणशील हैं--कोई अनश्वर नहीं। किसे पुकारूं अर्थात् कोई सुनने वाला नहीं सब गफलत में हैं। उसी राम के सहारे रहो, उसी को भजो। तुल० 754

कबीर जिनि हम जाये ते मूये, हम भी चालणहार।
जे हमको आगै मिले, तिन भीं बंध्या भार ॥ 32 ॥ 725

भावार्थ : मृत्यु अवश्यम्भावी है इसलिए मृत्यु से पहले हम मूललक्ष्य हरि भक्ति की प्राप्ति के लिए करें। कबीर कहते हैं जिन्होंने हमें जन्म दिया वे चल बसे अब हमारी बारी है, हम भी कूच करनेवाले हैं। जिनको हमने जन्म दिया है वे भी भविष्य में चल बसेंगे क्योंकि वे भी भार से बँधे हैं।

भार—हलके हलके तिरि गये, बूड़े जिन सिरि भार।' 272
'इतथैं सबै पठाइये भार लदाइ लदाइ।।' 304
'कूड़ बड़ाई बूड़सी भारी पड़िसी काल्हि।' 262
'हमरै कौन सहै सिरि भारा।' 32 सोरठ

दादू 'मैं मैं मेरा तिनि सिरि भारा।

सं० भार, भृ<भारक मनुस्मृति।

बंध्या भार...भार बांधे हुए (सांसारिक मोह-मृत्यु आदि का बोझ)।

□

47. सजीवनी कौ अंग

कबीर सजीवनी<सञ्जीवन=पुनर्जीवन (सञ्जीवनी=एक प्रकार का अमृत जिसके सेवन से मृत पुनर्जीवित हो जाता है।) में उस अमृत विद्या (ब्रह्मविद्या) की चर्चा करते हैं जिससे मनुष्य आपा (अहंकार; मैं मेरा)—संकीर्णता-विनाशात्मक भावों की कुटिलता से मुक्ति पा सके। काल प्रतीक है मृत्यु का, विनाशात्मक विचारों का और राम प्रतीक है स्नेह-उदारता-उपकार और दान का। कबीर मानते हैं कि विष-अमृत दोनोंही मनुष्य के भीतर हैं—चुनाव का अधिकार हमें है।

जहाँ जुरा मरन ब्यापै नहीं, मूवा न सुणियै कोइ।
चलि कबीर तिहि देसड़ै, जहाँ बैद बिधाता होइ।। 1 ।। 726

भावार्थ : कबीर अमरत्व का मार्ग बता रहे हैं। विष-विषय में लग्न रहना मरण है और राम में लगा रहना अमरत्व। मनुष्य बटाऊ है सत्य-पथ का—इस धरती पर आने का लक्ष्य ही है सत्य को प्राप्त करना। नश्वर से अनश्वर, अंधकार से प्रकाश, कुटिलता से सहजता, दुःख से आनंद की ओर की यात्रा ही संजीवनी है। कबीर मानते हैं अमृत-वास इस घट में ही है पर मनुष्य उस मृग की भाँति भ्रम में है जो सुवास को बाहर ढूंढ़ता है—बाहर से भीतर लौटना ही अमृतत्व है यही 'उलटिसमाना माहि' है। कबीर ब्रह्म लोक में निवास चाहते हैं।

'इक राम नाम निज साचा, चित चेति चतुर घट काचा।'
'जीवत ही कछू कीजै, हरि राम रसाइन पीजै।
'मूरखि मनिषा जनम गंवाया, बर कौड़ी ज्यूं डहकाया॥' 34 सोरठि

कबीर की भाषा प्रतीकात्मक है। कबीर चाहते हैं मनुष्य जीवित ही जागे—जीते ही अमृतत्व प्राप्त करे; मृत्यु के बाद मोक्ष? 'राम रसाइन' ही संजीविनी है, वही हीरा है शेष सब कौड़ी। मनोवैज्ञानिक शब्दावली में विष नकारात्मक भाव हैं और अमृत संरचनात्मक विचार और कार्य।

कबीर जोगी बनि बस्या, खणि खाये कंद मूल।
नां जाणौं किस जड़ी थैं, अमर भया असथूल॥ 2 ॥ 727

भावार्थ : अमरत्व ही लक्ष्य है संत का—यह रहस्यमय है कि साधक किस जड़ी से संजीवनी अथवा अमरता प्राप्त करता है। कबीर ने उसे जड़ी को 'राम रसाइन' बताया है। तुल० 107 स्थूल शरीर = भौतिक और नश्वर; विरोधी, सूक्ष्म = जीवआत्मा।

कबीर हरिचरनूं चल्या, माया मोह थैं टूटि।
गगन मंडल आसण कीया, काल गया सिर कूटि॥ 3 ॥ 728

भावार्थ : हरिचरण में प्रीति लगाना ही संजीवनी है—मायामोह ही विष है। विष से अमृत को ओर जाना अर्थात् माया-भ्रम-दुविधा-संशय से दूर होना और सद्विचारों का ग्रहण करना। 'गगन मंडल' में आसन करना अर्थात् सतत आनंद में स्थित रहना—किसी भी संवेदना से विक्षिप्त न होना। यही काल को जीतना अथवा मोक्ष प्राप्त करना है, **काल गया सिरि कूट** = काल का भय विषयी को है संतों के पास वह नहीं फटकता कूट<कुट्टयति प्रा० कुट्टेइ = पीटता है, पीसता या टुकड़े-टुकड़े करता है। कूटना = सिर पीटना। धातु कुट्ट्। **तुकाराम**—"मेरे पास आओ और हरि नाम गाओ—यह नाम जप ही आपको उस अमरत्व तक पहुँचावेगा जहाँ मृत्यु का भय नहीं" 'राम कृष्ण हरि' मंत्र से दीक्षित थे तुकाराम।

कबीर यह मनु पटकि पछाड़ि लै, सब आपा मिटि जाइ।
पंगुल ह्वै पीव पीव करै, पीछैं काल न खाइ॥ 4 ॥ 729

भावार्थ : कबीर आपा (अहंभाव, जो भक्ति-पथ का शत्रु है) को मिटाने के लिए मन को पटकने-पछाड़ने-मारने की बात करते हैं। मन की चंचलता विषय की ओर उन्मुख होती है। मन मर जाय तो हरिभक्ति का मार्ग सहज हो। मन पंगुल कर दो अर्थात् उसकी अस्थिरता मिटा दो, भागे नहीं। यही मन जब भगवान के चरणों में लगेगा तब पीव-पीव पुकारेगा—राम कहेगा और जब राम में लौ लगावेगा तब सारे भय समाप्त।

विवृति : पटकना—पं० पटकणा; पट्। 'जब जम आइ केस गहि पटकैं तौ दिन कछु न बसाइगा।' कबीर। **पटकना-पछाड़ना** = पृथ्वी पर

जोर से पटकना या पछाड़ना। तुलसी 'मारे पछारे उर विदारे बिपुल भंट कहँरत परे।' 3/20 पछाड़ना प्रच्छट् गु० ने० म० काश्मीरी सभी में' पंगुला < पंगु 'चलता मनसा अचल कीन्ही मांहि मन पंगी।' कबीर। आपा मिटिजाइ (628,26) = मेरमिटी 576 मिटि जाइ (628)।

> कबीर मन तीखा कीया, बिरह लाइ खर सांण।
> चित्त चरणौं मैं चुभि रह्या, तहाँ नहीं काल का पांण ॥ 5 ॥ 730

भावार्थ : कबीर मन को संसार से हटाकर हरिचरणों में लगाने पर बल दे रहे है यही संजीविनी है। हरि के चरणों के पास काल नहीं पहुँचता। हरि से प्रीति के लिए मन को विरह सान पर तेज करना होगा अर्थात् बिरही सा जीवन बिताना होगा—पीत्र कर रट लगानी होगी।

तीखा<तीक्ष्ण। **सांण**<शाण 'हाँसी खेलौ' हरि मिलै तौ कौण सहै षर सांन, काम क्रोध त्रिष्णां तजै ताहि मिलैं भगवान।' 97 'काम बान खर सान संवारे।' सू० 10/2685 **खर** (सं०) 'चुभि रह्या, चुभना<*चुभ्-* चुंभति = धंस गया है। काश्मीरी चोंबुन = धंसाना।

> कबीर तरवर तास बिलंबिए, बारह मास फलंत।
> सीतल छाया गहर फल, पंखी केलि करंत ॥ 6 ॥ 731

भावार्थ : कबीर सजीविनी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—उस तरुवर (कल्पवृक्ष—राम) को छाया में ठहरे या रहे जो सदा फल दे, जहाँ शीतल छाया (आत्मसंतोष—शांति) मिले और जहाँ भरपूर फल हों; जहाँ सदा ही पक्षी रहस-केलि करते हों अर्थात् जहाँ आनंद ही आनंद है। विषयों में लगने के विरोध में है यह (745)। तरुवर प्रतीक है परम पुरुष का। गहर<प्रा० गहर = जंगल। (सुफल फल 732) केलि करना = आनंद युक्त क्रीडा करना—'रहसहि केली' पदमावत।

तरुवर को सत्कर्म, शुभ चिंतन, सात्त्विकभाव का प्रतीक मान लें तो जीवन सचमुच सुफल होगा।

बिलंबिए—लंब्, विलंब = देरी, विलंबते (1) लगा है (2) देर कर रहा है। पा० बिलंबति = चक्कर लगा रहा है घूम रहा है प्रा० विलंबइ पं० बिलमणा = ठहरना, ओ० बिलंबिबा, हि० बिलमना, बिलबना (प्रे० बिलमाना)। बिलंब्या 347 बिलंबे 745

> कबीर दाता तरवर दया फल, उपगारी जीवंत।
> पंषी चले दिसावरां, बिरषा सुफल फलंत ॥ 7 ॥ 732

भावार्थ : कबीर उस वृक्ष की बात कर रहे हैं जो सदा हरा-भरा रहता है, सदा सफल है—'भूमि बिना अरु बीज बिनु तरवर एक भाई।' तथा, 'सहज समाधि बिरष यह सींचा धरती जलहर सोषा।' कबीर। यह तरुवर राम अथवा ब्रह्मज्ञान है। वह दाता

है। दया फल है। अर्थात् वह दयावान है—सबका उपकारी है। उस वृक्ष के फल खाने को सभी पक्षी (जीव) उड़ चलते हैं उस दूर देस—दिसावर को। दिसावर = देश + अपर = परदेश, अपर लोक। कबीर जीव को परदेशी मानते हैं क्योंकि मूल देश ब्रह्मलोक है। 'अरे परदेसी पीव पिछांणि।' 'यह देस बिराना है।'

भौमि बिड़ाणी गैं कहा रातौ कहा कीयो कहि मोहि।
लाहै कारन मूल गमावै, समझावत हूँ तोहि॥ 13 केदारौ

तुल० कबीर यहु जिव आया दूरि थैं, अजौं भी जासी दूरि।
बिच के बासैं रमि रह्या, काल रह्या भरपूरि॥ 716

तथा, 'पंखि उड़ानी गगन कूं।' 143 'पाणि बाहुणी गगनकूं।' 142

हमारा जीवन दाता और उपकारी हो यही अध्यात्म की सीख है। वृक्ष से हमें यह गुण सीखना है। दाता = ईश्वर 'तुम्ह समान दाता नहीं।' 26 रामकली।

श्वेता श्वतर—'जो निश्चल वृक्ष की भाँति स्वर्ग में अकेला खड़ा है, उस पुरुष से यह संपूर्ण विश्व व्याप्त है।'

□

48. अपारिष कौ अंग

कबीर इस अंग में बता रहे हैं कि मनुष्य को है चुनाव करने का अधिकार—चाहे वह हरि के साथ जुटे चाहे विषय के साथ, चाहे वह अमृत चुने या विष, चाहे सद्विचार ग्रहण करे चाहे नकारात्मक। पदारथ—हीरा-मोती प्रतीक हैं आदर्श विचारों के और कौड़ी-कंकर, खोटा सिक्का प्रतीक हैं कुविचारों–संशयों–विकल्पों के। कबीर की मान्यता है कि मनुष्य सन्मार्ग का पथिक बने एतदर्थ 'हरि का हाथ' (571) = भगवत्कृपा सहाय है—शुद्ध मनवाला ही इस परमपथ का बटाऊ हो सकता है। मन की निर्मलता प्रयत्नमात्र से संभव नहीं—इसीलिए हरिचरणों में समर्पण। हंस और बक में प्रथम गुणपारिखी है दूसरा धूर्त पाखंडी–सारे कुभावों का प्रतीक।

कबीर पाइ पदारथ पेलिकरि, कंकर लीया हाथि।
जोड़ी बिछुटी हंस की, पड्या बगां कै साथि॥ 1 ॥ 733

भावार्थ : अज्ञानी और ज्ञानी अपारखी और पारखी का भेद—यहाँ अंकित है। सांसारिक व्यक्ति विषय-पाश में आनन्द मानता है जबकि ब्रह्म का उपासक मूल को ग्रहण करता है। वही मूल 'पदारथ' है (हीरा जैसा अमूल्य) या 'मोती' है। एक हंस की प्रकृति है दूसरी बकुले की। जीव परम ब्रह्म, परमात्मा (हंस) का ही अंश है, अज्ञान के कारण, हंस-भाव से अलग होकर, बक प्रवृत्ति को ग्रहण करता है।

विवृति : पाइ<पाद पदारथ<पदार्थ (संत साहित्य में पदारथ उत्तमवस्तु हीरा-मोती के आकूत में है) पेलि<प्रा० पेल्लइ = फेंकता है*प्रेलयति (प्रेरयति) बिछुटी = बिछुड़ी< वि + *क्षुद् प्रा० विच्छुडिअ = बिछुड़ी < *विक्षुटति । बगा<बक, अप० बग । कंकर <कर्कर = पत्थर का टुकड़ा ।

कबीर एक अचंभा देखिया, हीरा हाटि बिकाइ ।
परिषणहारे बाहिरा, कौड़ी बदले जाइ ॥ 2 ॥ 734

भावार्थ : कबीर जग में लिप्त प्राणी को अंधा, अपारखी बताते हैं । सर्वत्र राम का प्रसार है यही हीरा का हाट बिकना है । पर अंधा हीरे को नहीं पहचानता उसे उसकी उत्तमता को बोध ही नहीं है । अपनी अज्ञानता से वह उत्तम को छोड़कर निकृष्ट को लेता है—हीरा छोड़कर कंकर-कौड़ी लेना अर्थात् सत्य अविनाशी छोड़कर असत्य को स्वीकारना कबीर सत्य के पारखी-अपारखी का अंकन कर रहे हैं । बाहिरा 516, 696 परिषणहार = पारिषू (740) कौड़ी<कपर्दिका । बदले जाइ = बदलता है । अरबी, बदल ।

जीव अछत जोवन गया कछू कीया न नीका ।
यहु हीरा निरमोलिका, कौड़ी पर बीका ॥
कहै कबीर सुनि केसवा तू सकल बियापी ।
तुम्ह समान दाता नहीं, हम से नहीं पापी ॥ 26 रामकली

कबीर गुदरी बीखरी, सौदा गया बिकाइ ।
खोटा बांधा गाठड़ी, इब कुछ लिया न जाइ ॥ 3 ॥ 735

भावार्थ : कबीर इस संसार को हाट मानकर कहते हैं—यहाँ हीरा भी है कंकड़-कौड़ी भी । हम सब बनजारे हैं । यह हमारी स्वतंत्रता है कि हीरा लें या कौड़ी । हीरा राम का, उत्तम भावों-गुणों-कर्मों का प्रतीक है कौड़ी उसका विरोधी । जो पारिषी है वह हीरा लेगा हंस की भाँति मोती चुनेगा । जो बक है वह धूर्तता करेगा, तालाब को गंदा करेगा । कबीर का कथ्य है यह जीवन चार दिन का है इसमें चाहे सत्कर्म कर लें चाहे विषयों के चक्कर में फँसे । बाजार उठ गयी तो सौदा नहीं मिलेगा । इसलिए जोवन रहते—यौवन रहते खोटा सौदा (कंकर-कौड़ी) न ले हीरा के बदले । यह जीवन अनमोल है—मनुष्य-योनि दुर्लभ है 'मूरषि मनिषा जनम गंवाया बर कौड़ी ज्यूं डहकाया ।' 34 सो० खोटा यदि लिया तो कुछ न प्राप्त कर सकोगे ।

गुदरी = गुदड़ी बाजार । बिखरी<विकिरति, कृ । सौदा (अरबी) बेचने का सामान । खोटा = खोंट खोटि, (विरोधी खरा) 'राम नाम निज जानि के छांड़हु वस्तुहिं खोंटि । कबीर । गाठड़ी (509)<ग्रंथ्, ग्रंथन । इब (141) = अब

कबीर पैंडे मोती बीखरे, आंधा निकस्या आइ।
जोति बिना जगदीस की, जगत उलंघ्यां जाइ ॥ 4 ॥ 736

भावार्थ : कबीर का कथ्य है हीरा-मोती बिखरा पड़ा है पर जो अंधा है उसको कहाँ दिखाई पड़ता है—वह तो मोती डाकता हुआ चला जाता है। जगत अंधा है अर्थात् राम से नहीं विषय से जुड़ा है, विषयी को हीरा-मोती पदारथ निरमोलिक वस्तु कहाँ दिखाई दे सकती है। 'विषै बिलंबे जीव' (745) **'जोति गिना जगदीस की'** = ब्रह्म ज्योति। भीतरी हरि की जोति (544) **उलंघ्या** < उल्लंघयति, प्रा० उल्लंघइ। लंघ्। **बिखरी,** बिखरना < विक्षरति, क्षर्। **जगत उलंघ्या जाइ** = संसार हीरा मोती को डाँकता चला जाता है। अर्थात् उसकी अवहेलना—उपेक्षा करता है।

कबीर यह जग अंधला, जैसी अंधी गाइ।
बछा था सो मरि गया, ऊभो चाम चटाइ ॥ 5 ॥ 737

भावार्थ : कबीर कहते हैं सांसारिक लोग सामान्यतः अपारखी हैं—सत्य को नहीं देख पाते। ये इतने अज्ञानी हैं कि इन्हें हीरा कौड़ी का अंतर समझ में ही नहीं आता। गाय का बछड़ा मर जाने पर उसकी चाम को एक फूस के बाछा पर चढ़ाकर उसे चढ़ाते है दूध दुहने के लिए (करती = चाम चढ़ाया हुआ बच्चा) गाय को यह ज्ञान नहीं उसका असली बच्चा मर चुका है और यह आकार तो धोखा है। ऐसा ही अज्ञान मनुष्य को है। **अंधा** = अज्ञानी।

विवृति : **अंध** ऋवे०, अंधा, अंधी। **अंधला** प्रा० अंधल पं० अंधला = आंधर गु० अंधलु म० आंधल। 'कहै कबीर जग धंधा। काहे न चेतहु अंधा। 34 सो० **ऊभी** (324) **चटाइ** < *चट्ट् = चाटना, प्रा० चट्टेइ, पं० चट्टणा, गु० चाटवुं म० चाटणे।

49. पारिष कौ अंग

कबीर जब गुण कौ गाहक मिलै, तब गुण लाख बिकाइ।
जब गुण को गाहक नहीं, तब कौड़ी बदले जाइ ॥ 9 ॥ 738

भावार्थ : कबीर का बल पारिखी पर है, गुणी पर है जो सत्य को पहचानता है धोखे में नहीं आता, भ्रम में नहीं पड़ता। पदारथ-हीरा-मोती ये बहुमूल्य वस्तुएँ जो परखता है वही उनकी कद्र कर सकता है गुणग्राहक न हुआ तो उसे हीरा पत्थर ही लगेगा—उसे कौड़ी हीरा में अंतर नहीं लगेगा। अतः पदारथ का मूल्य पारखी पर है अन्यथा

अंधा—अज्ञानी तो हीरा फेंककर उसे कौड़ियों से बदल लेगा क्योंकि कौड़ी को जानता पहचानता है। बदल (234) कौड़ी 'मूरखि मनिषा जनम गंवाया बर कौड़ी ज्यूं डहकाया।' 34 सोरठि

कबीर लहरि समंद की, मोती बिखरे आइ ॥
बगुला मंझ न जाणई हंस चुणें चुंण खाइ ॥ 2 ॥ 739

भावार्थ : कबीर पारखी हंस (संत) और अपारखी बग (बक) द्वारा ज्ञानी-अज्ञानी, भक्त-अभक्त की बात कर रहे हैं—कबीर का कथ्य है समुद्र की लहर (ईश्वर की कृपा) मोती बिखेरती है अर्थात् सर्वत्र उस सत्य का प्रागट्य है पर जो अंधा है विषयों में रमा है जो बग की भाँति चतुर-छली है उसे 'जोति बिना जगदीस की' कहाँ दिखाई पड़ता वह सर्वत्र व्याप्त राम—यद्यपि वह भरपूर है इस सृष्टि में।

विवृति : लहरि (कृपा) 'बूड़े थे पर ऊबरे गुर की लहरि चमंकि।' 25

कबीर केती लहर समंद की कत उपजै कत जाइ।
बलिहारी ता दास की उलटी मांहि समाइ ॥ 491 ॥
कबीर जाको दिल मैं हरि बसै, सो नर कलपै काइ।
एकै लहरि समंद की दुख दालिद सब जाइ ॥ 577 ॥

एकै लहरि समंद की = समुद्र रूपी ईश्वर की लहर रूपी दया। 'बूंद समानी समुंद मैं' 'समुंद समाना बूंद मैं'—यहाँ बूंद जीव और समुद्र परमात्मा। समुद्र का समानार्थी दरिया 'सचुपाया सुख ऊपना अरु दिल दरिया पूरि। सकल पाप सहजै गये, जब साईं मिल्या हजूरि।' 148 मन उलटा दरिया मिला, लागा मलि मलि नहान। थाहत थाह न पावइ। तू पूरा रहमान ॥ 180

कबीर का कथ्य है कि जो भक्त है, जिसका मन निर्मल है जो हंस की भाँति नीर-क्षीर विवेकी है वही भगवान की उपस्थिति का आनन्द ले सकता है—वही दरिया की मोती को प्राप्त करता है। प्रेय की जगह श्रेय का वरण करना ही हंस होना है। लहरि-री संस्कृत। मंझ (= मंद = मूर्ख *मंध्य) बकुला समुद्र के किनारे शिकार की ताक में बैठा रहता है वह समुद्र में 'समाना' क्या जाने। जिसका दिल दरिया से भरपूर होगा वही आनंद-सागर में अवगाहन करेगा।

हमारे भीतर हीं हंस वृत्ति बकवृत्ति दोनों है—चाहे हम परमार्थ का मार्ग ग्रहण करें चाहे पशु वृत्ति अथवा भोग का।

'समुद्र' 'लहरि' 'हंस' 'मोती' 'कौड़ी', 'कंकर' के ये व्यंजनापरक प्रयोग संस्कृत काव्य में नहीं है—हंस कविसमय से अनुसार नीरक्षीरविवेकी है। हंस और बक परस्पर विरोधी आचरण के माने जाते हैं—'हंस मध्ये बको यथा।' मोती बिखरे आइ = मोती के दाने छितराये हुए हैं, बिखरी (736) बिखरे। आइ < आगत = आया, आगच्छति = आता है; गम्।

कबीर हरि हीरा जन जौहरी, ले ले मांडिय हाटि।
जब र मिलैगा पारिषूं, तब हीर्‌या की साटि ।। 3 ।। 740

भावार्थ : कबीर हरि और भक्त को हीरा और जौहरी के सादृश्य से सुबोध कर रहे हैं। सत्यवस्तु, पदारथ अथवा हीरा एकमात्र हरि हैं। हरि की ज्योति के भावात्मक बोध के लिए उसे हीरा-मोती कहा गया है। कबीर का कथ्य है कि रामसनेही कम ही है अथवा हीरा के परखने वाले विरले ही हैं। अतः हरि की चर्चा सब से करने से कोई हित नहीं—उस हीरा को हाट में मांड़ना व्यर्थ हैं क्योंकि उसके ग्राहक कहां है संसार हाट में। हीरा की बाजार तभी लगेगी, जब उसका पारिखो मिलेगा। पारिष— 'संतहंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार'। तुलसी

अमृत बरसै हीरा निपजे घंटा पड़ै टकसाल।
कबीर जुलाहा भया पारषो अनभै उतर्‌या पार ।। 169

'भूल मिटै गुरु मिलै पारखी।' कबीर पारषूं < *पारीक्ष्य। सं० परीक्षा < प्रा० परिक्खा। मराठी परख = जाँच। गु० पारखुं। हीरा = हरि की जोति—'दसवां द्वारा देहुरा तामैं जोति पिछांणि।' 435 जोति पहचानना ही हीरा (हरि) को जानना है। साटि (680) कबीर हीरा बणजिया, मँहगे मोल बिकाइ। हाड़ गले माटी गली, सिर साटै व्यौहार ।। 680 हीरा क्रय करना (हरि भक्ति करना) सिर का सौदा है।

□

तुकाराम

* 'यह मेरा' और 'यह तेरा' यह द्वैतभाव जाता रहे तो जीवात्मा पर जो जो बोझा है सब उतर जाय।...भार देव के सिर पर डालकर अयाचक वृत्ति स्वीकार करना ही सार है। अपनी देह को देवाधीन कर देना और उसके द्वारा योग्य समय योग्य कर्म कराते रहना। इस विश्व के अन्दर विश्व का पोषण करनेवाला है ही, ऐसा निश्चय मन के साथ कर लिया कि वही जिस समय जैसी चाहिए, वैसी व्यवस्था कर लेता है। तुम निश्चय समझो, कि उपर्युक्त स्थिति एक प्रकार का बल ही है।

* जीवन को हरि के अर्पण करने से संत पद मिलता है।

* अहंभाव ही अन्तःकरण को गंदा करता है।

* जिससे अपने चित्त का समाधान हो, ऐसा स्वहित हम स्वयं ही जानें। □

50. उपजणि कौ अंग

[ज्ञान—विवेक का उत्पन्न होना]

कबीर नांउं न जांणौ गांवका, मारगि लागा जांउं ।
कालिह् जो काटा भाजिसी, पहिली क्यूं न खड़ाउं ।। 1 ।। 741

भावार्थ : कबीर उस रामसनेही की ओर चल पड़े हैं 'मारग लागा जाउं' अर्थात् अध्यात्म मार्ग अथवा उस निर्गुण से एक होने के मार्ग पर चल पड़ा हूं । 743 उस का गाँव-नाम नहीं पता है पर है वह । निर्गुण का अनुभव हो जाने पर अविलंब हरि से हेत (प्रेम) जोड़ना चाहिए—कल जो कष्ट-संकट-बाधा आयेगी उसे पहले ही क्यों न नष्ट कर लूं, कल का क्या पता है । तुल० गु० खदड़वुं = खदेड़ना *खड्ड् ।

विवृति : मारगि < मार्ग, यहाँ सन्मार्ग के आकूत में, मारग लगना = हरिपथ पर चल पड़ना । मार्ग पाना = अध्यात्म मार्ग को प्राप्त करना । काटा < प्रा० कट्ट < कष्ट ।

कबीर आज कि काल्हि क निसह में, मारगि माल्हंता ।
काल सिचांणा नर चिडा, औझड़ औच्यंता ।। 695

कबीर कौण देस कहाँ आइया, कहु क्यूं जाण्या जाइ ।
उहु मारग पावै नहीं, भूलि पड़े इस माहि ।। 303

लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु मार ।
कहौ सन्तो क्यूं पाइया, दुर्लभ हरि दीदार ।। 62

कबीर मारग अगम है, सब मुनिजन बैठे थाकि ।
तहाँ कबीर चलि गया, गहि सतगुरु की सांषि ।। 311

भाजिसी = भाजता, भागता है (76), प्रा० भज्जइ (< भज्यते) = टूट गया, भग्न = टूटा (भञ्ज्) *भाजन = भागना; पं० भज्जणां, कु० भागना, अवधी भाजब = भागना, चला जाना, पु० मार० भाजइ = भागता है । खड़ाउं = खटाउं < खट्टयति पं० खट्टणा, भो० खाटिबा = अत्यधिक श्रम करना, गु० खाटवुं = प्राप्त करना, म० खटणें = रुक जाना ।

तुलसी—मारग अगम संग नहिं संबल नाउं गाउं भूला रे । 189 विनय०

कबीर—बाबा करहु कृपा जन मारगि लावो ज्यूं भौबंधन छूटे ।। 27 राम०

कबीर सीष भई संसार थैं, चले जु साइं पास ।
अबिनासी मोहि ले चल्या पुरई मेरी आस ।। 2 ।। 742

भावार्थ : कबीर ज्ञान उपजने पर हरिहेत की ओर चल पड़ते हैं प्रियतम से मिलने । अथवा ईश्वर अपने भक्त को बुला लेता है । कबीर का अनुभव है कि मेरी साधना पूरी

हुई; अविनाशी राम मुझे अपने चरणों में ले चला। संसार से बिदाई हुई या शिक्षा ग्रहण की कि इसमें सारतत्त्व नहीं। मैंने भगवान में लौ लगाया और मेरी सुनली बिनती उसने—मेरी आशा पूरी हुई। उसने मुझे बुला लिया अथवा वह अपने देस को मुझे ले चला। संसार तो बिराना है, परदेस है, असली घर तो उस ब्रह्मका है जहाँ आनन्द ही आनंद है। श्रेयसामेव पंथा: ।' भर्तृ० 2.26

विवृति : पास प्रा० पस्स, पास<पार्श्व 758। **पुरई**=पूरी की; पूरयति प्रा० पूरेइ; पृ=भरना; अवधी पूरइ, गु० पूरवुं, ने० पुराउनु=पूरा करना। पूरित=पूरी हुई या भरी हुई। **सीख**<शिक्षा (27, 554); राज० सीख=बिदाई। **सीखभई**=विदाई हुई।

इन्द्रलोक अचरिज भया, ब्रह्मा पड़्या विचार।
कबीर चाल्या राम पै, कौतिगहार अपार ॥ 3 ॥ 743

चाल्या=चला, चल्। कौतिगहार=कौतुक+हार - खेल देखनेवाले। 'बूड़े बहुत अपार'

कबीर ऊँचा चढ़ि असमान कूं, मेर ऊंलघे ऊड़ि।
पसू पषेरू जीवजंत सब रहे मेर मैं बूड़ि ॥ 4 ॥ 744

भावार्थ : अहं शत्रु है मानव का ऊँचा उठने में। जिसने मैं–मेरा (स्वार्थ, अहंभाव) छोड़ दिया है वही ऊँची उड़ान उड़ सकता है अर्थात् वही संरचनात्मक कार्य कर सकता है। कबीर अपने लिए कहते हैं, कि ज्ञान होते अथवा राम से प्रेम होते ही मैं अहंभाव से मुक्त हो गया—अहं को डांक गया। अथवा मेरु पर्वत को ऊँचाई को लांघकर आकाश में स्थित हो गया। मनुष्य दृष्टिकोण बदले तब आनंद मिले। मेर<मम

मेर तोसा गी मीच की, कुसंगति हो काल।
कबीर कहै रे प्राणियां, बाणी ब्रह्म संभाल ॥ 467

कबीर मेरमिटी मुकता भया, पाया ब्रह्म बिसास।
अब मेरे दूजा को नहीं, एक तुम्हारी आस ॥ 576

आपा मेटि जीवत मरै तो पावै करतार ॥ 26

'हरि कि भगति जाने बिना भाव बूड़ि मुवा संसार' कबीर। **मेर में बूड़ि :** अहंभाव अथवा ममत्व में डूबे रहना—स्व से बाहर न होना। बूड़िहो 110, 'कूड़ बड़ाई बूड़सी' 262 **ऊड़ि**<प्रा० उड्डेइ, पा० उड्डेति, उड़ना, म० उडणे, गु० उडवुं <उड्डीयते। **ऊँचा**<उच्च 469,524 चढ़ि 471 **असमान**< फा० आसमान=आकाश 'बसै गंगन मैं दुनो न देखै चेतति चोकी बैठा।' कबीर **ऊंचा चढ़ि असमान कूँ**=सतत चेतनता में निवास करते हुए। **मेर**<मेरु एक पर्वत (काल्पनिक) जिसके चारों ओर समस्त ग्रह घूमते हैं—माना जाता है मेरु (सुमेरु) सोने-रत्नों से भरा है। **मेरु लांघना**=सांसारिक वैभव को लांघ जाना। मेरु के अनन्तर वही एक पुरुष सत्य। **सुमेरु** प्रतीक है उच्चता, दृढ़ता, सम्पन्नता का। सुमेरु लांघना असाधारण पराक्रम माना जाता रहा है—'गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही।' मानस 5/5 'सर्को मेरु मूलक इव

जोरी ।' मा० 1/253 कबीर की मान्यता है कि भगवत्कृपा से पंगुल भी मेरु को लांघ सकता है—असंभव कुछ भी नहीं 'पंगुला मेर सुमेरु उलंघै ।'

मेर–मेरापन मेरु सदृश दुर्लंघ्य है—इसे पार करनेवाला ही उस परमतत्त्व को प्राप्त कर सकता है। संस्कृत वाङ्मय में 'मेरु' का यह प्रतीकात्मक प्रयोग मुझे नहीं मिला ।

सद पांणी पाताल का, काढ़ि कबीरा पीव।
बासी पावस पड़ि मुए, विषै बिलंबे जीव ॥ 5 ॥ 745

भावार्थ : कबीर विषय और मैं-मेरापन में बूड़े लोगों की दयनीय स्थिति को संकेत करते हुए कहते हैं---जीव इस माया-पाश में फँसा है और बासी जल को ही पीने में सुख मानता है, जबकि उसे सद (सत्य=पवित्र, निर्मल, अनश्वर) पानी (=ईश्वर भक्ति) सुलभ है। कबीर कहते हैं विषयों को—अहंभाव को—संकीर्णता को—छोड़कर ऊँचे उड़ो और उस तत्त्व से अपने को जोड़ो---इस ज्ञान को प्राप्त करो।

कबीर सत्-असत् निर्मल और कलुषित में चुनाव करने को कहते हैं—निर्माणात्मक विचार सत् है और संकीर्ण विचार विनाशात्मक। विषयों में उलझा व्यक्ति महान् लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता—उसे ऊपर उठना होगा।

विवृति : **पाताल**=पृथ्वी के नीचे का अंतिम लोक : अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल, पाताल। **पाताल का पानी काढ़ने** का भाव है श्रम–तप–साधना से प्राप्त रामरसाइन अथवा अमृत। पाताल का जल तभी मिल सकेगा जब विषय-विमुख मनुष्य उसकी प्राप्ति में जुटेगा। लक्ष्य-उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उपलब्ध सुखों से आगे बढ़ना होगा। **पावस पानी**=वर्षा का पानी=गंदा, अपवित्र, दूषित; इसीलिए इसे बासी कहा गया है। 'ओं आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म'

बासी<प्रा० वासिय=रात का रखा, अपवित्र सं० वासित=सुगंधित, वास् **पावस**=प्रा० पावस<प्रावृष्

कबीर बगुली नीर बिटालिया, सायर चढ़ा कलंक।
और पखेरू पी गए, हंस न बोवै चंच ॥ 344

निर्मल नीर पीना श्रेयस्कर है, यह भक्तिरस का पानी है—इसके विरोध में पंकिल-दूषित विषय-जगत् का नीर। 'कबीर जीव बिलंब्या जीवसौं, अलष न लषिया जाइ।' 347

बिषै बिलंबे जीव के विरोध में है 'कबीर तहाँ बिलंबिया करै अलख की सेव' 163 तथा 'तरवर तासु बिलंबिए बारहमास फलंत।' 731

संस्कृत **विलंब** देर के आशय में है। यहाँ **बिलंबना**=ठहरना, रमना, आनंद लेना के भाव में हैं। यह अर्थ-विकास हिंदी का अपना है—

(i) खेलत चलत करत मग कौतुक बिलंबत सरित सरोवर तीर । 1/52 गीता०

(ii) तुलसी प्रभुतरु तर बिलंबे किए प्रेम कनौड़े कै न ? 2/24 गीता०

कबीर सुपिनैं हरि मिल्या, सूतां लीया जगाइ ।
आंखि न मीचौं डरपता, मति सुपिना ह्वै जाइ ॥ 6 ॥ 746

भावार्थ : कबीर हरि-मिलन की बात कर रहें हैं---प्रेयसी रूप में कहते हैं मेरा प्रेमी हरि (राम) स्वप्न में मिला—

सुनि सखी सुपनैं की गति ऐसी, हरि आए हम पास ।
सोवत ही ज जगाइया, जागत भये उदास ॥
चलु सखी बिलम न कीजिये, जब लग सांस सरीर ।
मिलि रहिये जगनाथ सूं, यूं कहै दास कबीर ॥ 3 केदारो
'आई सूति कबीर की पाया राम रतन ।' 42
सूता<सुप्त । जगालेना, जगादेना । 598

'सूता लिया जगाइ' में मधुरभाव की व्यंजना है ।

आँख न मीचौं=आंख न खोलूं अथवा पलक झपाना, खोलना । पं० मीचना =बंद करना, आंखमींचना, मुट्ठी मींचना गु० मीचवुं=आंखें बंद करना (आंख मिचौनी) ग्रा० मिचणा=आंखें बंद करना । *मिच्च् । 'ठाढ़ी कुंवरि राधिका लोचन मीचत तहं हरि आए ।' 1293 सू० । मति (574,747) डरपता (डर<दर)

उसने मुझे जगा लिया । अब मैं आंख खोल नहीं रही, कहीं यह मिलन स्वप्न (असत्य) न हो जाय ।

कबीर गोब्यंद के गुण बहुत हैं, लिखे जु हिरदै मांहि ।
डरता पाणी ना पिऊं, मति वै धोये जांहि ॥ 7 ॥ 747

भावार्थ : कबीर गोबिन्द–राम-केशव के गुणों की चर्चा कर रहे हैं—ईश्वरीय अथवा सात्विक गुणों को कबीर ने हृदय में बैठा लिया है अर्थात् उन गुणों में कबीर रमते हैं, आनंद मानते हैं । कबीर इस डर से पानी नहीं पीते कि कहीं वे गुण धुल न जायें—समाप्त न हो जायें अर्थात् उन गुणों से एक क्षण के लिये भी बिलग नहीं होना चाहते कबीर । गुणों का धारण करना और दुर्गुणों से दूर रहना ही भक्ति है ।

राम भजै सो जाणिये जाके आतुर नाहीं ।
सम संतोष लीयें रहैं, धीरज मन माहीं ॥
जन कौं काम क्रोध व्यापै नहीं, त्रिश्नां न जरावै ।
प्रफुलित आनंद मैं, गोब्यंद गुण गावै ॥ 2 बिला०

गुण का आशय सात्त्विक गुणों से है जो सुमार्ग अथवा भक्ति मार्ग के लिए अनिवार्य हैं।

'राम गुन बेलड़ी रे, अवधू गोरखनाथ जाना।' कबीर
'कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सौं, बहु गुणियाले कंत ॥' 193

कबीर का प्रियतम गुणी-प्रेमी-सनेही है। मति (78,746) 'जे बन जलै त जल कौं धावै, मति जल सीतल होई।' 'धूप दाझतै छांह तकाई, मति तरवर सचु पाऊँ।' 111—गौड़ी 'मति वै रामदया करैं, बरसि बुझावै अग्गि। 78

कबीर अपने जीव तैं, ए दोइ बातैं धोइ।
लोभ बड़ाई कारणैं, अछता मूल न खोइ ॥ 251

धोइ <धाव् = निर्मल करना, धावन>प्रा० धावण। धोने का ऐसा प्रयोग संत काव्य में ही है—

'मानउं चंद कलंकहिं धोवत।' 1321 सूर—
'जिन्ह एहिं बारि न मानस धोए। 143 मानस

कबीर अब तौ ऐसा भया, निरमालिक निज नाउँ।
पहली काँच कथीर था, फिरता ठाँवैं ठाउं ॥ 8 ॥ 748

भावार्थ : कबीर राम नाम के भक्त हैं 'भगति भजन हरि नाव है दूजा दुःख अपार।'39 'एकै हरि के नांव बिन गए जनम सब हारि।' 212 हरि नाम अनमोल है—इसी नाम के प्रताप-प्रभाव से कबीर कांच-कथीर ऐसे तुच्छ वस्तु से कबीर हो गया—अब उसे पेट के लिए ठाँव-ठाँव फिरना नहीं पड़ता, याचना नहीं करनी पड़ती—अब तो जहां कबीर पहुँचता है वहीं शन्ति आनन्द। यह सब नाम की देन है। उस दाता ने सारा दारिद्रय हर लिया। 577 'दारिद्रयदोषो गुणराशिनाशी' सुभा०।

तत तिलक तिहूँ लोक मैं, राम नाउं निजसार।
जन कबीर मस्तक दि ा, सोभा अधिक अपार ॥ 38
राम कहे भला होइगा, नहितर भला न होइ। 36
राम नांव तत्र सार है, सब काहू उपदेस। 37
कोटि क्रम पेलै पलक मैं, जे रंचक आवै नाउं।
अनेक जुग जे पून्नि करै, नहीं राम बिनु ठाउं ॥ 55
हरि नामै जन जागे, ताके गोव्यंद साथी आगे ॥ 32 राम०

कबीर मानते हैं राम का होने पर ही ठाउं है नहीं तो सर्वत्र कालभय। ठाउं< प्रा० ठाम<स्थामन्, स्था। कथीर<कस्तीर = टीन।

'पायउ अचल अनूपम ठाऊं।' 126 मानस 'निलज नीच, निरधन, निरगुन कहै जग दूसरो न ठाकुर ठाउं।' 153 विनय० ठाउं, ठाम भगवान के चरणों में, उनके नाम में है।

निरमोल=अनमोल, बहुमूल्य, अमोलरत्न है राम नाम।

जीव अछत जोबन गया, कछु कीया न नीका।
यहु हीरा निरमोलिका, कौड़ी पर बीका ॥ 26 रामकली

निज=नितांत, विशिष्ट, सत्य—'रामनाम इहै निज सारू' कबीर, 'तहाँ कबीरा बंदगी के कोई निज दास।' 162

भौ समुंद विष जल भर्‌या, मन नहीं बांधै धीर।
सबल सनेही हरि मिले, तब उतरे पारि कबीर ॥ 9 ॥ 749

भावार्थ : कबीर अपनी हरिभक्ति की सफलता बतलाते हुए कहते हैं कि उस समर्थ राम सनेही के ही मिलने से मैं भवसागर से (जन्म-मरण) से पार पा सका अर्थात् मैं मुक्त हूँ राम की कृपा से अन्यथा यह संसार-सागर विष-जल से भरा है—अमृत तो राम नाम है। विष-भय से मन अपना धीरज खो बैठा था, पर राम का आश्रय मिला।

कबीर भला सुहेला ऊतर्‌या, पूरा मेरा भाग।
राम नाम नौका गह्या, तब पाणी पंक न लाग ॥ 10 ॥ 750

भावार्थ : कबीर कहते है राम नाम ही नौका है पार उतरने की—इस नौका पर चढ़ जाने पर पंक=कीचड़ नहीं लगता अर्थात् मनुष्य सुख पूर्वक अनायास पार उतर जाता है। 'पानी पंक न लगना'=किसी प्रकार की बाधा न पड़ना अथवा कलंक न लगना। मैं राम कृपा से सुहेला (=सुख पूर्वक) पार हो गया—मेरा भाग्य पूरा हुआ।

सुहेला (607) **ऊतर्‌या**=पार उतरा < उत्तरति हि० उतरना तृ, तरति=पार जाना।

कबीर केसौ की दया, संसा घाल्या खोइ।
जे दिन गए भगति बिन, ते दिन सालैं मोहि ॥ 11 ॥ 751

भावार्थ : कबीर कहते हैं मनुष्य जीवन पाकर हरिभक्ति करे—अमोल हीरा को ले। मैंने गोबिंद की कृपा से सारे संशयों-भ्रमों को विनष्ट कर दिया है। यही सोचता हूँ कि और पहले क्यों नहीं चेता—जो दिन बिना हरिभक्ति के बीते वे व्यर्थ गए, यही दुःख मुझे है। **भगति बिन**=गोव्यंद के गुणों स रहित 747

घाल्या खोइ=खो डाला=विनष्ट कर दिया (319, 322) **खोइ** (445, 558) **सालैं**=सालते=पीड़ा देते हैं; शल्य=तीर, भाला।

शल्ययति=पीड़ित करता है, अवधी **सालइ**=धँसता है, गड़ता है, दुखता है; गु० सालवु, म० सलणे। संशय-भ्रम-अविश्वास-छल-कपट-चतुराई भक्ति विरोधी हैं—इनका नाश हरि-लौ से ही सम्भव है।

कबीर जाचण जाइ था, आगै मिल्या अजंच।
ले चाल्या घर आपणैं, भारी खाया संच ॥ 12 ॥ 752

भावार्थ : जिसे मैं प्राप्त करने जा रहा था, वह स्वतः मिल गया—वह इतना कृपालु है भक्तों पर कि स्वयं उसे अपने पास बुला लेता है—उनकी रक्षा के लिए स्वयं आतुर

रहता है। मुझे उसने अपने धाम में स्थान दिया अपने चरणों के निकट आश्रय दिया और मैंने बहुत अधिक खाया। अर्थात् एक ही दाता है और सभी याचक। अयाचक ही पूरा कर सकता है लोभी नहीं। उसका भांडार भरापूरा है कोई भूखा नहीं लौटता।

'पूरे सूं परिचा भया, सब दुख मेल्ह्या दूरि। 35
'हरि चरनौं चित राखिये, तौ अमरापुर होइ। 445
'कबीर इहि र उद्र के कारणैं, जगु जाच्या निस जाम। 348
जाचिग दाता इक पाया। धन दीया जाइ न खाया। 21 सोरठि

विवृति : याच् = माँगना; जाचिग < याचक। जाचण < याचनम् अजंच < अयाचक = अजाचक, अजाची = जिसे किसी से मांगने की अपेक्षा न हो—धनधान्य से भरपूर। तुल० 'सचु पाया सुख ऊपना अरु दिल दरिया पूरि। सकल पाप सहजै गये जब साईं मिला हजूरि।' 148 संच < संचय। □

51. दया निरबैरता कौ अंग

[संसार स्वार्थ भाव के कारण जल रहा है और लोगों का जीवन नष्ट हो रहा है यही इस अंग का प्रतिपाद्य है।]

कबीर दरिया प्रजल्या, दाझैं जल थल झोल।
बस नाहीं गोपाल सूँ, बिनसै रतन अमोल॥ 1 ॥ 753

भावार्थ : कबीर संसार-सागर को दया-निरबैरता सात्विक भाव छोड़ने के कारण जलता हुआ देखकर विह्वल होकर कहते हैं—सांसारिक प्राणी जीवन (रतन अमोल) को विनष्ट कर रहा है परमार्थ मार्ग—हरिभक्ति—छोड़कर। समुद्र रत्नों का भांडार माना जाता है, समुद्र जलेगा तो रत्न भी जलेंगे। रतन = हीरा (हरिनाम)।

विवृति : दाझैं = दग्ध हो रहा है, दह् दह्यतें। झोल (झाल = वृक्ष, झाड़ी) बस < वश। बिनसै < विनश्यति (706) रतन = जीवन जो रत्न सदृश है, सूर-"हरि बिन कोऊ काम न आयौ। इहि माया झूठौ प्रपंच लगि, रतन सो जनम गँवायौ।" 373

कबीर सीतलता भई, पाया ब्रह्म गियान।
जिहि बैसंदर जग जल्या, सो मेरे उदिक समान। 610

ऊनमि आई बादली, बरसन लागे अंगार।
ऊठि कबीरा धाह दे, दाझत है संसार॥ 2 ॥ 754

भावार्थ : कबीर भवसागर की ज्वाला को देखकर दुःखी होते हैं—अपने से कहते हैं कबीर उठ, पुकारो-चिल्लाओ—संसार विध्वंसात्मक भावों से दग्ध हो रहा

है। बादल झुक आए हैं, अंगार बरस रहा है—यह है दया-निरबैरता को छोड़ने का फल। राम-मार्ग पर मनुष्य लगे तब कल्याण और सुख। धाह = पुकार, चिल्लाहट। धाहड़ी (111) अप० धाह। ऊनमि आई = ओनइ आई <अवनमति, नम् = झुकना।

दाध बली ता सब दुखी, सुखी न देखौं कोइ।
जहाँ कबीरा पग धरै, तहाँ टुक धीरज होइ ॥ 3 ॥ 755

भावार्थ : दाध = दहन से संसार दुखी है—विषय ज्वाला में सब दग्ध हो रहे हैं कोई सुखी नहीं। हरि मार्ग पर लगा कबीर जहाँ जाता है वहाँ थोड़ी शांति मिलती है लोगों को। कबीर पर विषयों का—भवसागर के दाह का प्रभाव नहीं। कबीर सवेदनशील हैं, सामान्य जन की अज्ञानता से दुःखी हैं।

विवृति : दाध <दह् *दग्धि ; दग्ध दाधा 119, दाधी 118, दाधे 678 टूक (700, 420) पग धरै = पैर धरता (रखता) है, धरति >धरइ, धृ पकड़ता है; विकसित अर्थ—रखता है। ☐

52. सुंदरि कौ अंग

[इस अंग में कबीर पतिव्रता-नारी की निष्ठा-भक्ति का वर्णन कर रहे हैं।]

कबीर सुंदरि यूं कहै, सुणि हो कंत सुजाण।
बेगि मिलौ तुम आइ कारि, नहींतर तजौं पराण ॥ 1 ॥ 756

भावार्थ : कबीर सुन्दरि के माध्यम से जीव और परमात्मा का सम्बन्ध स्थापित कर रहे हैं। जिस प्रकार कोई सुन्दरी (नारी) अपने पति के अतिरिक्त किसी और से मन नहीं लगाती उसी प्रकार भक्त का मन केवल उसी से लगता है। जिस प्रकार पतिव्रता विरह में तड़पती है उसी प्रकार भक्त। कबीर का प्रियतम राम है, अविनाशी है, निरंजन है। विरह साधना है। कन्त परम पुरुष का वाचक है। तुल० 102

विवृति : नहींतर (19, 36, 490) गु० नहितर ने० नत्र = अन्यथा। सूर, नातरु; तुलसी नतरु, नतु <न + तर्हि। 'नहींतर था बेगानां।' 8 गौड़ी

कबीर जेको सुंदरी, जांनि करै बिभचार।
ताहि न कबहूं आदरै, परम पुरुष भरतार ॥ 2 ॥ 757

बिभचार <व्यभिचार (एक को छोड़कर दूजे से नेह) 583।

कबीर जे सुंदरि साइं भजै, तजै आन की आस।
ताहि न कबहूं परहरै, पलक न छाड़ै पास ॥ 3 ॥ 758

भावार्थ : साईं भजै = परमेश्वर को सुमिरे—किसी और के सहारे नहीं—अनन्य भक्ति। आशा केवल उससे। ऐसी स्थिति में साईं भी अपने भक्त को पलभर भी छोड़ता नहीं, वह सदा उसके पास रहता है। पास 76, 297, 487, 742

भजै—भजता है भज् (692) **छाड़ैं** (700, 719) **परहरै** प्रा० परिहरइ= छोड़ता है गु० परहरवुं सं० परिहरति। **भरतार**—भृ=भरण करना, भर्तृ=पति।

कबीर इस मन कौं मैदा करौं, नान्हां करि करि पीस।
तब सुख पावै सुंदरी, ब्रह्म झलकै सीस॥ 4॥ 759

कबीर मैमंता मन मारि रे, नान्हा करि करि पीसि।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलकै सीसि। 292

झलकै अप० झलक्किअ म० झलकणें, हि० झलकना<झल्लिका=ज्योति, *झल्। सुन्दरी=आत्मा (प्रतीक) ब्रह्म=परम पुरुष। जीव का चित्रण पत्नी रूप में।

कबीर दरिया पारि हिडोलनां, मेल्ह्या कंत मचाइ।
सोई नारी सुलषणी, नितप्रति झूलण जाइ॥ 5॥ 760

भावार्थ : इसमें भी आत्मा (जीव) को नारी रूप में और परम पुरुष को कंत रूप में अंकन किया गया है। कबीर की दृष्टि में ब्रह्म-धाम ही मनुष्य का असली घर है—वहीं जाना है—उस पार। वहीं हिंडोला पड़ा है पति के साथ झूलने के लिए।

मेल्ह्या=डाला (9, 434) **पार** (सं०) **सुलषणी**<सुलक्षणी **मचाइ**=धूम मचाइ=धूम-धाम से। **हिंडोलना**=हिंडोला<हिन्दोल, हिन्दोलक, हिन्दोलयति= झूलता है; प्रा० हिंडोल पं० हंडोला, म० हिंडोला प्रा० हिंडोलण, दुल् नित्य प्रति= सतत, बिना नागा—प्रति लगने से नित्य पर बल आ गया है यथा प्रत्यहं, प्रति क्षण। **दरिया** (753)=संसार।

53. कस्तूरिया मृग कौ अंग

कबीर कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूंढै बन मांहि।
ऐसे घटि घटि राम हैं, दुनियाँ देखै नांहि॥ 1॥ 761

भावार्थ : मनुष्य के घट (शरीर) में ही परमात्मा का वास है अर्थात् शक्ति का स्रोत हमारे भीतर है पर उसके प्रति हमारा विश्वास नहीं। फल है कि हम उसे बाहर कर्म कांड आदि में ढूंढ़ते हैं, अपने भीतर ढूंढ़ने का यत्न ही नहीं करते। यही भ्रम है—यही भूल है। मृग जैसी हमारी दशा है—उसकी नाभि में ही कस्तूरी है पर उसे उसका बोध नहीं और उस सुगंध की खोज में वह दर-दर घासों को सूंघ रहा है।

कुंडल=कुंड सदृश (नाभी के आशय में कुंडल अन्यत्र नहीं मिला मुझे) **बसै,** (649) **ढूंढ़ै** (355)

घटिघटि राम है—सर्वत्र, सबमें व्याप्त। "सब को जीवन देनेवाला, सबका अंतिम विश्राम स्थान ऐसे विशाल ब्रह्मचक्र में जीव अपने को प्रेरक परमात्मा से अलग

मानकर भटकता रहता है। किंतु जब उस प्रेरक की प्रसन्नता प्राप्त होती है तब वह अमृतत्व पाता है।'' श्वेताश्वतर उपनिषद्

कबीर कोई एक देखैं संत जन, जाकैं पांचौ हाथि।
जाकै पंचू बसि नहीं, ता हरि संग न साथि ॥ 2 ॥ 762

भावार्थ : कबीर संत उसे मानते हैं जिसके वश में पाँचतत्त्व (शरीर) और मन या इन्द्रियाँ हैं। मन मृतक होने पर आत्मा का साक्षात्कार। (475)

'तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशान् छिनत्ति।' श्वेताश्वतर—

कबीर साईं तन में बसै, भ्रम्यौ न जाणै तास।
कस्तूरी के मृग ज्यूं, फिरि फिरि सूंघै घास ॥ 3 ॥ 763

भ्रम्यौ=भ्रमता है=चक्कर काटता है, भ्रम्, भ्रमति भ्रमि-भ्रमि (20)। **घास**<सं० घासः जाणैं 508 **सूंघै**=सूंघता है<शिङ्घति, प्रा० सिंघइ, सुंघइ; पं० सुंघणा, गु० सूंघवुं, सिं० सिंघणु। फिरिफिरि (360)

कबीर खोजी राम का, गया जु स्यंघल दीप।
राम तौ घट ही भीतर रमि रह्या, जो आवै परतीत ॥ 4 ॥ 764

खोजी=खोजनेवाला*खोज्जति=ढूंढ़ता है। अवधी खोजइ, ने० खोजनुं बं० खोजा, मै० खोजब पं० खोजना। 794

स्यंघलदीप—जायसी कृत पद्मावत में राजा रतनसेन पद्मावती की खोज में सिंघलदीप जाता है। संभवतः सिंघलदीप रहस्यवादियों का केन्द्र था।

कबीर घटि बधि कहीं न देखिए, ब्रह्म रह्या भरपूरि।
जिनि जान्यां तिनि निकटि है, दूरि कहैं थैं दूरि ॥ 5 ॥ 765

घटि बधि=घट-बढ़ि **घटै-बधै** (566,567) घट्टति प्रा० घट्टइ। **बधै, बधती** (329, 353)—**ब्रह्म भरपूरि**=वह सर्वत्र है। उसे जानना-पहचानना होगा मनको मारकर—लोभ, मोह, क्रोध को वश में कर हृदय निर्मल करना होगा। फिर तो वह स्वतः अनुभव में आवेगा। **जिनि जान्यां**=जिन्होंने उस ब्रह्म की व्याप्ति का अनुभव कर लिया उनके लिए तो वह उनके पास ही है और जिन्होंने उसका अनुभव नहीं किया वे दूर ही कहेंगे, उनके लिए वह दूर ही है।

कबीर मैं जाण्या हरि दूरि है, हरि रह्या सकल भरपूरि।
आप पिछांणैं बाहिरा, नेड़ा ही थैं दूरि ॥ 6 ॥ 796

पिछाणि (508, 637) **बाहिरा** (516, 696) **आप पिछाड़ैं बाहिरा**= बिना आत्मा (हरि) के जाने=बिना परिचय।

कबीर तिणकैं औल्है राम है, परबत मेरे भाइ।
सतगुर मिलि परचा भया, तब हरि पाया घट मांहि ॥ 7 ॥ 797

भावार्थ : कबीर कहते हैं सतगुरु परिचय कराता है उस अव्यक्त ब्रह्म से और तभी वह दूर पर्वत की ओट में नहीं निकट (अपने भीतर) ही दिखाई देता है—तृण ओट, पहाड़ ओट। ओल = ओट। 'आँख ओट पहाड़ ओट।' मेरे भाइ (516)

मन रे मनहीं उलटि समाना।
गुर प्रसादि अकल भई ताकौं, नहींतर था बेगानां।
नेरे थैं दूरि दूर थैं नियरा, जिनि जैसा करि जाना। 8 गौड़ी

कबीर राम नाम तिहुँलोक मैं, सकल रह्या भरपूरि।
यहु चतुराई जाउ जलि, खोजत डोलैं दूरि ॥ 8 ॥ 768

भावार्थ : कबीर का कथ्य है वह राम तो सर्वत्र है लेकिन, हम अनुभव नहीं करते अपनी चतुरता (तर्क) अविश्वास के कारण और उसे पर्वतों में, मन्दिर में, मसजिद में खोजते फिरते हैं। ऐसी चालाकी जल जाय, नष्ट हो।

कबीर ज्यूं नैनौ मैं पूतली, त्यूं खालिक घट माँहि।
मूरख लोग न जाणहीं, बाहरि ढूंढण जाँहि ॥ 9 ॥ 769

भावार्थ : मनुष्य अपने को देख नहीं पाता—जैसे नेत्र मे पुतली है पर उसे हम देख नहीं पाते यद्यपि उसी के द्वारा हम देखते हैं; उसी प्रकार हमारे भीतर ब्रह्म है पर हम देख नहीं पाते। **पूतली** < प्रा० पुत्तली सं० पुत्तलिका; **खालिक** (अरबी) = ईश्वर। □

54. निंद्या कौ अंग

कबीर लोग बिचारा नींदई, जिनह न पाया ग्यान।
राम नाम राता रहै, तिनहँ न भावै आन ॥ 1 ॥ 770

भावार्थ : कबीर नकारात्मक भावों का कारण सकारात्मक भावों का अभाव बताते हैं—निंदा एक विध्वंसात्मक ईर्ष्यापरक भाव है। जो अज्ञानी है जिसे ब्रह्मज्ञान नहीं वही निंदक होता है। यदि मनुष्य राम नाम में लौ लगावे तो उसका ध्यान पराए के दोषपर नहीं जायगा। भावै (461,485) बिचारा (504) अज्ञानी, नि सहाय।

कबीर दोष पराये देखि करि चल्या हसंत हसंत।
अपने च्यंति न आवहीं, जिनकी आदि न अंत ॥ 2 ॥ 771

भावार्थ : मनुष्य अपने दोषो की चिंता नहीं करता—जिसका आदि अंत नहीं—दूसरों के दोषों पर हँसता है।

च्यंति न आवहीं = चिंता नहीं होती, परवाह नहीं होती। **चिन्ता** < चिंत; पुरानी गुजराती चिंता (41, 564, 565)।

कबीर न्यंदक नेड़ा राखिये, आंगंण कुटी बंधाइ।
बिन सावण पांणी बिना, निरमल करै सुभाइ ॥ 3 ॥ 772

भावार्थ : कबीर निंदक (छिद्रान्वेषी) की निंदा करते हुए कहते हैं कि उसे निकट रखे—उससे विक्षिप्त न हों, उसके निमित्त पास में हो कुटी बनवा दें। लाभ होगा कि आप अपने भीतर झाँककर अपना दोष खोजकर उसे निर्मूल कर सकेंगे—आपका हृदय सहज ही निर्मल होगा, एतदर्थ सावन (श्रावण) का पानी (वर्षा) अपेक्षित नहीं।

कबीर न्यंदक दूरि न कीजिये, दीजै आदर मान।
निरमल तन मन सब करै, बकि बकि आंनहिं आंन ॥ 4 ॥ 773

भावार्थ : ऊपर की साखी की ही बात यहाँ भी है निंदक को दूर न करें, उसका निरादर न करें—संत को किसी से बैर-घृणा नहीं। निंदक हमारी सेवा करता है, हमें निर्मल बनाने में सहायक होता है। बकि, बकना* बक्क् प्रा० बक्कर, बकबक करना। आंनहि आन=अन्य-अन्य, इधर-उधर की, अयथार्थ।

कबीर जे कोइ नींदै साध कूं, संकुटि आवै सोइ।
नर्क माँहि जामैं मरै, मुकति न कबहुं होइ ॥ 5 ॥ 774

भावार्थ : साधु का निंदक संकटग्रस्त होता है उसे मुक्ति नहीं। वह नर्क में पड़ता है। नरक में जन्मता-मरता है अर्थात् कभी मुक्ति नहीं।

कबीर घास न नींदिये, जो पाऊँ तलि होइ।
उड़ि पड़ै जे आंख मैं, खरा दुहेला होइ ॥ 6 ॥ 775

भावार्थ : निंदा एक दुर्गुण है—दोष देखनेवाला नकारात्मक दृष्टि रखता है इससे वह प्रसन्नता जानता ही नहीं। कबीर का कहना है निंदा का स्वभाव न पड़े इसका ध्यान रखे—घास (तृण) तुच्छ होने पर निंदायोग्य नहीं; वह भी समर्थ हैं—आँख में पड़ जाय तो अत्यंत कष्टप्रद दुहेल (676) खर 730

कबीर आपणपौ न सराहिये, पर नींदिये न कोइ।
अजहुँ लम्बे द्योहड़े, जाणौं क्या होइ ॥ 7 ॥ 776*

भावार्थ : कबीर का कथन है परनिंदा नहीं—पता नहीं भविष्य में क्या हो अभी बहुत लंबा दिन है—लंबी यात्रा है। जीवन के दिन बहुत हैं। अतः न अपनी प्रशंसा और न परनिंदा—निरपक्ष भाव, समताभाव। आपणपौ (360)। सराहना करना < श्लाघते, श्लाघ्, प्रा० सलाहइ गु० सराहवुं द्योहड़े (2,269) < दिवस प्रा० दिहाड़ो; देवहुरे 417 मधुमा०।

कबीर आपणपौ न सराहिये, और न कहिये रंक।
ना जाणौं किस ब्रिष तलि, कूड़ा होइ करक ॥ 8 ॥ 777

भावार्थ : ऊपर की साखी का भाव यहाँ भी—अपनी प्रशंसा नहीं, और न दूसरे को रंक=दरिद्र कहें। कल क्या होगा क्या पता है—किस वृक्ष के नीचे गाड़ा जाऊँ, मेरी हड्डी कहाँ कूड़ा होगी, क्या पता? सृष्टि में सभी का अपना-अपना मूल्य है।

---

* ना० प्र० स० संस्करण में यह साखी नहीं है, डॉ० गुप्त की 'कबीर-ग्रंथावली' में है।

कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोइ।
आप ठग्यां सुख ऊपजै, और ठग्या दुख होइ ॥ 9 ॥ 778

भावार्थ : कबीर शुद्ध-निर्मल जीवन के पुजारी हैं--किसी को ठगना कुकृत्य है इसलिए कभी चतुराई--छल से धोखा न दो किसी को। ठगोगे तो दुःख उठाना पड़ेगा--अशांति मिलेगी, यदि ठगा गए तो शांति, कोई कष्ट-अनुताप नहीं। ठगना <प्रा० ठग।

कबीर अब के जे साईं मिलै, तौ सब दुख आषौं रोइ।
चरनूं ऊपरि सीस धरि, कहूं ज कहणा होइ ॥ 10 ॥ 779

भावार्थ : कबीर की भक्ति अनन्य है राम स्वामी के प्रति--उन्हें दुख है कि अभी तक मन निर्मल नहीं संशय--भ्रम से इसीलिए वे कहते हैं कि राम मिलें तो उनके चरणों में लोट जाऊँ और जीभर रोऊँ और (कहूँ) अपनी बात। तुल० 751, 768 □

55. निगुणां कौ अंग

कबीर हरिया जाणैं रूँषड़ा, उस पाणी का नेह।
सूका काठ ना जांणई, कबहूं बूठा मेह ॥ 1 ॥ 780

भावार्थ : कबीर साखित (हरि विमुख) को काठ-कठोर मानकर कहते हैं कि उस पर हरिरस की वर्षा का प्रभाव नहीं उस रस को तो हरा रूख (भक्त) ही जानता है जो उससे प्रफुल्लित होता है। रूंख (329) बूठा (294) मेह <मेघ सूका 563

कबीर झिरमिरि झिरमिरि, बरषिया पाँहण ऊपरि मेह।
माटी गलि सैंजल भई, पाँहण वोही तेह ॥ 2 ॥ 781

भावार्थ : उपर्युक्त साखी का ही भाव इसमें भी--जो भक्त नहीं वह पाहण जैसा कठोर निष्प्राण है उस पर सतत वर्षा (रामरस) का भी प्रभाव नहीं--माटी गलकर जलयुक्त हो जाती है पर पत्थर ज्यों का त्यों। पाहण (पं०) <पाषाण।

कबीर पारब्रह्म बूठा मोतिया, घड़ बांधी सिखराह।
सगुरां सगुरा चुणि लीये, चूक पड़ी निगुराह ॥ 3 ॥ 782

भावार्थ : कबीर का कथ्य है कि परमात्मा शिखर पर मोतियों को--गुणों की, दैवीभावों की वर्षा करता है। जो उसके पाने के पात्र हैं, जिनके भीतर गुरु के माध्यम से ज्योति जग चुकी है वे उस वर्षा का लाभ उठाते हैं और जिनके भीतर तम है, जो गुरुहीन हैं वे उसका लाभ नहीं उठा पाते।

कबीर हरि रस बरषिया, गिर डूंगर सिखराह।
नीर निवाणां ठाहरै, नऊँ छापरड़ाँह ॥ 4 ॥ 783

भावार्थ : उपर्युक्त साखी का ही भाव--हरि रस अथवा देवीगुणों की वर्षा पर्वत-शिखर पर होती है--पर वह जल केवल सुपात्र ही ग्रहण कर पाता है जहाँ आवरण है

अवरोध है वहाँ जल कैसे पहुँचे—वर्षा का जल निपान = जलाशय में ही एकत्र होता है छप्पर पर नहीं। निवाण < निपान।

कबीर मूंढ करमियाँ, नख सिख पाषर ज्याँह।
बाहणहारा क्या करै, बाण न लागै त्याँह ॥ 5 ॥ 784

भावार्थ : इस साखी में भी कबीर आवरण - छल या चतुराईरहित होने की बात करते हैं—मूर्ख पाखर = कवच डाले रहता है छल का जिससे गुरु की बानी नहीं भेद पाती। जब तक आवरण नहीं दूर होगा तब तक बाण चलानेवाले गुरु की बात कहाँ ओधेगी। अतः भक्तिभाव के लिए कोई भी कवच नहीं चाहिए।

'अस बिनु पाखर गज बिनु गुड़िया, बिनु षडै संग्रामहि जुड़िया।' कबीर पाखर < पक्खर प्रा० सं० प्रक्षर = घोड़े-हाथी का लोहे का झूल करमिया < प्रा० कम्मिअ = बुरा काम करने वाला < कर्मिन्।

कहत सुनत सब दिन गए, उरझि न सुरझ्या मन।
कहि कबीर चेत्या नहीं, अजहुँ सुपहला दिन ॥ 6 ॥ 785

भावार्थ : कबीर निर्गुणी, आलसी, अकर्मण्य को चेतावनी दे रहे हैं—अभी भी स्वप्निल दिन हैं, तुम्हारे अभी भी सोए हुए हो—सारा जीवन भ्रम-संशय में बीत गया और हरि से प्रीति नहीं जोड़ी—उलझा हुआ मन सुलझा नहीं (356, 545)।

कहै कबीर कठोर कै, सबद न लागै सार।
सुधबुध कै हिरदै भिदै, उपजि बमेक बिचार ॥ 7 ॥ 786

भावार्थ : कबीर कहते हैं सद्विचार विवेक उसी के हृदय में उत्पन्न होते हैं जो सुध = शुद्ध है, बुध < बुद्ध है। जिसका हृदय पाषाणवत् कठोर है उसे शब्द = गुरु का बानी का सार नहीं ग्रहण होगा, रामनाम का सार नहीं समझ में आवेगा।

कबीर सीतलता कै कारणैं, नाग बिलंबे आइ।
रोम रोम विष भरि रह्या, अमृत कहाँ समाइ ॥ 8 ॥ 787

भावार्थ : कबीर हरि-विमुख को नाग की भाँति बिष भरा मानते हैं क्योंकि उसका मन विषय में लगा है। सर्प चन्दन की शीतलता के लिए उससे लिपटता है पर उसमें अमृत कहाँ से समावे? अमृत है हरिभक्ति। बिलंबे (745, 347) 'रसोऽमृतं ब्रह्म'।

कबीर सापै दूध पिलाइये, दूधै बिष ह्वै जाइ।
अैसा कोई नां मिलै, स्यूं सापै बिष खाइ ॥ 9 ॥ 788

भावार्थ : कबीर दुष्टों को, हरि-विमुखों को सर्प सदृश बताकर कहते हैं कि दुष्ट अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता उसे दूध पिलावें तो वह भी विष हो जाता है। इसी प्रकार कठोर हृदयवाले को भक्तिरस दें तो वह भी विष हो जायगा—सर्प (दुष्ट, मलिन हृदयवाला) का विष खाने या नष्ट करने वाला कोई नहीं।

कबीर जालौं इहै बड़पणां, सरलै पेड़ि खजूरि।
पंखी छांह न बीसवै, फल लागैं ते दूरि ॥ 10 ॥ 789

भावार्थ : कबीर बड़प्पन-बड़ाई की निन्दा करते हैं वे इस गुण को दोष मानते हैं क्योंकि यह अहंकार का मूल है—खजूर का पेड़ बड़ा है पर उससे किसका हित, छाँह नहीं और फल दूर। बीसवै<विश्रमते (श्रम्) अप० विसवइ=आराम करता है।

कबीर ऊँचा कुलकै कारनै, बंस बध्या अधिकार (हंकार)।
चंदन बास भेदै नहीं, जाल्या सब परिवार ॥ 11 ॥ 790

भावार्थ : कबीर का कहना है ऊंचे कुल में जन्म लेने से कोई ऊँचा नहीं—ऊँचा तो बाँस है पर बड़प्पन से अहंकार बढ़ गया है उसपर चन्दन के बास (<वास=गंध) का प्रभाव नहीं पड़ता। बांस (रगड़ से) जलकर अपना परिवार स्वयं नष्ट करता है।

कबीर चंदन कै बिड़ै, नींव भि चदन होइ।
बूड़ा बंस बड़ाइतां, यूं जिनि बूड़ै कोइ ॥ 12 ॥ 791

भावार्थ : इस साखी में भी ऊपर की साखी की बातें हैं, बांस बड़ा है पर उस पर प्रभाव नहीं पड़ता चन्दन की सुगंध का। कवि-समय है कि नीम यदि चन्दन वृक्ष के पास हो तो वह भी चन्दन की गंध ग्रहण कर लेता है पर बांस नहीं। चन्दन में सर्प लपटते हैं यह भी कविसमय ही है। बांस लंबा-ऊँचा-बड़ा होता है इसी सादृश्य पर यह उक्ति है।
बिड़ै<विटप (484) बूड़ै<बुड्डइ=डूबना (विनष्ट होना) 457 जिनि 489।

56. बीनती कौ अंग

[सं० विनति=प्रार्थना। बिनती में दैन्य भाव है, सेवक भाव है।]

कबीर साइं तौ मिलहिंगे, पूछहिंगे कुसलात।
आदि अंत की कहूँगा, उर अंतर की बात ॥ 1 ॥ 792

भावार्थ : कबीर साईं के प्रति सर्मपित हैं—वे मानते हैं कि वह अपने दास के कुशल क्षेम की चिन्ता रखता है—जब भी मिलेगा पूरी बात अपने मन की—अपनी दुर्बलताओं की कह दूँगा। पूछना<पृच्छति प्रच्छ् सं० पृच्छ>प्रा० पुच्छा=पूछा।

कबीर भूलि बिगाड़िया, तू नां कर मैला चित्त।
साहिब गरवा लोडिये, नफर बिगाड़ै नित्त ॥ 2 ॥ 793

भावार्थ : स्वामी-सेवक भाव का अंकन है—नफर (अरबी)=दास। सेवक भूल करता है, बिगाड़ता है पर स्वामी! तुम इससे अपना मन मत मैला करो। उससे तो भूल होती ही है। साहब गरुव है (सा० 14) वह तो सेवक को

प्यार करता ही है। लोडना = लाडना < लाडयति = प्यार करता है; लाडयते = चाहता है लड् । बिगाड़ना < विघाटयति, मैला < प्रा० मलि, मैल ने० मैलो। भूल < प्रा० भुल्ल । 'भूलै भरमि मरै जनि कोई ।' 2 सोरठि

कबीर करता केरे बहुत गुण, औगुण कोई नांहि ।
जे दिल खोजौं आपगा, तौ सब औगुण मुझ मांहि ॥ 3 ॥ 794

भावार्थ : कर्ता = परमेश्वर गुणी है उदार है उसमें दोष कहाँ ? जो दोष हैं, अवगुण हैं वे मुझ दास में हैं। खोजौं (764) आपणा (360) मुझ प्रा० मज्झ < मह्यम् ।

कबीर औसर बीता अलपतन, पीव रह्या परदेस ।
कलंक उतारौ केसवा, भानौ भरम अंदेस ॥ 4 ॥ 795

भावार्थ : कबीर अपने को पतिव्रता नारी सदृश मानकर बिनती करते हैं कंत से—मैं अवसर गंवा चुकी---पिय परदेश में, इस बीच जो भूल भ्रम हो, कलंक हो उसे उतारो, दूर करो। अलपतन < अल्प + तन = क्षणिक जीवन । बीता प्रा० वित्त < वृत्त । उतारै (671) *उत्तारयति (750) भानना < भञ्ज् = नष्ट करना । अंदेस फा० अंदेशः = भय, शंका ।

कबीर करत हैं बीनती, भौसागर के तांई ।
बंदे ऊपरि जोर होत है, जम कौं बरजि गुसाईं ॥ 5 ॥ 796

भावार्थ : कबीर दास यम की यातना से त्रस्त हैं—भौ सागर या आवागमन यम की ही देन है। इससे पार होने के लिए साईं से बिनती। यम का जोर = जुल्म । बर-जना = मना करना (वर्जयति वृज् = मोड़ना।) वर्जित प्रा० वज्जिअ ।

हज काबै ह्वै ह्वै गया, केती बार कबीर ।
मीरा मुझमें क्या खता, मुखां न बोले पीर ॥ 6 ॥ 797

केती = कितनी (491) बार < वार (2) मुखा न बोलें = प्यार से नहीं बोलता है। खता, अरबी खता = पाप, दोष, अपराध । कबीर अपनी निर्मलता और सचाई बता रहे हैं साथ ही तत्कालीन धर्मों की रूढ़िवादिता पर टिप्पणी कर रहे हैं। पीर (141, 514) = खुदा, ईश्वर ।

कबीर ज्यूं मन मेरा तुझ सूं, यूं जे तेरा होइ ।
ताता लोहा यूं मिलै, संधि न लखई कोइ ॥ 7 ॥ 798

भावार्थ : कबीर अद्वैतता की बात कर रहे हैं---मेल ऐसा हो जैसा गरम किया लोहा का दो टुकड़ा गलकर एक हो जाता है, उसकी जोड़ नहीं जान पड़ती है। लखना < लक्ष् ।

57. साषीभूत कौ अंग

[साक्षी भाव से रहना—सांसारिक विषयों को देखना पर उनसे न्यारा रहना जैसे परमात्मा सृष्टि का निर्माण कर साक्षी भाव से रहता है ।]

कबीर पूछै राम कूं, सकल भवनपति राइ ।
सब हीं करि अलगा रहौ, सो बिधि हमहिं बताइ ।। 1 ।। 799

भावार्थ : परमात्मा साक्षी है जो कुछ हो रहा है इस सृष्टि में पर उससे वह लिप्त-लग्न नहीं, अलग है । वह निर्माणकर्ता व्याप्त होकर भी उससे अलग । यही विधि मनुष्य को जाननी चाहिए कि संसार में रहकर अनासक्ति, असंगता । उस भुवनपति, जगत्पति से कबीर यही ज्ञान लेना चाहते हैं । सारी साधना का फल है एक होकर भी अलग । यह ज्ञान गुरु अथवा कृपानिधि राम ही दे सकता या बता सकता है । उसकी कृपा से ही यह सम्भव है—प्रयास से नहीं । कर्म करते हुए असंगता ।

विवृति : पूछै = पूछता है (792) अलग (अ + लग्न) बताइ (482), रहौ = रहते हो 305 'विषया सूं न्यारा रहै, संतनि कौ अंग एह ।' 494

कबीर जिहि बरियाँ साईं मिलै, तास न जांणै और ।
सब कूं सुख दे सबद करि, अपणी अपणी ठौर ।। 2 ।। 800

भावार्थ : कबीर की रहस्यवादी पंक्तियाँ हैं यह—प्रियतम एकांत में सब से मिलता है । कबीर का साईं सर्वत्र व्याप्त है, सब का प्रिय है, सबसे रमता है—कृष्ण गोपियों से एक होकर अलग-अलग रमते थे वही भाव है यहाँ । गोपी भाव है गोब्यंद के प्रति कबीर का ।

विवृति : बरियाँ < वेला (345, 413), और (450) सबदकरि = बोलकर । अपणी प्रा० अप्पण < आत्मन् । ठौर 718

कबीर मन का बाहुला, ऊंडा बहै असोस ।
देखत ही दह मैं पड़ै, दई किसाकौं दोस ।। 3 ।। 801

भावार्थ : कबीर मन की चंचलता का अंकन कर रहे हैं—मन एक बाहा (नाला) सदृश है, जो गहरा है और न सूखनेवाला; बाहे की भांति नीचे को भागता है—जहाँ भी गहरा जलाशय मिला वहीं गिरता है । अर्थात् मन को मारना कठिन है ।

बाहुला (राज०) = बाहा, वह् = बहना । ऊंडा < प्रा० उंड, उंडय = गहरा मार० ऊंड़ो गु० ऊंडो (ऊंडै 480) असोस = जो न सूखे—(शोष = सूखना) शुष् । दह < ह्रद = गहरा जलाशय ।

58. बेलि कौ अंग

[बेलि का आशय (1) 'राम गुन बेलड़ी रे' (2) सांसारिक बेल ।]

अब तौ ऐसी ह्वै पड़ी, नां तूंबड़ी न बेलि।
जालण आँणी लाकड़ा, ऊठी कूंपल मेल्हि ॥ 1 ॥ 802

भावार्थ : कबीर का रहस्यवाद अनुभव पर आधारित है। वे अपने को मुक्त समझ कर कहते हैं अब तूंबड़ी और बेलि अर्थात् सांसारिक विषय समाप्त हैं। अब तो राम कृपा से जालन (जलाने के लिए सूखी लकड़ी) भी कोंपल ले रही है अर्थात् सर्वत्र आनंद।

विवृति : तूंबड़ी < तुम्बी = कड़वी तुम्बी = लौकी । बेलि < वेल्लिः । **कूंपल** प्रा० कुप्पल, कुंपल = कली गु० कोपलो = नई पत्तियाँ, पल्लव सं० कुड्पल, कुट्पल । **कूंपल ऊठी मेल्हि** = नई नई पत्तियाँ निकल आईं **मेल्हि** प्रा० मेल्लइ, मिल्हइ, पु० मार० मेलइ = रखना गु० मेलवु सं० मेलयति = मिलाता है।

कबीर आगै आगै दौं जलै, पीछै हरिया होइ।
बलिहारी ता ब्रिष की, जड़ काट्यां फल होइ ॥ 2 ॥ 803

भावार्थ : यहाँ भी ऊपर का अनुभव है---परमात्मा रूपी वृक्ष सदा अनन्त फल देने वाला है, जड़ काटने से (माया मुक्त होने से) वह फल देता है---संसार की दावाग्नि जलती है और परमार्थ का वृक्ष हरा भरा होता है। तुल० 732 हरिया < हरित प्रा० हरिय = हरा, पीछै 657 बलिहारी; बलि (सं०) = धार्मिक समर्पण, प्रा० बलि (2,477, 491) । जड़ < जटा, प्रा. जडा ।

कबीर जे काटौं तौ डहडही, सींचौं तो कुमिलाइ।
इस गुणवंती बेलि का, कुछ गुण कह्या न जाइ ॥ 3 ॥ 804

भावार्थ : यहाँ भी रहस्यवादी उलटवांसी है—यह गुणवंती बेल विचित्र है, सांसारिक विषयों को जितना ही नष्ट करो उतनी ही यह राम बेल बधती-लहलहाती है। विषयों के संयोग से तो यह मुरझाती है। **कुमिलाइ** (329,704) **सींचना** (329) **गुणियाले** कंत 193

कबीर त्रिस्नां सींची ना बुझै दिन दिन बधती जाइ।
जवासा के रूष ज्यूं, घण मेहा कुमिलाइ ॥ 329

कबीर आंगणि बेलि अकासि फल, अणब्यावर का दूध।
ससासींग की धुनहड़ी, रमैं बाँझ का पूत ॥ 4 ॥ 805

भावार्थ : यह साखी भी उस अनन्त-अविनाशी की महिमा में ही है—इसका फल आकाश में है (परम वृक्ष स्वर्ग में है), यह कहीं से जन्मना नहीं; इसलिए बिना ब्याई का दूध है, यह शशक की सींग (खरहे को सींग होती ही नहीं) की धुनही < (धनुष) है। बाँझ को पुत्र होना संभव नहीं अर्थात् वह अजन्मा अविनाशी, अविकारी है।

कबीर कड़ुई बेलड़ी, कड़वा ही फल होइ।
सींध नांउ तब पाइये, जे बेलि बिछोहा होइ ॥ 5 ॥ 806

भावार्थ : कबीर सांसारिक बेलि की बात कह रहे हैं—यह कड़वी है। इसका फल भी कड़ुआ है। सींधु (सीधु) अर्थात् सुगंध युक्त आसव या मदिरा तब बनेगी जब सांसारिक बेलि का अस्तित्व विनष्ट होगा। विषयों से विमुख होने पर ही परमगंध।

कबीर सींध भई तब का भया, चहुँदिसि फूटी बास।
अजहूँ बीज अंकूर है, भी ऊगण की आस ॥ 6 ॥ 807

भावार्थ : कबीर कहते हैं सीधु बन जाय और उसकी तेजगंध फूट भी पड़े पर यह न समझे कि मुक्त हो गया क्योंकि यह मन फिर गड्ढे में गिर सकता है—अब भी सांसारिक संस्कार के बीज हैं अतः भी भी मनुष्य विषयों के चपेटे में आ सकता है। 'अंकुर बीज नसानां।' 7 गौड़ो। सींध<सीधु=मदिरा। ऊगण (ऊग्या 704) □

59. अबिहड़ कौ अंग

कबीर साथी सो कीया, जाकै सुख दुख नांहीं कोइ।
हिलि मिलि ह्वै करि खेलिस्यूं, कदे बिछोह न होइ ॥ 1 ॥ 808

भावार्थ : कबीर की भक्ति दासभाव, सखाभाव, पत्नीभाव सभी है—उनका कहना है मेरा साथी-संगी-दोस्त केवल वही है जो दुःख सुख से परे है—जो गुणातीत है। उस अविनाशी के साथ मैं सदा रमता हूं जिससे बिछोह की संभावना नहीं।

विवृति : साथी (209,563)<प्रा० सात्थिअ, पा० सात्थिक<सार्थिक, सार्थ। कदे न 'उस संम्रथ का दास हौं कदेन होइ अकाज।' 209 बिछोह<विक्षोभ, प्रा० विच्छोह=वियोग, क्षुभ् खेलस्यूं=खेलता है प्रा० खेलइ, खेल्लइ, खेलइ। हिलमिल=हिलमिल, पं० हेलमेल*हिल्ल=युक्त, मिल-जुलकर।

कबीर सिरजनहार बिन, मेरा हितू न कोइ।
गुणि औगुणि बिहड़ै नहीं, स्वारथबंधी लोइ ॥ 2 ॥ 809

भावार्थ : कबीर उस सिरजनहार भुवनपति की स्तुति में कह रहे हैं कि वह संसार की भाँति स्वारथबंधो नहीं वह गुणातीत है। गुण-अवगुण के प्रभाव से परे वही मेरा हितैषी है बाकी सब स्वार्थ में बंधे। बिहड़ै<प्रा० विहड विहडिअ सं० विघटित। बिहडण<बिघटन।

आदि मधि अरु अंत लौं, अबिहड़ सदा अभंग।
कबीर उस करतार का, सेवग तजै न संग ॥ 3 ॥ 810

भावार्थ : परमात्मा की स्तुति में कबीर कहते हैं कि वह सदा अबिहड़ (अ+विघटित) =अभंग, है; उस पर गुण-अवगण का प्रभाव नहीं। ऐसे स्वामी का सेवक है कबीर। उस स्वामी का न आदि है, न मध्य और न अंत—सदा एक समान; एक रूप। □

सूक्त

अनभै— अमृत बरसै हीरा निपजै, घंटा पड़ै टकसाल।
कबीर जुलाहा भया पारषू अनभै उतरया पार ॥ 169

अभिमान— दीन गरीबी दीन कौं, दूंदर कौं अभिमान।
दुंदर दिल विष सूं भरी, दीन गरीबी राम ॥ 630

अलष— नींव बिहूँणा देहुरा, देह बिहूँणां देव।
कबीर तहाँ बिलंबिया, करै अलष की सेव ॥ 163

आपा— आपा मेट्या हरि मिलै, हरिमेट्या सब जाइ।
अकथ कहाणी प्रेम की, कह्या न को पत्याइ ॥ 628

आसा-निरासा— आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास।
पांणी माहैं घर करै ते भी मरैं पियास ॥ 203

उगना-अस्त होना— जो ऊग्या सो आथवैं, फूल्या सो कुमिलाइ।
जो चिणियां सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ ॥ 504
जपतप दीसै थोथरा, तीरथ ब्रत बेसास।
सूवै सेंबल सेविया, यौं जग चल्या निरास ॥ 433

एक— कबीर एक न जाणियां, तौ बहुजाण्यां क्या होइ।
एक तैं सब होत हैं, सब तैं एक न होइ ॥ 201

कथणीं-करणीं— कथणीं कथी तौ क्या भया, जे करणी नां ठहराइ।
कालबूत के कोट ज्यूं, देषत ही ढहि जाइ ॥ 369
जैसी मुख सैं नीकसै, तैसी चालै नाहिं।
मानिष नहीं ते स्वानगति बांध्या जमपुर जाहिं ॥ 371

कनक-कामिनी— पासि बिनंठा कापड़ा, कदे सुरांग न होइ।
कबीर त्याग्या ग्यान करि, कनक कामिनी दोइ ॥ 588

करतार— आदि अंत अरु अंतलौं, अबिहड़ सदा अभंग।
कबीर उस करतार का, सेवग तजै न संग ॥ 810

कलियुग— 'कलियुग हम स्यूं लड़िपड़्या।' 5
कबीर कलियुग आइ करि, कीये बहुत जु मीत।
जिन दिल बंधी एक सूं, ते सुख सोवै निचीत ॥ 205

काव्यात्मक— कबीर कूता रामका, मुतिया मेरा नाउं।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउं ॥ 206
जा कारणि मैं ढूंढ़ता सनमुख मिलिया आइ।
धन मैलो पिव ऊजला, लागि न सकौं पाइ ॥ 188
थापणि पाई थिति भई सतगुर दीन्हीं धीर।
कबीर हीरा बणजिया, मानसरोवर तीर ॥ 29

कबीर रेख सिंदूर की, काजल दिया न जाइ।
नैननि रमइया रमिरह्या, दूजा कहाँ समाइ ॥ 196

कबीर सीप समंद की, रटै पियास पियास।
समदहि तिण का बर गिणै स्वाति बूंद की आस ॥ 197

नैना अंतरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झपेउं।
नां हौं देखौं और कूं नां तुझ देखन देउं ॥ 194

कुल—
ऊँचे कुल का जनमियाँ, जे करणी ऊँच न होइ।
सोवन कलस सुरे भर्‌या, साधू निंद्या सोइ ॥ 269

घायल—
सारा सूरा बहु मिले, घाइल मिले न कोइ।
घाइल ही घाइल मिले, तब राम भगति दिढ़ होइ ॥ 646

चतुराई—
चतुराई हरि नां मिले, ए बातां की बात।
एक निस्प्रेही निरधार का, गाहक गोपीनाथ ॥ 458

चतुराई सूवै पढ़ी सोई पंजर माँहि।
फिरि प्रमोधै आन कौं, आपण समझै नाँहि ॥ 360

जीवत मुकति—
मैमंता अविगतरता, अकलप आसा जीति।
राम अमलि माता रहै, जीवत मुकति अतीति ॥ 176

दीपक—
दीपक दीया तेलभरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणा, बहुरि न आवौं हट्ट ॥ 12

पीछै लागा जाइ था, लोकवेद के साथि।
आगै थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥ 11

कबीर जब मैं था तब हरि नहीं, जब हरि हैं मैं नाँहि।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि ॥ 157

दुख-सुख—
कबीर सुख को जाइ था, आगै मिलिया दुक्ख।
जाहि सुक्ख घर आपणैं हम जाणैं अरु दुक्ख ॥ 198

ममिता मेरा क्या करै, प्रेम उघाड़ी पौलि।
दरसन भया दयाल का सूल भई सुख सौड़ि ॥ 170

कबीर साथी सो किया, जाकै सुख दुख नाहीं कोइ।
हिलि मिलि ह्वै करि खेलिस्यूं, कदे बिछोह न होइ ॥ 808

जाको दिल में हरि बसैं, सो नर कलपै कांइ।
एकै लहरि समंद की, दुख दारिद सब जाइ ॥ 577

दोजख / भिस्त
दोजख तौ हम अंगिया, यहु डर नाहीं मुझ।
भिस्त न मेरे चाहिये, बाझ पियारे तुझ ॥ 199

पुरुष—
उस संम्रथ का दास हौं, कदे न होइ अकाज।
पतिब्रता नांगी रहै, तौ उस ही पुरिस कौं लाज ॥ 209

"कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं पुरिख एक अबिनासी ।" 1 पौड़ी

प्रीति—
सतगुर लई कमांण करि, बाहंण लागा तीर ।
एक जु बाह्या प्रीति सूं, भीतर रह्या सरीर ।। 6
कबीर पढ़िबा दूरि करि, आथि पढ़्या संसार ।
पीड़ न उपजो प्रीति सूं, तौ क्यूं करि करै पुकार ।। 376
मैं जान्यूं पढ़िबौ भलौ, पढ़िबा थै भलो जोग ।
राम नाम सूं प्रीति करि भल भल नींदौ लोग ।। 374

प्रेम—
प्रेम न खेतौं नीपजै प्रेम न हाट बिकाइ ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ ।। 673
सुरति ढीकुली लेज ल्यौ, मन नित ढोलनहार ।
कवंल कुवाँ मैं प्रेमरस जोवै बारंबार ।। 791
मन प्रतीति न प्रेमरस, नां इस तन मैं ढंग ।
क्या जाणौं उस पीव सूं, कैसे रहसी रंग ।। 208
कबीर बादल प्रेम का, हम पर बरष्या आइ ।
अंतरि भीगी आत्मा, हरी भई बन राइ ।। 34
कबीर यह घर प्रेम का, खाला का घर नांहि ।
सीस उतारै हाथ करि, सो पैसे घर मांहि ।। 671
पासा पकड़्या प्रेम का सारी किया सरीर ।
सतगुर दांव बताइया, खेलै दास कबीर ।। 32

बिसारना—
जेते तारे रैंणि के, तेते बैरी मुझ ।
धड़ सूली सिर कंगुरै, तऊ न बिसारौं तुझ ।। 684
कबीर गुर बसै बनारसी, सिष समंदां तीर ।
बिसार्‌या नहीं बीसरै, जे गुण होइ सरीर ।। 350

बिस्वास—
गाया तिनि पाया नहीं, अणगाया थैं दूरि ।
जिनि गाया बिसवास सूं, तिन राम रह्या भरपूरि ।। 580

बूंद-समंद—
हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ ।
बूंद समानी समंद मैं, सो कत हेरी जाइ ।। 181

ब्राह्मण—
बांभण गुरु जगत का, साधू का गुरु नांहि ।
उरझि पुरझि करि मरि रह्या चारिउ बेदा मांहि ।। 356

भार—
कबीर नाव जरजरी, कूड़े खेवणहार ।
हलके हलके तिरि गये, बूड़े जिनि सिरि भार ।। 272

भाव-भावता—
कमोदनी जलहरि बसै, चंदा बसै अकासि ।
जो जाही का भावता, सो ताही कै पास ।। 649
चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन कै भाइ ।। 652

मन— कबीर मन का बाहुला, ऊंडा बहै असोस।
देखत ही दह मैं पड़ै, दई किसा को दोस ॥ 801

ममता— मन मारया ममिता मुई, अहं गई सब छूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूति ॥ 625

मांगण— मांगण मरण समान है बिरला बंचै कोइ।
कहै कबीर रघुनाथ सूं, मति र मंगावै मोहि ॥ 574

मांड— संपटि मांहि समाइया, सो साहिब नहीं होइ।
सकल मांड मैं रमि रह्या, साहिब कहिए सोइ ॥ 581
रहै निराला मांड थैं, सकल मांड ता माहि।
कबीर सेवै तास कूं, दूजा कोई नांहि ॥ 582

माया— सेवै सालिगराम कूं, माया सेती हेत।
बोढ़ें काला कापड़ा, नांव धरावै संत ॥ 432

मेर— मेर मिटी मुकता भया, पाया ब्रह्मबिसास।
अब मेरे दूजा को नहीं, एक तुम्हारी आस ॥ 576
मेर नीसाणीं मीच की, कुसंगति ही काल।
कबीर कहै रे प्रांणिया बांणी ब्रह्म संभाल ॥ 467

मैं-मैं— मैं मैं मेरी जिनि करै, मेरी मूल बिनास।
मेरी पग का पैखड़ा मेरी गल की पास ॥ 271
कबीर मैं मैं बड़ी बलाइ है, सकै तौ निकसौ भागि।
कब लग राखौं हे सखी, रूई पलेटी आगि ॥ 270

रहस्यानुभूति— कबीर कवल प्रकासिया, ऊग्या निर्मल सूर।
निस अंधियारी मिटि गई, बाजे अनहद तूर ॥ 165
अनहद बाजे नीझर झरै, उपजै ब्रह्मगियान।
अविगति अंतरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान ॥ 166
कबीर जिहि बिरियां साईं मिलै, तास न जाणैं और।
सब कूं सुख दे सबद करि अपणी अपणी ठौर ॥ 800
कबीर सुपिनैं रैण कै, पारस जीय मैं छेक।
जे सोऊं तो दोइ जणां जे जागूं तौ एक ॥ 233

रामनाम— रामनाम कै पटतरै देबे कौं कुछ नांहि। 4
पाडल पंजर मन भंवर, अरथ अनूपम बास।
रामनाम सींच्या अमी, फल लागा वेसास ॥ 575
कासी कांठै घर करै, पीवै निरमल नीर।
मुकति नहीं हरिनांव बिन, यों कहै दास कबीर ॥ 365
कबीरा पढ़िबा दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ।
बांवन आषिर सोधि करि, ररै ममै चित लाइ ॥ 375

लोभ बड़ाई— कबीर अपने जीव तैं ए दोइ बातैं धोइ।
लोभ बड़ाई कारणै, अछता मूल न खोइ ॥ 251

संशय— पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनंत।
संसा खूंटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत ॥ 135

जिहि घट मैं संसै बसै, तिहिं घटि राम न जोइ।
राम सनेही दास विचि, तिणां न संचर होइ ॥ 507

संसार-ब्यौहार— यहु ऐसा संसार है, जैसा सेंबल फूल।
दिन दस के ब्यौहार कौं झूठै रंग न भूल ॥ 223

झल बावैं झल दाहिनैं, झलहि माँहि ब्यौहार।
आगैं पीछै झलमई, राखै सिरजनहार ॥ 521

सकाम-निहकाम— जब लगि भगति सकामता, तबलग निर्फल सेव।
कहै कबीर वै क्यूं मिलै, निहकामी निज देव ॥ 202

सतगुरु— 'सतगुरु सवाँ न को सगा।' 1

सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावण हार ॥ 03

सतगुर सांचा सूरिवां, तातैं लोहि लुहार।
कसणी दे कंचन किया, ताइ लिया ततसार ॥ 28

पारस कौं जे लोह छुवैगा, बिगरि बिगरि सो कंचन ह्वैगा ॥ कबीर

समर्पण— मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ तैं सो तेरा।
तेरा तुझ को सौंपता, क्या लागै है मेरा ॥ 195

ऐसा कोई ना मिले, राम भगति का मीत।
तन मन सौंपे मृग ज्यूं, सुने बधिक का गीत ॥ 638

हंस (पक्षी-आत्मा)— मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहि।
मुकताहल मुकता चुगै अब उड़ि अनत न जाँहि ॥ 161

हरि— कबीर हरि की भगति बिन, ध्रिग जीवन संसार।
धूवां करा धौलहर, जात न लागै बार ॥ 237

हरि संगति सीतल भया, मिटा मोह को ताप।
निस बासुरि सुख निध्य लह्या जब अंतार प्रकट्या आप ॥ 152

सतगुर सवां न को सगा, सोधी सई न दात।
हरि जू सवां न को हितू, हरिजन सई न जाति ॥

चारिउ बेद पढ़ाइ करि, हरि सूं न लाया हेत।
बालि कबीरा ले गया, पंडित ढूढ़ैं खेत ॥ 355

कबीर तू काहे डरै, सिर परि हरि का हाथ।
हस्ती चढ़ि नहीं डोलिये, कूकर भुसैं जु लाष ॥ 571

हलुक भारी— भारी कहौं त बहु डरौं, हलुक कहूं तौ झूठ।
मैं का जांणौं राम कूं, नैनूं कबहूं न दीठ ॥ 183